श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

पञ्चाध्यायी प्रवचन

एकादश व द्वादश भाग

प्रवक्ता:

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:

खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको
भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें ।

प्रथम संस्करण १०००] सन् १९७५ लागत [

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ
(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ, सहारनपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभावों की नामावली—

१ श्रीमान् सेठ भंवरीलाल जैन पाण्ड्या, भूमरीतिलैया
२ ,, वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, कानपुर
३ ,, कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
४ ,, सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या, भूमरीतिलैया
५ श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
६ ,, मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
७ ,, प्रेमचन्द ओमप्रकाश, प्रेमपुरी, मेरठ
८ ,, सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
९ ,, दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
१० ,, बारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
११ ,, बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
१२ ,, केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
१३ ,, सेठ गैंदामल दगडूशाह जी जैन, सनावद
१४ ,, मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
१५ श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
१६ श्रीमान् जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
१७ ,, मंत्री, जैन समाज, खण्डवा
१८ ,, बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सा
१९ ,, विशालचन्द जी जैन रईस, सहारनपुर
२० ,, बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर, इटावा
२१ श्रीमती सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जनसंघी, जयपुर
२२ ,, मंत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज, गया
२३ श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्ड्या, गिरिडीह
२४ ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी जैन,
२५ ,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,

२६ श्रीमान् सेठ फूलचन्द वैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर
२७ ,, सुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बड़ौत
२८ ,, गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा, लालगोला
२९ ,, दीपचंद जी जैन रिटायर्ड सुप्रिन्टेन्डेन्ट इंजीनियर, कानपुर
३० ,, मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी, आगरा
३१ श्रीमती संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी, ,,
३२ श्रीमान् नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, रुड़की
३३ ,, भब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चिलकाना वाले, सहारनपुर
३४ ,, रोशनलाल के० सी० जैन, ,,
३५ ,, मोल्हड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट ,,
३६ ,, बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन, शिमला
३७ ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ
३८ दिगम्बर जैनसमाज गोटे गाँव
३९ श्रीमती माता जी धनवंती देवी जैन, राजागंज, इटावा
४० श्रीमान् ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द" रुड़की
४१ ,, लाला महेन्द्रकुमार जी जैन, चिलकाना
४२ ,, लाला आदीश्वरप्रसाद राकेशकुमार जैन, ,,
४३ ,, हुकमचंद मोतीचंद जैन, सुलतानपुर
४४ ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ
४५ ,, इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर, कानपुर
४६ श्रीमती कैलाशवती जैन, ध० प० चौ० जयप्रसाद जी सुलतानपुर
४७ श्रीमान् * गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, वजाज गया
४८ ,, * बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा, भूमरीतिलैया
४९ ,, * सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन वडजात्या, जयपुर
५० ,, * बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. सदर मेरठ
५१ ,, × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, सहारनपुर
५२ ,, × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमला

नोटः—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिन नामोंके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ।।५।।

•••○○○•••

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

पंचाध्यायी प्रवचन एकादश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

इत्येवं ज्ञाततत्त्वोसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक ।
वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ।।३७१।।

ज्ञाततत्त्व, सुदृष्टि पुरुषकी आत्मदर्शिता—इस श्लोकसे पहिले तत्त्वोंका वर्णन था। ६ तत्त्वोंमें रहते हुए वह जीव अपने आपके सहजस्वरूपसे शुद्ध है, अर्थात् उन ६ पदार्थोंमें देखी जाने वाली विशेषताओंसे परे है, उस शुद्ध आत्मद्रव्यका वर्णन था और जिसके आलम्बन से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, यह वर्णन करके फिर आत्मा स्वयं ज्ञानसुख रूप है। संसारमें सर्वत्र क्लेश ही क्लेश है। यह समस्त तत्त्वोंका वर्णन करनेके बाद अब यहाँ कह रहे हैं कि जिसने इस प्रकारके तत्त्वको जाना ऐसा सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आत्माका द्रष्टा है। सम्यग्दृष्टि जीवको निरन्तर ही अपने आपकी प्रतीति रहती है, चाहे वह उपयोगसे कितना ही बाहर चला गया और बाहरी पदार्थोंमें कितना ही उपयोग लगा दिया, इतनेपर भी अपने आत्माके स्वरूप का भान उसे निरन्तर रहता है। जैसे कि मनुष्योंको प्रायः अपने नामका भान निरन्तर है। चलते-फिरते, बोलते-चालते, खाते-पीते, सोते-जागते, पूजन-वन्दन करते आदि समस्त क्रियाओं के करते हुए सर्वत्र अपने नामका भान रहता है। सोते हुएमें भी अगर कोई धीरेसे नाम लेकर भी कुछ कह रहा हो तो वह जग जाता है। किसी दूसरेका नाम लेकर चाहे जोरसे भी कहा जाय, पर नहीं जगता, तो बात वहाँ यही है कि अपने नामका भान इसे निरन्तर रहता है। कोई मनुष्य भोजन कर रहा हो, मान लो खूब चित्त एकाग्र करके बहुत ही मस्त होता हुआ भोजन कर रहा हो तो वहाँ यद्यपि उसका अपने नामकी ओर उपयोग नहीं है, उपयोग तो लगा है भोजनकी ओर, फिर भी उसको उस समय भी अपने नामका भान बराबर बना हुआ है। ठीक इसी प्रकारसे इस एक ज्ञायकस्वभावी निज आत्मतत्त्वका जिन्होंने दर्शन किया, उनका उपयोग बाहरमें कितनी ही जगह लग जाय फिर भी उन्हें अपने आत्मस्वरूपका भान निरन्तर बना रहता है। इस मर्मको न जानने वाले लोग बहुतसी शंकायें कर सकते हैं। देखिये—

रामचन्द्रजी सीताजी के वियोगमें कितना विह्वल रहे, लक्ष्मणके मरण हो जानेपर ६ माह तक कितना विह्वल रहे, लेकिन इतनी विह्वलतायें होनेपर भी श्रीरामको अपने आत्मस्वरूपका भान बराबर बना हुआ था, इस बातकी सिद्धिके लिए उस सोये हुए व्यक्तिका ही दृष्टान्त काफी है। तो प्रयोजन यह है कि जिसकी जिस ओर धुन लग गयी, जिसका यह निर्णय हो गया कि यह मैं हूं और मेरी यह सुखरूप अवस्था है उसको उसका भान रहता है।

सम्यग्दृष्टिकी इन्द्रियज सुख और ज्ञानसे विरक्ति—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष अपने आत्माका दर्शी है, ऐसा यह पुरुष सम्यग्दृष्टि वैषयिक सुखोंमें और वैषयिक ज्ञानमें राग और द्वेपको छोड़े। (छोड़ता है) छोड़े, ऐसी यहाँ विधिरूपा क्रिया कही है लेकिन जिसके प्रति भक्ति उमड़ती है उसे भी आशीर्वादात्मक शब्दोंमें भक्त लोग कह बैठते हैं, आशीर्वाद दें, जयवन्त इस तरहके आशीर्वादको कोई करें। कहे कि इसे छोटे लोग या बड़े लोग ही करते हैं, सो बात नहीं। यह तो अनुरागवश होता है। जैसे कहते हैं कि सिद्ध प्रभु जयवन्त रहो—हम न कहें तो क्या उनका जयवन्तपना मिट जायगा ? नहीं मिटेगा, लेकिन जब भक्ति बढ़ती है तो ऐसी ध्वनि निकलती है कि प्रभो ! तुम्हारे ऐसे आनन्दकी दशा शाश्वत रहे, तो इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुषपर ये ग्रन्थकार भी अनुरक्त हो रहे हैं, क्योंकि सम्यक्त्व पदकी प्राप्ति, अपने आपके उस शुद्ध अंतस्तत्वका दर्शन होना, यह कोई साधारण बात नहीं है। संसारसंकटोंको समाप्त कर देने वाली यह बात है। तो उसपर यह ग्रन्थकार अनुरक्त है तो कहता है कि रागद्वेषको छोड़ना है। किसके प्रति छोड़ना है ? वैषयिक सुखके प्रति, वैषयिक ज्ञानके प्रति न राग करना है, न द्वेप करना है। देखिये इन वैषयिक ज्ञान व सुख की बड़ी लम्बी चर्चा इससे पहिले की गई है कि ये वैषयिक सुख दुःखरूप हैं, पराधीन हैं, ये निकृष्ट हैं, इनका पाना कठिन है। यों कितनी ही बातें कही गई हैं। इतनी बात यदि कोई दूसरेको कह दे तो सदाके लिए ताँता टूट जायगा, मित्रता खत्म हो जायगी, लेकिन यहाँ वैषयिक सुख ज्ञानकी इतनी बात सुनकर भी वहांसे चित्त न हटाया तो यह कितना एक मोहांधकारका विलास है ? तो ये वैषयिक सुख और वैषयिक ज्ञानोंसे सम्यग्दृष्टि जन उदासीन हो जाते हैं, इस बातका वर्णन इस गाथामें किया गया है।

ननूल्लेखः किमेतावान् अस्ति किंवा परोप्यतः।
लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनाञ्चितः पुमान् ॥३७२॥

तथ्यजिज्ञासुकी सम्यग्दृष्टिके सम्बन्धमें और भी लक्षणोंके जाननेकी इच्छा—अब सम्यग्दृष्टि पुरुषकी इतनी महिमा सुनकर जो कि वे अभी एक श्लोकमें ही तो कहा गया, इससे ही जिज्ञासु भी चूंकि बुद्धिमान है, श्रोता भी बुद्धिमान है तो इतनी बात सुनकर ही वह पूछ रहा है कि सम्यग्दृष्टिके विषयमें क्या इतना ही कथन है ? इस जिज्ञासामें सम्यग्दृष्टिके प्रति

कितना अनुराग मालूम हो रहा है इस प्रश्नकर्ताका ? वह जानना चाहता है कि सम्यग्दृष्टिके बारेमें और भी वर्णन होगा। जैसे जब गप्पाष्टकमें लगते हैं गप्पी और उसमें बैठने वाले लोग जब गप्प खत्म करने वाले होते हैं तो किसी दूसरेसे कह बैठते हैं कि भाई अब तुम कोई चर्चा छेड़ दो, इन गप्पोंमें बड़ा मौज आ रहा है। खूब गप्पें सुनाते रहो, बड़ा आनन्द आ रहा है। जब गप्पें समाप्त होनेको होती हैं तो उन्हें कुछ विषादसा होता है। यह रुचिप्रभावका दृष्टान्त दिया है। समयसारका अध्ययन करने वाले लोग जब उपान्त्य गाथाका अन्तिम कलश पढ़ते हैं, जहां यह कहा है कि अब यह ग्रंथ पूर्णताको प्राप्त हो रहा है, तो इतनी बात सून कर उस समयसारके अनुरागी पुरुषको एक विषादसा होने लगता है। वह तो यही चाहता है कि यह चर्चा और भी चलती रहती तो बहुत ही आनन्द मिलता। उस जिज्ञासु पुरुषका वह विषाद भी शुभोपयोग है। यहां जिज्ञासु पूछता है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके विषयमें क्या और भी कथन है, क्या और भी लक्षण है, जिससे जाना जाय कि यह सम्यग्दृष्टि है ? अब उस जिज्ञासाके समाधानमें कह रहे हैं।

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैं संलक्ष्यते सद्दृक् ॥३७३॥

सम्यक्त्वके साथ प्रकट होने वाले सुलक्षणोंकी वक्ष्यमाणताका निर्देश—सम्यग्दृष्टिके और भी अनेक लक्षण हैं जो सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं याने सम्यग्दर्शन हो तो यह लक्षण होता ही है। तब उन लक्षणोंको जानकर सम्यक्त्वकी पहिचान हो जाती है। वे लक्षण सम्यक्त्वके अविनाभावी हैं, सम्यक्त्वके बिना नहीं हो सकते, मगर आजकल भी जैसे आर्टीफिसल मोती चले हैं, ऐसे ही प्रशम सम्वेग आदिक लक्षण जो सम्यग्दृष्टिके हैं कदाचित् मिथ्यादृष्टिमें भी दिखें तो उनकी इस तरहसे कोई कीमत नहीं है जैसे कि आर्टीफिसल मोतीकी। इनके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि पुरुषके ऐसे-ऐसे लक्षण आगे बताये जायेंगे जो कि सम्यग्दर्शनके हुए बिना प्राप्त नहीं हो सकते। जो सम्यग्दर्शनके अविनाभावी लक्षण हैं उन्हें सम्यग्दृष्टि पुरुष जान जाता है। वे सम्यग्दृष्टि पुरुषके लक्षण क्या हैं, इस बड़ी बातको बतानेके लिए थोड़े शब्दोंमें कैसे बताया जा सकता है ? उसके लिए तो कुछ विवेचनपूर्वक कथन होगा, जिससे स्वयं ही बीच-बीच जाहिर होता रहेगा कि सम्यग्दृष्टिके देखो ये ये लक्षण हैं। सम्यग्दृष्टिके लक्षण बतानेसे पहिले सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बतला रहे हैं। स्वरूप और लक्षणमें अन्तर कुछ नहीं है कि यह है सम्यग्दृष्टिका स्वरूप और यह है इसका लक्षण। उन्हीं लक्षणोंमें से किसी एक खास लक्षण रूपको पहिले रखना यह तो हुआ स्वरूप और उसके बाद फिर जितना पहिचानके लिए कहा जाय वह कहलाता है लक्षण। यद्यपि सभी लक्षण हैं, लेकिन किसके लक्षण है ? जिनका नाम लेंगे तो उसके साथ कुछ थोड़ा बोलना ही तो होगा, वह हो जायगा स्वरूप और वह हो

जायगा लक्षण। जैसे कि किसी भी द्रव्यका वर्णन करने चलेंगे तो किसी एक गुणको मुख्य बताकर उसमें अन्य गुणोंको स्थापित करके फिर उनमें गुण बतायेंगे। तो एक गुणको मुख्य करके कहा सो वह गुणी हो गया व जिन गुणोंका संकेत किया है वे गुण हो गये उस समय उसका स्वरूप। अब आगे जितना बताया जायगा वह कहलायेगा उसका लक्षण। तो सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बतलाते हैं।

उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः।
नादेयं कर्म सर्वं च तद्वद् दृष्टोपलब्धितः॥३७४॥

इन्द्रियज ज्ञान व सुखकी सम्यग्दृष्टिके अनादेयता—सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बतलावो—यह एक कहनेको तो छोटा प्रश्न है, पर समाधान देनेके लिए एक बड़ी समस्या अथवा एक बड़ा विषय है। जैसे कि कोई लोग चलते-फिरते कहींसे आकर कहने लगते कि महाराज हमें सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बतला दो। तो देखिये—कहनेमें तो यह एक छोटा प्रश्न मालूम होता हैं, पर इसका उत्तर देनेमें बहुत बड़ा समय लग जायगा। आखिरमें यही कहना पड़ेगा कि इसके आप थोड़ेमें पूछो। तो वह पूछेगा—अच्छा बताइये सम्यग्दृष्टिमें क्या-क्या गुण हैं? वह किस तरहसे मोक्ष जा सकता है? अब बताओ–संक्षेपमें कैसे इसका उत्तर थोड़े शब्दोंमें कहा जाय? तो इसी तरह सो समझिये सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बताओ? ऐसा प्रश्न होनेपर इसे थोड़े शब्दोंमें कैसे बताया जा सकता है? तो इस ही स्वरूपको कहनेके लिए कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन चलेगा और वह भूमिका सहित वर्णन चलेगा। इस श्लोकमें कहते हैं कि पहिले जितनी भी वैषयिक सुख और ज्ञानकी बात कही गई थी वह सब सम्यग्दृष्टिके अनादेय है। जिसको सामने यह दिख रहा है कि यह मैं जीव कोई समय तो आनेको ही है ऐसा कि इसको इस शरीरसे विदा होना पड़ेगा, तो इस शरीरका क्या हाल होगा? लोग इसे जला देंगे, जलकर यह शरीर राख हो जायगा। और यहाँसे मरण करके कहीं अन्यत्र पहुंच गए, फिर यहाँका समागम (इस मनुष्य पर्यायका प्राप्त समागम) मेर लिए क्या रहेगा? आज इन मूर्तिक मायामयी, विनाशीक समागमोंमें, वैषयिक साधनोंमें, इन्द्रियसुखोंमें जो इतनी रति की जा रही है, इससे मेरा पूरा नहीं पड़नेका। यहाँकी ये समस्त बाह्य चीजें हेय हैं, ऐसी जिसकी दृष्टि बन गई है वह है सम्यग्दृष्टि। यह एक पहिला लक्षण सम्यग्दृष्टिका समझ लीजिए। उसके अंदरमें इस प्रकारका निर्णय पड़ा हुआ है कि ये वैषयिक सुख हेय हैं, इन वैषयिक सुखोंको भोगने वाला व्यक्ति इनके भोगनेसे पहिले भी दुःखी रहता है, जब उस दुःखसे पीड़ित होकर विषयोंके साधन जुटाता है तब दुःखी रहता है। जब विषयसाधन प्राप्त हैं उस समय भी यह दुःखी रहता है, और विषय भोग चुका तो उसके बाद भी यह दुःखी रहता है। हाँ, दुःख सब जगहके अपने-अपने किस्मके ही हैं, और कोई भी दुःख कम नहीं है। विषय भोगनेके बाद जो दुःख होता है वह कम नहीं है और

बादमें दुःख है वह भी कम नहीं और भोगके समय जो दुःख है वह भी कम नहीं। हाँ उन दुःखोंकी जातियाँ न्यारी-न्यारी हैं मगर क्लेश सभीमें है। तो ऐसे ये वैषयिक सुख और ये इन्द्रियज ज्ञान इस सम्यग्दृष्टिके अनादेय हैं, त्याज्य हैं और किसी प्रकार उन सुखोंके कारणभूत सर्वप्रकारके कर्मबन्ध भी त्याज्य है।

शुद्धात्मदर्शन व मन्दकषायताकी अभीसे साधारणपदमें आवश्यकता—शुद्ध आत्मस्वरूपपर दृष्टि होना और कषायोंको मंद रखना—ये दो ही बातें तो इस भवमें कर्तव्यकी हैं। और पद-पद पर थोड़ा बाहरमें उपयोग गया तो फिर उनसे निवृत्त हो होकर धुन इसकी रहे कि मेरे आत्मतत्त्वका दर्शन बनो—ऐसा निर्णय जिसके चित्तमें पड़ा हुआ है वह इन वैषयिक सुखोंमें क्या प्रीति करेगा ? प्रीति नहीं करता, फिर भी ऐसे साधनोंसे विरक्तजनोंको भोजन किए बिना तो न चलेगा। करना पड़ता है भोजन, पर भोजन करते हुए भी उनकी कैसी विशुद्ध दृष्टि रहती है कि यदि इस पेटको भोजन न देंगे तो हम अपने ध्यान संयमकी साधना में सफल नहीं हो सकते। यह बात तब ज्यादह निर्णयमें समा जाती है जब दो एक दिन भोजन नही मिलता, तब विवेक जगता है कि इस समय यह ध्यान संयम नहीं सध पाता है तब यह ख्याल होता है कि ओह ! हमें इतनी हठ न करना चाहिए। जिसका योग मिला है, जो जिस लायक है उस योग्यप्रवृत्ति करना है। तो भोजन करना, शरीरका रखना इस भवमें कुछ कामका है ताकि हम इस भवमें जो ज्ञान पाया है, जो दृष्टि पाया है उसे हम अच्छी तरहसे बनाये रहें ताकि शिवमार्गमें हम बढ़ते चले जायें, आगे कभी धोखा न हो सके। इस के लिए उसका प्रयोजन है। इस ही बातकी प्राप्तिका प्रयोजन ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषको हर क्रियावोंमें होता है। बस एक हो केवल ध्यान है कि जिस किसी भी प्रकार हो मेरा यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपमें मग्न हो जाय। यह धुन जिसकी है उसके लिए फिर जो करता है वह भी ठीक ही है। जैसे कि एक लौकिक बात यह देखी जाती है कि अगर कोई बड़े बूढ़े स्त्री अथवा पुरुष कहीं भी जायें, कहीं भी उठे बैठें तो उनके लिए कोई कुछ नहीं कहता, उनके लिए व्यवहारमें निंद्यताका भाव किसीको नहीं होता, इसी प्रकार जिस सम्यग्दृष्टि पुरुषको अपने आत्मतत्त्वकी दृष्टिकी धुन है उसकी बाहरमे कैसी ही प्रवृत्तियां दिखें लेकिन वे सब अविघातक ही कही गई हैं। (यह बात सम्यग्दृष्टिके प्रसंगमें सम्यग्दृष्टिके अनुरागमें कही जा रही है) लेकिन यह बात दूसरे लोग ही तो सोचते हैं, सम्यग्दृष्टि नहीं सोचता। वह तो जानता है कि यह भी मेरी कमी है, यह भी मेरे लिए एक दोषकी बात है, मैं स्वयं अपने इस ज्ञानमें ही प्रतिष्ठित रहूं, यह काम अभी मेरेसे नहीं हो पा रहा। अब देखिये नहीं हो पा रहा ज्ञान ज्ञानमें प्रतिष्ठित, लेकिन ऐसा पुरुष बाहरमें कोई प्रवृत्ति करेगा तो वह दंदफंदकी न करेगा, वह करेगा इस ही ज्ञानसाधनासे सम्बंधित प्रवृत्ति। अन्य प्रकारसे नहीं, क्योंकि उसे

अन्य बातोंमें रुचि नहीं रही है। ऐसा यह ज्ञानी जीव इसके इन्द्रियसुख और इन्द्रियज्ञान ये ही मात्र हेय नहीं हैं, किन्तु इसी प्रकार समस्त कर्म भी उसके लिए त्याज्य हैं, यह भी प्रत्यक्ष दिख रहा है।

वैषयिक सुख व उसके कारणभूत कर्मबन्धकी अनभीष्टता—एक क्षणकी असावधानीमें ७० कोड़ाकोड़ी सागर तकका कर्मबन्ध हो जाता है। बताइये इतनी लम्बी स्थितिका कर्मबन्ध आपको अभीष्ट है क्या ?···नहीं। एक कोड़ाकोड़ीका।···अरे यह भी बहुत लम्बा काल है। तो क्या एक सागरका कर्मबन्ध इष्ट है ?···अरे यह भी बहुत लम्बा काल है। एक सागरकी तो बात क्या, एक क्षणका भी कर्मबन्ध ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषको अभीष्ट नहीं है। अरे एक क्षणका कर्मबन्ध भी इस जीवको संसारगर्तमें पटकनेका कारण बन जाता है। सुखमें भी यह जीव बेहोश होता है, व्यामुग्ध रहता है। कोई बड़े गद्देदार पलंगोंमें रहे, बड़े आरामके साधनों के बीच रहे, लेकिन वह तो उस सुखकी स्थितिमें भी निरन्तर अशान्त रहता है, बेचैन रहता है तो वह सुख भी वस्तुतः दुःखरूप है। इसका विश्लेषण अगर भली प्रकार किया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञानमें आयगा कि ये सांसारिक सुख और दुःख दोनों बराबर हैं और कभी-कभी तो यह नजर आ जाता है कि इस सांसारिक सुखसे तो दुःख भला है, क्योंकि दुःखके अवसर पर परमात्माका स्मरण करना सुगम है। सुख-साधनोंके बीच रहकर आत्मा परमात्माका कुछ भी ध्यान नहीं रहता। तो ये सांसारिक सुख और दुःख दोनों ही हेय हैं, इस बातका पूर्ण निर्णय ज्ञानी सम्यग्दृष्टिके होता है। ऐसे सम्यग्दृष्टिके सर्व प्रथम ऐसा ही सम्यग्दृष्टिका स्वरूप प्रकट होता है।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥३७५॥

वस्तुतः सूक्ष्मगुणभूत सम्यक्त्वकी केवलज्ञानगोचरता व परम्परया परमावधि, सर्वावधि व मनःपर्ययज्ञानकी गोचरता—सम्यग्दृष्टिके स्वरूपके वर्णनका संकल्प किया गया था। तो सम्यग्दृष्टिका स्वरूप यहाँ भूमिका सहित वर्णन किया जा रहा है। यहाँ यह बतला रहे हैं कि सम्यग्दर्शन तो वास्तवमें ऐसा सूक्ष्म गुण है अथवा चेतनका ऐसा विशुद्ध विकास है कि वह केवलज्ञानका विषयभूत है। सो केवलज्ञान तो सम्यक्त्वकी बातको भली प्रकार जानता ही है, पर किसी रूपसे अवधिज्ञानमें परमावधि और सर्वावधि तथा मनःपर्ययज्ञानका भी यह विषयभूत हो जाता है। यद्यपि अवधिज्ञानरूपी पदार्थोंको ही जानता है और सम्यक्त्वरूपी है नहीं, किन्तु सम्यक्त्वके आवरण करने वाले कर्म जब वहाँ उपशम या क्षयोपशमको प्राप्त हैं अथवा क्षयको प्राप्त हैं तो कर्मोंकी दशा तो रूपी दशा है, उसके यथाभूत सद्भाव अभावका परिज्ञान

तो अवधिज्ञानी कर सकता है और जो इतने विशिष्ट ज्ञानी पुरुष हैं जिन्होंने अवधिज्ञान द्वारा उन कर्मोंकी दशाका प्रत्यक्ष किया है तो क्या उससे अविनाभूत जो सम्यक्त्व **विकास** है उसे न परख लेवेगा। हाँ सम्यक्त्वविकासको साक्षात् न परखेगा, पर उपशमकी क्षायोपशमिक व क्षय की अवस्था जब जान लिया तो अविनाभूत जो अवस्था है उसे जान लिया, यह बात सिद्ध है। परमावधि और सर्वावधि तो बहुत सूक्ष्म विषय वाले हैं। हैं रूपी पदार्थ, पर इन ज्ञानोंका विषय बहुत सूक्ष्म व विशाल है, समस्त लोकको जान ले इतना तक विषय है। जानेगा रूपी और जब रूपी जानने वाले अवधिज्ञानके अनन्तवें भाग सूक्ष्म मनःपर्यायज्ञान जानता है तो किसी ढंगमें वह सम्यक्त्व मनःपर्ययज्ञानके विषयसे दूर नहीं रह सकता। इस तरह यह सर्वावधि, परमावधि और मनःपर्ययज्ञानका विषय भी सम्यक्त्व हो जाता है।

न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक्।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥३७६॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान व देशावधिज्ञानके विषयमें सम्यक्त्वकी अगोचरता—वह सम्यक्त्व किसी भी प्रकार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और देशावधिज्ञानका विषयभूत नहीं हो सकता। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका तो इतना सूक्ष्म विषय है ही नहीं और इतना सूक्ष्म विषय देशावधिज्ञान का भी नहीं है। अतः सम्यक्त्व इन ज्ञानोंका विषयभूत नहीं होता। किस विषयकी बात कही जा रही है? मतिज्ञान, श्रुतज्ञान व देशावधिज्ञान कर्मके उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी अवस्था को नही जान सकते हैं अतः इनके द्वारा सम्यक्त्वका परिचय नहीं हो सकता। ये ज्ञान तो उदयावस्थासम्पन्न सत्त्वनिष्ठ कर्मको भी नहीं जानता। कर्मोंके क्षय क्षयोपशमका साक्षात्कार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और देशावधिज्ञान कैसे कर सकते हैं? कर्ममात्रको भी ये ज्ञान विषय नहीं कर पाते तो इनका विषय कर्मके क्षयोपशम आदिकसे अविनाभूत सम्यक्त्व कैसे हो सकता है? तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और देशावधिज्ञान—इन तीन ज्ञानोंके द्वारा उस सम्यक्त्वका बोध नहीं होता। परमावधि सर्वावधि मनःपर्ययज्ञानके द्वारा होगा, सो वह इन्डायरेक्ट होगा और केवलज्ञानके द्वारा विषयभूत होता है साक्षात्।

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।
तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादुरूपमनादितः ॥३७७॥

सम्यक्त्वकी निर्विकल्पता—आत्माका एक ऐसा कोई निर्विकल्प विलक्षण गुण है यह सम्यक्त्व जिस सम्यक्त्वके होनेपर यह आत्मा कृतार्थ हो जाता है। दुःख और सुख कहाँ पड़े हुए हैं? यहीं भीतरकी कल्पनामें। यह आत्मा वस्तुतः यह केवल ज्ञानस्वभावमात्र कहो, ज्ञानमात्र कहो, इसका किसीसे परिचय क्या? इसका किसीसे नाता क्या? कितनी बड़ी दुनिया, उसमें कितनी जगहमें रह रहे, कितना बड़ा काल, उसमें कितनेसे समयको रह रहे? यहाँ क्या

वास्ता है किसीसे ? इतनेपर भी यहाँ जो कुछ दिख रहा है वह मायास्वरूप है, परमार्थ पदार्थ नहीं है । तो यहाँ रमने योग्य कुछ भी नहीं है । जब यह निर्णय सम्यग्दृष्टिके पड़ा है तो उसके कारण बाह्य पदार्थोंके परिणमनके कारण यह अपने आपमें अपना सुधार-बिगाड़ नहीं समझता है तो ऐसी अनुभूति और उस आनंदस्वभावमय उस आत्मतत्त्वकी अनुभूति जिसे हुई है उसका जो विकास होता है, सम्यक्त्व होता है वह निर्विकल्प होता है, उसको किस शब्दसे बताया जाय ? यदि कहें उसको ऐसी शुद्ध प्रतीति हो गई है तो प्रतीति तो ज्ञानकी परिणति है, यदि कहें उसको शुद्ध आत्मद्रव्यमें रुचि हो गई है तो रुचि तो चारित्रगुणकी परिणति है । यदि कहें कि अजी उसका भान हो गया है तो यह भान भी ज्ञान है । सम्यक्त्व क्या है ? उसको बताने वाला कौनसा शब्द है ? यह कह सकते कि जिसके होनेपर ज्ञान भी सम्यक् हो गया वह परिणति है सम्यक्त्व । इस सम्यक्त्वका इतना बड़ा उदर है कि इन्हींमें चारित्रका भी अन्तर्भाव कर दिया जाता । सिद्धमें चारित्रगुण अलगसे नहीं बताया गया । सारा परिणमन सम्यक् हो रहा है । तो सम्यक्पना होकर भी कुछ चारित्रमोहका उदय होनेपर कहीं उस सम्यक्त्वका बिगाड़ नहीं होता, इसलिए वहाँ दो भेद हो गए हैं । अभेददृष्टिसे तो सारा सम्यक्पना है । आत्माकी सही अवस्था हो जाय वह सब सम्यक्त्व है ।

दर्शनमोहोदयसे सम्यक्त्व गुणकी मिथ्यास्वादुरूपता—ऐसा कोई निर्विकल्प गुण है सम्यक्त्व जिसको वचनों द्वारा नहीं कह सकते, लेकिन हो क्या रहा है अब कि दर्शनमोहनीय कर्मका उदय होनेसे इसका मिथ्या स्वादरूप परिणमन हो रहा है । यहाँ सम्यक्त्वको गुण बताया है, इस सम्यक्त्वगुणकी दो पर्यायें होती हैं—मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व । इसमें कोई भ्रममें न पड़े, तो यों कह लो कि श्रद्धा नामका गुण है और उसकी दो पर्यायें हैं—सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, किन्तु प्राचीन पद्धति यह है कि सम्यक्त्वको गुण कहा और उसकी दो पर्यायें हुईं, जो अनुकूल शुद्ध स्वच्छ विशुद्ध परिणति है वह सम्यक्त्व है और जो विपरीत परिणति है वह है मिथ्यात्व । जैसे आनन्दगुणकी तीन परिणतियाँ होती हैं । आनन्दगुण तो शाश्वत है जिसकी परिणतियाँ बता रहे हैं आनन्द, सुख और दुःख—ये तीन प्रकारकी परिणतियाँ हैं । तो स्वाभाविक परिणमन और गुण एक समानताको प्राप्त हो जाते हैं, ठीक उसके अनुकूल ही विकास हुआ है । तो वही नाम गुणका भी रख दिया, वही नाम शुद्ध विकासका भी रख दिया, पर समझने वाले समझ ही जायेंगे कि जिस समय उसे गुण रूपसे विवक्षित किया तो समझना चाहिए कि वह शाश्वत है, अविनाशी है, शक्तिरूप है, और जिस समय पर्यायरूपसे कहा गया वह शुद्ध है, पर प्रतिक्षण उत्पाद व्यय वाला रहता है याने उसमें भी प्रतिक्षण उत्पादव्यय है, होता है समान परिणमन । तो उस सम्यक्त्व गुणका दर्शनमोहनीयके उदयसे अनादिकालसे मिथ्या स्वाद आ रहा है । सम्यक्त्व क्या है ? बिलकुल विलक्षण चीज,

अर्थात् जहाँ उन्मुख हो रहा था उसकी ओरसे इसका अपरिचय हो जाय और जिसकी पहिचान ही न थी, समझ ही न थी उसकी ओर इसका उपयोग हो जाय, याने पलड़ा बदल गया। अब उसकी बिल्कुल बात बदल गई है। अनादिसंसारमें भ्रमण करने वाले मिथ्यादृष्टियोंकी वृत्तिसे सम्यग्दृष्टिकी वृत्ति अलौकिक है और इसी बलपर साधु संत जनोंकी वृत्ति अलौकिक कही गई है। देखो—अन्य लोग क्या करते हैं और यह ज्ञानी पुरुष क्या करता है ? इसकी अलौकिक वृत्ति है। ये लौकिक जन तो यहाँकी सम्पदाओंमें, समागमोंमें व्यासक्त रहते हैं, पर यह ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानस्वरूपके अनुभवके लिए ही लालायित रहा करता है। वह तो चाहता है कि मेरा स्वरूप इस मुझ ज्ञानस्वरूपमें ही प्रतिष्ठित हो जाय, इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ न चाहिए। बाह्य पदार्थोंकी ओर अपनी लीनता बनना यह तो एक अज्ञानता भरी बात है।

दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥३७८॥

कालादिलब्धि होनेपर, संसारनैकट्य होनेपर भव्यत्वभावविपाकसे सम्यक्त्वका लाभ— दैवयोगसे काल आदिक लब्धियोंके प्राप्त होनेपर, संसारसमुद्र निकट होने पर भव्यभावका विपाक होता है तो यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। भव्यभावका विपाक, पूरा विपाक कहाँ होता ? सिद्ध अवस्थामें। वहाँ भव्यत्व रहता ही नही है। वहाँ विपाक पूर्ण हो चुका, उसके बादकी वह अवस्था है। पर भव्यत्त्व भावमें जो बात आनेकी थी वह आगे आये इसको कहते है विपाक याने जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणमनकी योग्यता है इस ही को भव्यत्व कहते हैं। अब तो बात वह सामने है। सम्यक्त्व हो, यही तो भव्यत्वका विपाक प्रारम्भ हुआ। तो ऐसा कैसे कब किसके होता है ? इसका संकेत इस श्लोकमें है। उपादान दृष्टिसे बात यह है कि जहाँ ऐसी परिणति आनेको हो, हो गयी। निमित्तदृष्टिसे बात यह है कि जहाँ दर्शन मोहका अनुदय हो, क्षय क्षयोपशम हो वहाँ यह बात आ जाती है और बाह्यदृष्टिसे यह बात हो कि जब काललब्धि प्राप्त होती है और अन्य लब्धियाँ योग्य क्षेत्र काल भाव जब प्राप्त होते है तब भव्यत्वगुणका विपाक होता है। सम्यक्त्व गुणकी निष्पत्ति में ५ लब्धियाँ होती हैं— (१) क्षयोपशमलब्धि, (२) विशुद्धलब्धि, (३) देशनालब्धि, (४) प्रायोग्यलब्धि और (५) करणलब्धि। क्षयोपशमलब्धि तो कर्मका योग्य क्षयोपशम हो सो वह क्षयोपशमलब्धि है। अब जरा विचारो कि हम आपको क्षयोपशमलब्धि पड़ी है कि नहीं ?- है, क्योंकि इतना ज्ञान करते हैं, विवेक करते हैं। क्षयोपशम लब्धिके होने पर आत्मामें उस योग्य क्षयोपशम होने पर जो विशुद्धि होती है वह विशुद्ध लब्धि है, ऐसी विशुद्धि भी प्राप्त है याने उसकी लब्धि प्राप्त है और किसी ज्ञानी साधुजनोंके उपदेश प्राप्त हों तो उसे कहते हैं

देशनालब्धि । साक्षात् अथवा परम्परा ग्रन्थोंसे हर प्रकारसे इस देशनालब्धिकी प्राप्ति हो रही है । चौथी लब्धिका नाम है प्रायोग्यलब्धि । यहाँ अब मन बहलावाकी बात नहीं चल सकती । यहाँ तो बिल्कुल नकद दाम जैसी बात है । जहाँ कर्मोंकी स्थिति घट कर अन्तः कोड़ाकोड़ी मात्र रह जाय उसे कहते हैं प्रायोग्यलब्धि । इतने तक तो भव्य अभव्य सभी जीवोंकी बात बन सकती है । पर ५ वीं करणलब्धि उसके ही होती है जिसके सम्यक्त्व होनेको है ।

करणलब्धि पानेपर सम्यक्त्वलाभकी अनिवार्यता—करणलब्धिके मायने हैं ऊँचे परिणाम । आत्माकी ओर उन्मुख होने वाले उच्च परिणाम । उन उच्च परिणामोंमें अनेक डिग्री हैं सो उन डिग्रियोंमें जहाँ तक विभिन्न समयवर्ती साधकोंमें भी विशुद्धि समान डिग्रीकी संभव हो सके उसे अधःकरण कहते हैं अर्थात् जैसे कोई जीव अधःकरणमें पहिले करणमें चढ़े हुए चार समय हो गए और किसीके इसी समय अधःकरण हुआ तो जितने चार समयका परिश्रम करने वाले विशुद्धि पा चुके हैं उतना यह प्रथम समय वाला भी पा सकता है । ऐसे अधःकरण (परिणाम) पड़े हुए हैं उसे कहते हैं अधःकरणलब्धि, किन्तु ये इससे ऊँचे करणमें जब पहुंचते हैं तब अपूर्वकरण लब्धिमें एक समयमें रहने वाले साधुवोंके बीच-बीच करणोंकी (परिणामोंकी) समता विषमता हो सकती है, पर दूसरे समयमें जो पहुंच गया है उसके बराबर पहिले समयसे अधिक विशुद्ध परिणाम होगा । अपूर्वकरणसे अनिवृत्तिकरणमें अधिक उच्चता है कि जितना समय अनवृत्तिकरणमें किसी साधकको लगा है उतने समयमें जितने साधक हों अथवा ये सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले सम्यक्त्वी जन हों, तो इनका परिणाम समान होता है । इसका अर्थ भी इसी तरह है । जहाँ कोई भेद नहीं है, विषमता नहीं है, एक ही बात है उसे कहते हैं अनिवृत्तिकरण । जहाँ निवृत्ति है, विषमता है उसे कहते हैं निवृत्तिकरण याने अपूर्वकरण और जहाँ ऊपरके परिणाम अधः रह जायें उसे कहते हैं अधःकरण । इस तरह इन तीन लब्धियोंके प्राप्त होनेपर सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । तो ऐसा यह जीव कैसा है ? वहाँ उसका भवार्णव निकट आ गया, संसारतटपर पहुंचने ही वाला है, पार होने ही वाला है । अब उसका थोड़ा ही समय शेष रह गया । ऐसा जीव सम्यक्त्वमें बसा हुआ है, सो यहाँ भव्यत्वगुणका विपाक बताया गया है । जिस समय आत्मामें मिथ्यात्वकर्मका उदय रहता है उस समय भव्यत्वगुणकी अशुद्ध अवस्था होती है । देखिये—आत्मामें गुण हैं और उन गुणोंका विपरीत परिणमन चले तो समझिये कि वहाँ अशुद्ध अवस्था हो गयी और अगर स्वभावपरिणमन हो तो वह शुद्ध अवस्था हो गयी । तो यों जब सम्यक्त्वकी अवस्था होती है तो वहाँ भव्यत्व गुणपरिपक्व हो जाता है । जैसे किसीको कहते हैं कि यह चौथी क्लासमें पढ़ने योग्य है तो वह तृतीय कक्षामें परिपक्व है और चौथी कक्षामें आ गया है तो चौथी क्लासमें आने योग्य है, इस बातका विपाक [illegible] । अब तृतीय कक्षा उत्तीर्ण कर ले तब कहा जायगा कि

यह चौथी क्लासके योग्य है और अगर चौथी क्लास उत्तीर्ण हो चुका तो उसे यह नहीं कहा जा सकता कि यह चौथी क्लासके योग्य है। ठीक ऐसे ही जो सिद्ध भव्यत्वसे उत्तीर्ण हो गए उन्हें यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें भव्यत्व भाव है। सिद्धमें भव्यत्व नहीं रहा।

प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत्।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥३७९॥

करणलब्धि होनेपर अनायास दर्शनमोहोपशम और औपशमिक सम्यक्त्वका लाभ—जब अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण—ये तीन लब्धियां हो गयीं तब अन्तर्मुहूर्तमें ही बिना किसी प्रयत्नके दर्शनमोहका उपशम हो जाता है। सर्वप्रथम इस जीवको उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है। क्षयोपशम कहाँसे आयगा? जब सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिका बन्ध ही नहीं हुआ था, अतएव सत्त्वमें ही नहीं हैं वे प्रकृति तो उनका क्षयोपशम और क्षय कैसे बनेगा? मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन ५ प्रकृतियोंकी सत्ता वाला भव्य जीव तो उपशम सम्यक्त्व ही करता है, तो पहिले प्रथमोपशम सम्यक्त्व हुआ। उपशम सम्यक्त्वके लिये जब तीनों लब्धियाँ प्राप्त हुई तब उसको अब क्या प्रयत्न करना है, अनायास ही सम्यक्त्वलाभ हो जाता है। इस अवस्थामें गुणश्रेणी बराबर चल रही है अर्थात् ऐसा निर्मल परिणाम है उस समय सम्यक्त्व उत्पन्न होनेके प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें इतने विलक्षण परिणाम हैं कि जितनी प्रथम समयमें निर्जरा की है उससे असंख्यातगुणी अगले समयमें, उससे असंख्यात गुणी उससे अगले समयमें, यों असंख्यात असंख्यातगुणी निर्जरा प्रत्येक समयमें चलती रहती है। यह गुणश्रेणी इस ढंगकी सम्यक्त्व उत्पन्न होनेके समय रहती है, यह उस समयकी विशेषता है। ऐसी गुणश्रेणी सम्यक्त्वमें ही नहीं आयी, किन्तु चारित्रग्रहण करनेमें है, संयमासंयम ग्रहण करनेमें है, अनन्तानुबधीके विसंयोजनमें है इत्यादि। कोई विशेष विकासकी बात आये तो ऐसी गुणश्रेणी निर्जरा होती है, तब ही लोग यह अनुभव करते हैं कि जितना हममें व्रत लेनेके समयमें निर्मलता आयी वैसे अच्छे भाव आज नहीं आ रहे हैं। अरे यह तो केवल सोचनेकी बात है। अब तो यहाँ योग्यता ठीक बन गई है। योग्यता तो है, मगर उस समय था चढ़ता हुआ परिणाम। विशुद्धिकी चढ़ती हुई स्थितिमें यह करणलब्धि होती है और उनमें ऐसी गुणश्रेणी निर्जरा होती है। तो जब यह जीव मिथ्यात्व का उपशम कर लेता है तो उसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा।
पुंसोवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके ॥३८०॥

दर्शनमोहके उपशमसे उपशमसम्यक्त्वपरिणतिकी उपलब्धि—दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है। १४८ प्रकारकी कर्म प्रकृतियोंमें मिथ्यात्व, सम्यक्

मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति—ये तीन दर्शनमोहनीय कहलाते हैं। दर्शनमोहनीय इस कारण नाम है कि ये सम्यग्दर्शनको विनष्ट करते, दूषित करते। इन तीन प्रकृतियोंमें से बँधने वाली प्रकृति केवल एक है—मिथ्यात्व। सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इनका कभी बन्ध नहीं होता, लेकिन उदयमें ये कैसे आ जाते हैं? जिन प्रकृतियोंका सत्त्व नहीं है उनका उदय कैसे हो सकता है? तो जब ये उदयमें आते हैं और इन प्रकृतियोंका काम भी निराला है, सम्यक् मिथ्यात्वके उदयसे मिश्र परिणाम होता है कि न वह केवल सम्यक्त्वरूप है, न केवल मिथ्यात्वरूप है और सम्यक् प्रकृतिके उदयसे चल, मलिन, अगाढ़ दोष होता है। जब इनका कार्य विलक्षण है तो ये उदयमें आये हों तभी तो यह कार्य होगा। उदयमें आनेके लिए सत्त्व होना चाहिए और सत्त्व पानेके लिए बन्ध होना चाहिए। फिर इनका उदय कैसे आया? जब वह बन्धन नहीं है तो यहाँ इतनी बात समझनी चाहिए कि सत्त्व होनेके लिए बन्ध आवश्यक नहीं है। यद्यपि इन चार प्रकृतियोंको छोड़कर १४६ प्रकृतियाँ बंधकर ही सत्त्वमें आती हैं, लेकिन ये दो प्रकृतियाँ बिना बंधे हुए ही सत्त्वमें आती हैं और इनके सत्त्वमें आने का कारण यह है कि जब किसी जीवको मिथ्यात्वके उपशम होने पर जिसके साथ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आदिकका उपशम चलता है तो मिथ्यात्वका उपशम होने पर उसे उपशम सम्यक्त्व होता है। उस समय मिथ्यात्वके तीन हिस्से हो जाते हैं—अर्थात् मिथ्यात्व ज्योंका त्यों बना रहता है और उनमें से अनेक वर्गणायें सम्यग्मिथ्यात्वरूप होती हैं और कुछ वर्गणायें सम्यक्त्वरूप होती हैं। यहाँ यह बात जाननी चाहिए कि जो टुकड़े होकर सम्यक्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति बने वे मिथ्यात्वसे कम अनुभाग वाले हैं। इनका रस मिथ्यात्वसे कम है। इस सम्यग्दर्शनके परिणामरूपी चक्कीके चलनेपर हल्के हिस्से हो जाने तो सम्भव हैं, बड़े नहीं हो सकते, तो मिथ्यात्वके एक विशाल शक्ति वाले थे उसकी ही शक्ति कम हो होकर सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति रूप हो गए। कुछ वर्गणायें इस तरह प्रथमोपशम सम्यक्त्वके होने पर मिथ्यात्वके द्रव्यसे सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्वप्रकृतिरूप हो गए, तब इन दो प्रकृतियोंकी सत्ता हो गई। यही जीव कुछ समय बाद सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो जाय और बहुत काल तक भ्रष्ट रहे, जैसे कि करणानुयोगमें बताया है कि पल्यके असंख्यातवें काल पश्चात् ही उन दो प्रकृतियोंकी उद्वेलना हो जाती है तो वे दो प्रकृतियाँ जो पहिले सम्यक्त्वरूप परिणामके द्वारा सम्यक्त्व रूप और मिथ्यात्वरूप हो गई थीं वे क्रमशः सम्यक् प्रकृति बदल कर सम्यक्मिथ्यात्वरूप हो जायेंगी और सम्यक् मिथ्यात्व बदलकर मिथ्यात्व रूप हो जायेंगी। अब इसकी स्थितियाँ अनादि मिथ्यादृष्टि जीवोंकी तरह सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंमें ५ की सत्ता हो गयी। अब यह जीव उपशम सम्यक्त्व करेगा तो उसका भी उपशम सम्यक्त्व ५ प्रकृतियोंके उपशमसे होगा। इस तरह जिनके सम्यक्त्वघातक ५ प्रकृतियों

की सत्ता है उनके तो इन पाँचोंके उपशमसे होता है और जिनके ७ प्रकृतियोंकी सत्ता है उनके सातोंके उपशमसे होता है। तो यों दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्वपरिणतिकी अपूर्वता व विलक्षणता—जीवके यह जो सम्यक्त्वरूप अवस्था आयी सो वह आत्माकी एक अवस्था विशेष है, विलक्षण है। यों समझिये कि आत्माका नया जीवन है। पहिला जीवन आत्माका था दुःखरूप और अब यह जीवन आया है प्रसन्नताका, विकास करनेका, क्योंकि जहाँ कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धिका भार हटा, परसे मेरा कुछ सम्बन्ध है, मैं परमें कुछ सुधार अथवा बिगाड़ कर देता हूं, इस प्रकारके विपरीत अभिप्रायों का भार लदा था उससे यह बहुत दुःखी था। वह भार खतम हो जाता है, अब रह गया उसका परिस्थितिसमुद्भूव कुछ भार, वह भी समाप्त हो जायगा। तो सम्यग्दर्शन इस आत्मा का विलक्षण अवस्थाविशेष है। जैसे यहाँ कहते हैं कि साधु हो जाने पर वह द्विज कहलाता है। द्विज नाम यहाँ लोगोंने ब्राह्मणका रखा है, पर द्विजका वास्तविक अर्थ है—जो दूसरी बार जन्म ले। एक पुरुषने साधु अवस्थासे पहिलेका जीवन और तरहका बिताया था और अब उसका जीवन बिल्कुल उससे उल्टा चल रहा है, शुद्ध चल रहा है तो ऐसे जीवनको कहेंगे कि इसका दूसरा जन्म है। जैसे वही पुरुष जिसके पास स्त्री आकर कुछ बात कहती थी तो वह स्त्रीको जवाब भी देता था, कुछ बात भी कहता था, कुछ सलाह भी मानता था और पुत्रादिकसे रागकी वार्ता भी करता था, लेकिन अब वही स्त्री आकर कुछ कहे और वह पुरुष कुछ रागकी बात बोले ही नहीं तो वह तो यही कहेगी कि यह तो अब वह नहीं रहा जो पहिले था, इसका तो जीवन ही बदल गया। तो जिसका जीवन बदल जाय उसे द्विज कहते हैं। तो यह तो एक जीवकी विशेष साधुतावाली शुद्ध अवस्थाकी बात है, पर आत्माके जीवन की अपेक्षासे देखा जाय तो वास्तविक द्विजता तो सम्यक्त्व होने पर प्रकट हुई है। ऐसे ही सम्यग्दर्शन जो पुरुषकी एक अवस्था विशेष है वह आत्माका निर्विकल्प गुण है। इस बातको आगे स्पष्ट कर रहे हैं।

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।
सत्तारूपं च परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥३८१॥

सम्यक्त्वकी निर्विकल्पता—सामान्यरूपसे अथवा विशेषरूपसे सम्यक्त्व निर्विकल्प है। सम्यक्त्वको सामान्यतया भी सोचें तो निर्विकल्प विदित होता ही है, परन्तु उसके कुछ विशेष स्वरूपपर भी दृष्टि करें कि उसमें व्यञ्जन क्या हुआ? व्यक्ति क्या हुई? ऐसे उस प्रकाशकी दृष्टिसे भी सोचो—वहाँ भी वह निर्विकल्प है और वह तो उसके सत्त्वरूप है, आत्माके प्रदेशमें परिणमा है, परिणमन कर रहा है। अथवा उस गुणके होनेपर सभी गुणों

में एक विलक्षण परिणामन आ जाता है। तो यह सम्यग्दर्शन निर्विकल्प है। इसके बारेमें आगे जब सम्यग्दृष्टि जीवके लक्षण बताये जायेंगे तो उन लक्षणोंमें भी यह ध्वनित होगा कि यह सम्यक्त्व भाव निर्विकल्प है। वह वचनके अगोचर है। उसमें अब भेद डालकर, कुछ क्रिया डालकर उसे बताना अशक्य है। ऐसा यह सम्यग्दर्शन निर्विकल्प है। सामान्य दृष्टिसे देखें तब भी और उसके व्यञ्जन लक्षण आदिक अनेक दृष्टियोंसे देखें तब भी वह निर्विकल्प है। भले ही अन्य गुणोंकी तारीफके द्वारा उस सम्यक्त्वकी तारीफ बतायी जायगी। जैसे किसी कमरेमें बिजली जल रही हो और खिड़कीमें से कोई चीज दिख रही है तो उस चीजके दिखनेसे बिजली जलनेका अनुमान कर लेते हैं, लेकिन बिजली जल रही है उसे वह कहा जान पा रहा है ? तो इस लक्षणसे उसके अभिनिबोध हो जाता है, पर वस्तुतः वह सम्यक्त्व गुण निर्विकल्प है।

तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः।
दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥३८२॥

दृष्टान्त द्वारा सम्तक्त्वाभ्युदयमें आत्मप्रसादका कथन—सम्यक्त्व आत्मामें किस प्रकार निर्विकल्पता पैदा करता है ? इस विषयमें यहाँ सूर्यका उल्लेख किया जा रहा है। वैसे सभी लोग जानते है कि जब सूर्यका उदय होता है तो सर्व दिशायें प्रसन्न हो जाती हैं, निर्मल हो जाती हैं, वहाँ अन्धकार नष्ट हो जाता है। तो सब दिशाओंमें जो एक निर्मलता आयी वह निर्मलता यह व्यक्त करती है कि हाँ सूर्यप्रकाश है, दिन है, दिनका वह ज्ञान कराता है। तो जैसे सूर्यका उदय होनेपर सूर्यकी किरणोंके बलसे अन्धकारका नाश हो जाता है और उस समय दशों दिशायें प्रसन्न रहती हैं, ऐसे ही सम्यग्दर्शनकी निर्मलताकी बात अगले श्लोकमें बतावेंगे। दृष्टान्तमें यहाँ इस तत्त्वपर अधिक दृष्टि दी है कि दिशायें निर्मल हो जाती हैं। उसकी निर्मलता इस बातको ध्वनित करती है कि दिन है, प्रकाश है, अंधकारका नाश है। अंधकारके होते संते दिशाओंमें यह निर्मलता नही आती। जैसे सूर्यके निकलते ही समस्त अंधकार विलयको प्राप्त हो जाता है, दशों दिशायें निर्मलताको प्राप्त हो जाती हैं, इसी प्रकार सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यके निकलनेसे अज्ञान अंधकारका विलय हो जाता है, ज्ञानप्रकाशका अभ्युदय हो जाता है। इसी बातका दिग्दर्शन अब इस श्लोकमें देखिये——

दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥३८३॥

दर्शनमोहका उपशम होनेपर सर्वप्रदेशोंमें शुद्धता व प्रसन्नता——उक्त दृष्टान्तकी भांति यहाँ दृष्टान्तमें कह रहे हैं कि दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम होनेपर विलक्षण विकास सम्यग्दृष्टि का हो जाता है——क्या, कि जब सम्यक्त्वका प्रकाश होता है, आत्मामें सम्यक्त्वगुणका उदय

होता है तब आत्मा निर्मलताको धारण करता हुआ प्रसन्नताको प्राप्त होता है। जब-जब भी कोई अप्रसन्नता हो, अपने आपमें दुःखकी अनुभूति हो, कोई चित्तमें कष्टकी बात समझी जा रही हो तो वहाँ समझना चाहिए कि इस समय सम्यक्त्वदेवकी कृपा नहीं चल रही है। सम्यक्त्वदेवकी कृपा बन जाय, उसकी छत्रछायामें निवास रहे और वहाँ फिर आकुलता रहे, विह्वलता रहे, यह बात असम्भव है। भले ही कुछ चिन्ता करनेकी बात सामने आ जाती है, मगर अन्तरङ्गमें यह निर्णय पड़ा हुआ है कि बाहरमें ऐसा हो तो क्या, न हो तो क्या, यह मैं आत्मा तो सबसे अछूता ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, इस प्रकारका उसके भान है तो फिर उसकी आकुलताओंमें भी बड़ा अन्तर है। एक अज्ञानी जीव बाहरी बातोंके अनुकूल न होने पर भी जैसे विह्वल हो जाता है, उसे कुछ होश-हवास ही नहीं रहता। वह अपना विनाश मानता है। ऐसी विह्वलता सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होती। कोई सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है, घरमें उसके स्त्री पुत्र माता पिता आदिक सब हैं, सो उनके वियोगके विछोहके प्रसंग तो उसके सामने आयेंगे ही, किसी न किसी इष्टका वियोग होगा ही तो ऐसी स्थितिमें क्या वह कुछ विह्वलसा न होगा ? होगा, पर उसकी वह विह्वलता ऊपर-ऊपर नाचती रहती है। भीतरमें उसके निराकुल ज्ञानमात्र, सर्वविविक्त अपने आपके अन्तस्तत्वका भान है, जिसके प्रतापसे उसके अन्तरङ्गमें मलीमसता नहीं है। ऐसी बातें कितनी ही ऊपरसे हो जाती हैं फिर भी इसके अपने अन्तःस्वरूपका भान रहता है। यह कैसे माना जाय ? भले ही उसका पता नहीं पड़ रहा है। जैसे मिट्टीके बड़े बर्तनमें जिसे गुरसी कहा करते हैं उसमें भीतर तो आगकी कणिका पड़ी है और उसपर राख लदी हुई है तो भले ही उस राखकी वजहसे वह अग्निकणिका न मालूम पड़े लेकिन वह अग्निकणिका तो वहां है ही। वह अग्निकणिका अन्तः प्रकाशमान तो है ही, ठीक इसी प्रकार यहाँ बहुत-सी घटनाओं और विकल्पोंके कारण इस ज्ञानी पुरुषका अन्तस्तत्व का भान दब जाता है। तो वहाँ ऐसा ही लगता कि मेरा या इसका कुछ भी विकास यहाँ नहीं है। तो कैसे यह कहा जाय कि अन्तः कुछ भी नहीं है ? तो यों इस सम्यग्दृष्टि आत्मा पर गृहस्थावस्थामें या अन्य किसी प्रमत्त अवस्थामें बाहरी कुछ बात आवरणकी छा गई, उसका भान दूसरेको नहीं दिखता और यहाँ तक कि खुदके भी उपयोगमें नहीं आता, इतना होने पर भी उस सम्यग्दृष्टिके अन्तःमें अन्तस्तत्वका भान बना हुआ है, इस बातको तो भुक्तभोगी जानता है। जो उसमें परिणत हुये हैं और जिनपर वह बात बीती है वे ही समझ सकते हैं इस सम्यक्त्वकी महिमाको। तो जब वह सारा आवरण खतम हो जाता है और सम्यक्त्वका वहाँ उदय होता है तो वह सब अज्ञान अंधकार दूर हो गया। वहाँ जाज्वल्यमान ज्ञानप्रकाश रहता है, उसके अन्तः प्रसन्नता रहती है।

सम्यक्त्वका अर्जन होनेपर असुविधा व संकटोंकी समाप्ति—लोग चाहते हैं कि मैं

इतनी कमाई कर लूं कि फिर मुझे किसी प्रकारकी तकलीफ न रहे, कोई असुविधा न रहे। जैसे—मैं ऐसा मकान बनवालूं ताकि फिर मुझे कोई असुविधा न रहे अथवा कोई दुकान या कोई कम्पनी या कोई कारखाना इस ढंगका खोल लूं कि जिससे फिर कोई असुविधा न रहे। अरे इन कामोंके कर लेनेसे असुविधायें दूर न होंगी। असुविधायें तो दूर होंगी भेदविज्ञान और सम्यक्त्वका काम करनेसे। इससे फिर कभी भी आगे असुविधायें न रहेंगी। ये असुविधायें क्या हैं? जहाँ कोई मनमें पापकी बात सम्भव है वहाँ असुविधायें हैं। जहाँ पापोंसे हटा हुआ शुद्ध चित्त है वहाँ काहेकी असुविधा। बाहरकी अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्थितियाँ ये कोई असुविधायें नहीं हैं। पहिले प्रतिकूल स्थितियोंकी ही बात देख लो।

सुकुमाल, सुकौशल जैसे महापुरुषोंपर कैसे-कैसे भयंकर उपसर्ग आये? शेरनी भखे, मांस लोथे, पंजोंसे मार-मारकर शरीरका विदारण करे, ये कोई उनपर कम प्रतिकूल स्थितियाँ थीं क्या? लेकिन ऐसे भयंकर उपसर्गके समय भी उन सुकौशलकी अन्तः स्थिति क्या थी, उसको तो उनका ही आत्मा जानता होगा? लेकिन इतनी कठिन प्रतिकूल स्थितियोंमें भी वे रंच भी अपने आत्मस्वरूपसे चिगे नहीं, तो फिर बताइये उस समय उन्हें कोई असुविधा थी क्या? रंच भी असुविधा न थी। धन्य है वह आत्माका शुद्ध स्वरूप कि जिसके आग्रहकी महिमाको तो देखिये, जिसने अपने अमूर्त ज्ञानमात्र अन्तःस्वरूपमें ही आग्रह किया है। यही मात्र मैं हूं, इसके अतिरिक्त सब बाह्य है। बाह्यपदार्थ चाहे छिदें-भिदें, किसी भी अवस्थाको प्राप्त हों, वह मेरा परिणमन नहीं, उनसे मुझमें कुछ आता नहीं। ऐसी जिनकी एक शुद्ध आत्मतत्त्वपर दृष्टि दृढ़तर बन गई है उनके लिए असुविधायें क्या? यहाँ तो लोग जरा-जरासी बातमें कह उठते हैं कि हमें तो बड़ी असुविधायें हैं।····अरे क्या असुविधायें हैं?···मेरे पास आरामके साधन नहीं हैं?···अरे यह भी कोई असुविधा वाली बात है क्या? उन सुकुमाल सुकौशल जैसी उपसर्गकी हालत तो कहीं हम आपपर नहीं आ रही है? अभी कोई यहाँसे बाजार जा रहा हो और बारिश चालू हो जाय तो छातेसे या बिना छातेके बाजार हो आयेंगे तब तो कहेंगे कि मुझे कोई असुविधा नहीं, पर कहीं जिस आरामके कमरेमें आरामसे बैठे हों उसमें किसी कोनेमें एक-आध बूंद टपकने लगे तो झट घबड़ाकर कह उठते हैं कि हमें बड़ी असुविधा है?····अरे वहाँ क्या असुविधा है? वह तो एक आपकी कल्पनाकी बात है। ऐसा ज्ञानी पुरुष जिसे अपने अन्तःस्वरूपका निर्णय हुआ है उसे कहीं कोई असुविधा नहीं है। ये असुविधायें तो वहाँ ही रहा करती हैं जहाँ कुछ अपने आत्मस्वभावके विपरीत अपना आशय बनाया गया हो। जहाँ पापभरा अभिप्राय होता है वहाँ सारी असुविधायें नाचने लगती हैं, और जहाँ पाप शान्त हो जाते हैं उसको कहीं कोई असुविधा नहीं। तो इस पापसे, इस मिथ्यात्वसे बढ़कर पाप क्या है? मिथ्यात्वके उदयमें सब असुविधायें हैं। चाहे कोई करोड़-

पति हो जाय, चाहे कोई कितना ही धनिक बन जाय, पर जब तक उसके मोह है, मिथ्यात्व बसा हुआ है तब तक उसके लिए सब जगह असुविधायें ही हैं। और जिसमें मिथ्यात्वका उपशम हो गया है उसको ज्ञानप्रकाश ऐसा मिला है कि जिस ज्ञानबलके द्वारा उसके लिए कहीं कोई असुविधा नहीं मिलती। मेरेमें विकल्प आयें, बस यही मेरे लिए असुविधा है और मैं अपने इस निर्विकल्प स्वरूपका दर्शन करूँ तो बस मेरे इस कार्यमें मेरे लिए कहीं कोई असुविधा नहीं।

यथा वा मद्यधत्तूपाकस्यास्तंग तस्य वै।
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्च्छितः ॥३८४॥

दर्शनमोहके उदय व अनुदयमें जीवके मूर्च्छित व अमूर्च्छित रहनेके सम्बन्धमें दृष्टान्त— जैसे किसी पुरुषने मदिरा या धतूरा पी लिया है तो जब उसका विपाक आता है अर्थात् उसके विषैले अनुभागका विपाक आता है तो उस समय पुरुष मूर्छित हो जाता है और जब उसका नशा उतर जाता है, उसकी शक्ति अस्तंगत हो जाती है तो वही पुरुष सुधमें (होशमें) आ जाता है। तो यहाँ इस दृष्टान्तमें यह बात जानना है कि कैसा निमित्तनैमित्तिक भाव है कि मद्यपान अथवा धतूरेके भक्षणसे ज्ञान भी मूर्छित हो जाता है? कहाँ तो ज्ञान अमूर्तिक है और वह मद्यपानसे मूर्छित हो गया। यहाँ यह दृष्टान्त बताया जा रहा है कि जैसे धतूरा खानेसे अथवा मद्यपान करनेसे जब उसका अनुभाग विपाकमें आता है तो उस समय मनुष्य मूर्छित हो जाता है और जब वह विपाक समाप्त हो जाता है तब वह मूर्छारहित हो जाता है तो यहाँ मद्यपान अथवा धतूरेके भक्षणने, उसके संयोगने ज्ञानको मूर्छित नहीं किया, पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि उसका निमित्त पाकर जो ज्ञानके साधन हैं इन्द्रिय और मन उनमें बिगाड़ होता है, और इन्द्रिय, मनमें बिगाड़ होनेके कारण फिर ज्ञानमें बेहोशी आती है। यद्यपि दृष्टान्त ऐसे ही सीधे दिए जाते हैं कि देखो धतूरेका भक्षण किया तो उससे ज्ञान बेहोश हो गया। हो तो गया बेहोश और उसका वह एक कारण भी हुआ, परंतु किस विधिसे ज्ञान बेहोश हुआ कि उसका निमित्त पाकर यहाँ इन्द्रियमें अन्तःकरणमें असर हुआ और उस असरने यह ज्ञान मूर्छित हुआ, और जब उस धतूरेका विष असंगत हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है, जब वह निवृत्त हो जाता है तो वह पुरुष मूर्छारहित हो जाता है। जैसे दृष्टान्तमें ये दो दिशायें बतायी गई हैं उसी प्रकार प्रकृत दृष्टान्तमें भी सुनो—

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः।
प्रशान्ते त्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥३८५॥

दर्शनमोहके उदयसे मूर्च्छा, वैचित्य एवं भ्रम और दर्शनमोहके प्रशान्त होनेपर मूर्च्छा नाश हो जानेसे जीवकी निरामयता— दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवके मूर्छा आती है,

वहाँ वैचित्य हो जाता है अर्थात् उसका चित्त ठिकाने नहीं रहता और हर जगह भ्रम मानता रहता है। दर्शनमोहनीय प्रकृति ही वह कहलाती है कि जिसके विपाकमें दृष्टिमें व्यामोह हो जाय। जैसे वस्तु कुछ है और दिखे कुछ। पीलिया रोग वालेको जैसे प्रत्येक पदार्थ पीला ही पीला दिखा करता है, ऐसे ही दर्शनमोहके उदय वालेको प्रत्येक पदार्थ इष्ट अनिष्ट आदिक रूपसे ही निरखनेमें आता है तो यों दर्शनमोहनीयके उदय होनेसे मूर्छा हुई, भ्रम हुआ, वैचित्य हुआ, और जब दर्शनमोहनीय नष्ट हो गया तो उसकी मूर्छा नष्ट हो गयी और यह जीव निरामय हो जाता है। जीवमें रोग क्या लगा ? रोग विकल्प, रागद्वेष, यह ही धुन लगी हुई है और इस रोगसे रुग्ण होता हुआ वास्तवमें जीव रोगी है और जब यह रोग समाप्त हो गया तो निरामय स्वरूप हो जाता है। तो दर्शनमोह एक निमित्तभूत प्रकृति है और उसके उपशम में होने वाली विकासविशेषता यहाँ बतायी जा रही है।

श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥३८६॥

तत्त्वार्थश्रद्धान आदिकमें सम्यग्दृगात्माके बाह्य लक्षणत्वका निर्देश—इस प्रसंगमें सर्व प्रथम यह संकल्प किया था कि सम्यग्दर्शनके कुछ लक्षण बतायेंगे तो उनके बतानेसे पहिले चूंकि सम्यग्दर्शन एक अलौकिक तत्त्व है और उसके लक्षण यों सीधे शब्दोंसे बताये नहीं जा सकते हैं तो उसका वर्णन कुछ विस्तारपूर्वक करना होता है। तब सम्यग्दर्शनके लक्षणकी सही बात समझमें आती है। जो सम्यक्त्व इस संसार-सागरसे पार कर दे उसका लक्षण यदि यों ही सभीको सीधे सुगम समझमें आने लगे तो कठिनाई क्या रही ? तो जैसे सम्यक्त्व एक निर्विकल्प गुण है, कल्याणकारी धर्म है तो उसका लक्षण जब चित्त विशुद्ध हो और उस रूप कुछ अपना प्रयोग बनता हो तब ध्यान आयगा और सीधे लक्षण तो सम्यक्त्वके मिलेंगे नहीं, किन्तु वे सब ज्ञान द्वारा ज्ञानकी विशेषताओंसे समझे जायेंगे। तो ऐसे सम्यक्त्वके लक्षण बतानेसे पहिले सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारण बताये हैं। अब लक्षणपर विचार कर रहे हैं कि सम्यग्दर्शनके लक्षण श्रद्धान् आदिक गुण बताये गए, किन्तु वे सम्यग्दृष्टिके बाह्य लक्षण हैं। श्रद्धान ही स्वयं सम्यक्त्व नहीं है, ये तो ज्ञानकी पर्यायें हैं। जीवादिक पदार्थ जिस तरहसे अवस्थित हैं उस प्रकारसे श्रद्धान करना। इस श्रद्धानका क्या अर्थ ? उसी तरहसे भली भाँति दृढतापूर्वक ज्ञान करना वही तो सम्यक्त्व बताया गया है। तो श्रद्धान भी ज्ञान की ही पर्याय है। उस सम्यक्त्वकी सही पर्याय क्या है ? उसको कहने वाला कोई शब्द नहीं है और ऐसा ज्ञान मुखेन ही वर्णन क्यों किया है कि सम्यक्त्व गुणका कहनेका ज्ञानका आश्रय किए बिना कोई उपाय नहीं है। ऐसा हुआ क्यों ? इसका विवेचन आगे स्वयं किया जायगा। यहां वह बतला रहे हैं कि श्रद्धान् सम्यक्त्व नहीं है और इस-इस प्रकारसे जो-जो

भी सम्यक्त्वके लक्षण शब्दों द्वारा बताये गए हैं वे सीधे स्वयं सम्यक्त्व नहीं हैं। हाँ सम्यक्त्वके होने पर ऐसा हुआ करता है। यह बात तो सही है, पर यही स्वयं सम्यक्त्वका स्वरूप हो, सो बात नहीं है। वर्णन तो इसी तरह आयेंगे और ग्रन्थकार भी आगे चलकर इसी तरह वर्णन करेगा, किन्तु यहां परमार्थतः स्वरूपकी बात कही जा रही है। सूत्र जी में भी बताया है कि तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। तो बताया तो अवश्य है, परन्तु वास्तवमें ज्ञान भी वही है कि जीवादिक पदार्थ जैसे हैं वैसे हों। अरे सम्यक्त्व भी यही है कि जैसा है वैसा ही श्रद्धान करे तो यह लक्षण ज्ञानरूप ही पड़ा, और भी अनेक लक्षण कहे गए हैं—देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, वह सभी ज्ञानरूप पड़ता है। वस्तुतः सम्यक्त्व कोई सीधे ऐसा लक्षण नहीं है जिससे सम्यक्त्वकी पहिचान कर ली जाय। और भी देखिये—

अपि चित्सानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात्।
अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥३८७॥

ज्ञानपर्ययत्व होनेसे स्वात्मानुभूतिकी भी सम्यक्त्वके प्रति बाह्य लक्षणता—आध्यात्मिक ऋषि संतोंने यह बताया है कि आत्मानुभवको सम्यक्त्व कहते हैं। ज्ञानानुभूतिका नाम सम्यक्त्व है। इससे और अन्तरङ्ग लक्षण क्या बताया जाता, लेकिन यह भी ज्ञानरूप ही पड़ रहा है। आत्मानुभूति, ज्ञानानुभूति, स्वानुभूति ये सब क्या हैं ? ज्ञानके ही तो परिणमन हैं, क्योंकि आत्माका अनुभव करना, ज्ञान करना, प्रत्यक्ष करना ज्ञानकी पर्याय है। आत्मानुभूतिका अर्थ क्या है ? आत्माका सहज स्वरूप जिस प्रकार है उस प्रकारसे उसका भली-भाँति परिचय करना, जानते रहना, यही तो आत्माका अनुभव है। तो आत्मानुभव भी ज्ञानकी ही पर्याय है। तो ज्ञानरूप होनेसे यह भी सम्यक्त्वका साक्षात् लक्षण नही बनता है। तो इसे भी केवली भगवान बाह्य लक्षण बतलाते हैं। लक्षण तो कुछ जानने हो होंगे। किस तरह हम पहिचानें कि यह सम्यक्त्व गुण है, इस जीवके सम्यक्त्व है। तो स्वानुभूति हो, ज्ञानानुभूति हो, यह जानने वाला ज्ञान और इस ज्ञानमें जो जाना गया वह भी हो सहज ज्ञानस्वरूप, इस तरह सहज ज्ञानस्वरूपका जो सहज ज्ञान हो रहा है वह हुआ ना सम्यक्त्व। उसीको कहते हैं ज्ञानानुभूति। तो हुआ क्या वहाँ ? ज्ञान ही हो रहा है। ज्ञानके द्वारा हम समझ रहे हैं तो यह भी ज्ञानकी ही पर्याय है। देखिये—आत्मानुभवके अतिरिक्त और अन्तरङ्ग चिह्न क्या बताया जाय, किन्तु यह भी ज्ञानकी पर्याय हुई। तो यहां ऐसी शंका न करें कि आचार्योंने फिर जितने लक्षण बताये हैं उनका यह ग्रन्थकार क्या खण्डन कर रहा है ? खण्डन नहीं कर रहा है, स्वयं इस ही बातको आगे कहा जायगा, किन्तु यहां यह बतलाया जा रहा है कि ज्ञान द्वारा सम्यक्त्वका वर्णन होता है और ज्ञानकी पर्याय रूपसे सम्यक्त्वका लक्षण किया

जाता है। सम्यक्त्व स्वयं निर्विकल्प वचनगोचर गुण है। उसका साक्षात् लक्षण नहीं बताया जा सकता है। तो यों सम्यक्त्व दुर्लक्ष्य है अर्थात् साक्षात् लक्षणके द्वारा लक्ष्यमें नहीं आ सकता है। इसी बातको अगले श्लोकमें कह रहे हैं।

यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो स्थूललक्षणैः।
वा मनः कायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥३८८॥

बाह्य लक्षणोंसे नीरोगता परिचयकी तरह श्रद्धानादि बाह्य लक्षणोंसे सम्यक्त्वका परिचय—जिस प्रकार रोगीकी निरोगता जानना बहुत कठिन है। भला किसी निरोग पुरुषकी उस निरोगताका साक्षात् दर्शन करके तो बताइये—जैसे यह शरीर साक्षात् दिखता है ऐसे ही यह निरोगता भी साक्षात् दिखने वाली चीज है क्या ? और अगर कोई निरोगताको बतावेगा तो समझिये कि वह मन, वचन, कायकी चेष्टाओंमें उत्साह बनाये हुए है, इसको देखकर बतायेगा कि यह नीरोग है, क्योंकि जो रोगी होता है उसका मन भी कुन्द रहता है, वचन भी उसके शिथिल रहते हैं और शरीर भी उसका शिथिल रहता है। उससे पहिचाना जाता है कि यह पुरुष निरोग नहीं है, रोगी है। तो निरोगताका साक्षात् लक्षण भी कोई बता नहीं सकता। अगर कोई बतायेगा तो मन, वचन, कायकी चेष्टाओंसे बतायेगा। तो जैसे निरोगता सीधे ज्ञानमें नहीं आती वह तो मन, वचन, कायकी स्वच्छ प्रबल चेष्टाओंसे विदित होती है, इसी प्रकार सम्यक्त्व परिचयका सीधा कोई लक्षण विदित न होगा, किन्तु वह ज्ञानकी विशुद्ध परिणति द्वारा लक्ष्यमें लाया जाता है।

नन्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम्।
सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ॥३८९॥

शंकाकार द्वारा आत्मानुभूतिको ही सम्यक्त्वका साक्षात् लक्षण सिद्ध करनेका कथन—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि वास्तवमें आत्मानुभूति ही साक्षात् सम्यक्त्व है, क्योंकि आत्मानुभूति, ज्ञानानुभूति मिथ्यादृष्टि पुरुषके नहीं हुआ करती। वह तो सम्यग्दृष्टिके ही हो सकती है। तो इससे यही तो सिद्ध हुआ कि सम्यक्त्वका लक्षण आत्मानुभूति है। आत्मा अपने सत्त्वके कारण जैसा सहज स्वरूप रख रहा है, ऐसा आत्मपदार्थ अनुभवमें आ जाय, यह हूं मैं, इस प्रकारकी प्रतीति हो जाय, इसको कहते हैं आत्मानुभूति। तो ऐसी आत्मानुभूति मिथ्यादृष्टिके तो नहीं होती, क्योंकि वह तो पर्यायबुद्धि वाला जीव है। किसी भी पर्यायको वह अहं रूपसे (मैं रूपसे) अनुभव करेगा। मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं रंक हूं, मैं राजा हूं, मैं पंडित हूं, मैं मूर्ख हूं,⋯इस तरहसे पर्यायरूप वह अपनेको अनुभवेगा। वह सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें अपनेको कहाँ पहिचानता है ? तब आत्मानुभूति ही सम्यक्त्व है, ऐसा कहना चाहिए। इसे फिर बाह्य लक्षण क्यों कहा गया है कि यह भी ज्ञानकी पर्याय है और उसका बाह्य लक्षण

है। अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं—

नैवं यतोऽनभिज्ञोसि सत्सामान्यविशेषयोः।
अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥३९०॥
आकारोर्थविकल्पः स्यादर्थ स्वपरगोचरः।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥३९१॥

सामान्य, विशेषमें तथा साकारता, निराकारतामें भेद ज्ञात न होनेसे शङ्काकारकी उक्त शङ्काकी असंगतता—उक्त शंकाके समाधानमें कह रहे हैं कि जो शंकाकारने शंका की है कि आत्मानुभूति सम्यक्त्व है, उसे ज्ञानकी पर्याय क्यों कहते हो ? तो शंकाकारने वास्तविक मर्म नहीं पहिचाना है। शंकाकारने यहाँ सामान्य और विशेषमें भेद नहीं समझ पाया है और न इस शंकाकारको अनाकार और साकार चिह्नका भी बोध है। तो सामान्य, विशेष, अनाकार, साकार इनके स्वरूपका बोध न होनेपर इस तरहकी शंकायें उठ जाया करती हैं, पर ज्यों ही यह ठीक समझमें आयगा कि अनाकारका यह स्वरूप है, साकारका यह स्वरूप है अथवा सामान्यका यह रूप है, विशेषका यह रूप है, तो शीघ्र समझमें आयगा कि आत्मानुभूति भी ज्ञानकी पर्याय है। क्या कि जो यह विकल्प है अर्थविकल्प, अर्थग्रहण, कुछ अस्तित्वरूपसे समझा गया है ना तो वह ज्ञानकी हो पर्याय है।

ज्ञानका अर्थविकल्परूप साकारत्व—आत्मानुभूतिका ज्ञानपर्ययत्व इस तरह समझमें आयगा कि देखिये—ज्ञान होता है साकार और दर्शन होता है निराकार। तो यहाँ आकारका अर्थ तिकोना, चौकोना, गोल-मटोल आदि नहीं है, किन्तु अर्थविकल्प, अर्थका परिज्ञान, जानन रूपसे जो वहाँ अस्तित्वका परिचय हो रहा है वह कहलाता है आकार। तो अर्थविकल्पका नाम आकार है, और विकल्प है उपयोगी अर्थात् उपयोगसहित जो अवस्था है वहाँ विकल्प है सो ज्ञानका लक्षण है। इस बातको कुछ दार्शनिक दृष्टिसे भी देखियेगा। दर्शनशास्त्रमें बताया है कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय हो, सो ज्ञान है। तो ज्ञानमें निश्चय पड़ा हुआ है, और जहाँ निश्चय है वहाँ कुछ मुद्रा तो है ही इत्याकार, यह पदार्थ है, इस ढंगमें यह वस्तु है। तो वहाँ वह आकार आ गया। आकारका अर्थपरिचय, परिज्ञान, कोई बात थाप सके यह है। इस तरहकी बात जहाँ होती हो उसे आकार कहते हैं। जैसे कोई कहता है कि अमुक काम करना चाहिए, उसका बहुतसे लोग मिलकर प्रस्ताव करते हैं, समर्थन करते हैं तो कोई यह कहता है कि अब इस बातको साकार बनाओ ? तो क्या उसका यह भाव है कि इसे तिकोना चौकोना रूप बनाओ। जैसे किसीने यह प्रस्ताव रखा कि धर्मकी प्रभावना करनेके लिए बच्चोंके अध्ययनकी व्यवस्था बनाओ। एकने उसका समर्थन किया तो एक कहता है कि ऐसे प्रस्ताव तो अनेक बार हो चुके हैं। अब तो इसको साकार बनाओ। तो कोई वहाँ गोल

मटोल अथवा तिकोना चौकोना आदि रूप बनाना है क्या ? अरे उसको साकार बनानेका मतलब यह है कि जो कहा है उस कामको अब कर डालो। अब यहाँ देखिये ज्ञानके सम्बन्ध में साकारता क्या कहलायगी ? जहाँ यह निश्चय हो गया, निर्णय हो गया कि बस यह है, इस निर्णय को ही साकारता कहते हैं। तो यही आकार ज्ञानका लक्षण है। पदार्थोंको भेद रूपसे जाना, सामान्यरूपसे जाना, जहां यह है, इस प्रकारका रूप बनता है, मुद्रा होती है, बोध होता है उसको आकार कहते हैं याने पदार्थोंके जाननेका ही नाम आकार कहलाता है। जहाँ आकार होता है वहाँ संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय नहीं रहता। जहाँ वास्तविक अर्थ विकल्प हो, जैसा कि वह पदार्थ है, वहाँ न तो संशय रहता कि यह ऐसा है कि ऐसा है, न विपर्यय रहता कि हो कुछ, जाने कुछ और न अनध्यवसाय रहता, यह है एक सम्यग्ज्ञानकी बात, लेकिन ज्ञान कोई भी हो, स्वयं संशयमें भी आकार पड़ा हुआ है, विपर्ययमें भी आकार पड़ा हुआ है, और तो जाने दो, अनध्यवसायमें भी आकार पड़ा है। जहाँ जिस ढंगका आकार है, जहाँ जिस ढंगकी बात है वहाँ उस ढंगकी ही समझ लेना चाहिए। संशयमें अनेक कोटिमें फिरने वाले ज्ञान हैं और उसका बोधमय आकार भी संक्रान्त हो रहा है, विकल्प भी क्षण-क्षण मुड़ रहा है, यहाँसे वहाँ पहुंचता रहता है, इस ढंगका आकार चलता रहता है तो विपर्यय ज्ञानमें विपरीत रूपसे आकार आया है। पदार्थ है कुछ और समझ बैठे और ही कुछ। इस तरहसे विपरीन आकार आया है और अनध्यवसाय है वहाँ भी कुछ ग्रहण है, कुछ है, कुछ तो मनमें बात आयी, किसी प्रकारका आभास तो हुआ। भले ही हम उसे आगे न बढ़ा सकें, स्पष्ट न कर सकें, किन्तु वहाँ जो भी समझा गया है वह उतना ही वहाँ आकार है। तो ज्ञान जितने भी होते हैं उनमें उतने अर्थविकल्प होते हैं। तो आत्मानुभूतिमें आप समझ लोगे कि यहाँ भी किसी न किसी ढंगमें अर्थविकल्प हो रहा है। अतः निर्विकल्प रूपसे तो वे ज्ञानकी पर्यायें है। उस आत्मानुभूतिको भी सम्यक्त्वका साक्षात् लक्षण नहीं कह सकते।

नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥३९२॥

अनाकारताका विवरण—यह प्रकरण शंकाकारकी एक शंकाके समाधानके लिए चल रहा है। शंकाकारकी शंका थी कि आत्मानुभव तो साक्षात् सम्यक्त्व है। उसे सम्यक्त्वका बाह्य लक्षण क्यों कहा जा रहा है ? इससे पहिले सम्यक्त्वके लक्षणोंमें जितने भी लक्षण प्रसिद्ध हैं, श्रद्धान हो, आत्मानुभव हो, सभी बाह्य पदार्थ हैं, ये साक्षात् सम्यक्त्वके स्वयं लक्षण नहीं हैं, सम्यक्त्वकी परिणति नही, ये हैं अन्य गुणके परिणमन, किन्तु उनका उपचार किया गया है। ऐसे ही इस आत्मानुभूतिको भी कह डाला था तो यहाँ शंकाकारने यह आपत्ति दी कि आत्मानुभव तो साक्षात् सम्यक्त्व है, क्योंकि मिथ्यादृष्टिके आत्मानुभव होता ही नहीं है, इसे क्यों सम्यक्त्वका बाह्य लक्षण कह रहे हो ? उसके समाधानमें यह बात बतलायी गयी

थी कि शंकाकारने सामान्य विशेषमें अन्तर नहीं समझा और अनाकार साकारमें अन्तर नहीं समझा, इस कारण यह शंका उत्पन्न हुई है। तो अनाकार और साकार इन दोनोंका स्पष्टीकरण करनेके लिए पूर्व श्लोकमें तो आकारका स्पष्टीकरण किया गया था कि आकार है अर्थविकल्प और वह होता है स्वपरविषयक। अब इस इस श्लोकमें अनाकारका स्पष्टीकरण किया जा रहा है। जो आकारका स्वरूप कहा गया था वह आकारस्वरूप न रहे, इसका नाम है अनाकार। आकारके न होनेको अनाकार कहते हैं। आकारका अर्थ था अर्थविकल्प। अर्थविकल्प न होनेका नाम अनाकार है अर्थात् निर्विकल्प। जहाँ परिचय नहीं, परिज्ञान नहीं, आकारग्रहण नहीं, ऐसी स्थितिको कहते हैं अनाकार। तो यह निर्विकल्पता कहो या कहो अनाकारता, यह अनाकारता ज्ञान छोड़कर बाकी सब आत्मधर्मोंमें पाया जाता है। आत्मामें अनन्त धर्म माने गए हैं। उनमें केवलज्ञान ही तो ऐसा है कि जिसमें अर्थविकल्प होता है, पदार्थपरिग्रहण होता है, जानना होता है, उसके अतिरिक्त जितने भी धर्म है वे सब अनाकार कहलाते हैं, क्योंकि कोई भी धर्म हो, श्रद्धान हो, चारित्र हो, अस्तित्वादिक हों, साधारण असाधारण अन्य सभी धर्म (ज्ञानोंको छोड़कर) सब अनाकार कहलाते हैं, क्योंकि वे स्वयं कुछ चेतते नहीं हैं, वे सब चैत्यभाव हैं।

नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सत्सामान्यं विशेषवत्।
तत्किं किञ्चिदनाकारं किञ्चित्साकारमेव तत् ॥३९३॥

ज्ञानातिरिक्त अन्य आत्मगुणोंको अनाकार कहनेके कारणकी जिज्ञासा—अब यहां शंकाकार कह रहा है कि सत् सामान्य हो वह भी तो विशेषकी तरह वास्तविक है। प्रकरणके अनुसार यहां सत् सामान्यका अर्थ ले लीजिए—ज्ञानको छोड़कर अनन्तधर्म, क्योंकि वे केवल सत्‌रूप हैं, चहलपहल करने वाले नहीं हैं, जानने समझने वाले नहीं हैं, अर्थात् जहां चहलपहल नहीं उसमें वहां विशेषता क्या आयगी ? विशेषता तो ज्ञानमें आती है। तो यहां सत् सामान्यको कह लीजिए ज्ञानातिरिक्त, शेष धर्म और विशेषको कह लीजिए ज्ञानधर्म। तो शंकाकार यहां कह रहा है कि सत् सामान्य भी तो विशेषकी तरह वास्तविक है। आत्मामें जैसे ज्ञानगुण है उसी प्रकार अन्य पदार्थ भी हैं, फिर उनमेंसे किसीको अनाकार कहना और किसीको साकार कहना भी कठिन हो जाता है। शंकाकारकी शंकाका आशय इतना ही है कि जैसे ज्ञानधर्म न हो आत्मामें तो आत्माका सत्त्व न रहेगा, इसी तरह शेष अनन्त धर्म भी ऐसे हैं जो कि वास्तविक सत्त्वके सूचक हैं, उनमें से यदि कोई न रहेगा तो आत्माका सत्त्व न रहेगा। जैसे मान लो आत्मामें एक अमूर्तत्व गुण है, भले ही वह साधारण असाधारण है, पर है तो सही। जरा ऐसा सोच लो कि आत्मामें सारे गुण तो मौजूद हों और एक अमूर्तपना हट जाय तो वे गुण सब भद-भद गिरकर खतम हो जायेंगे। इसी तरह

साधारण भी, असाधारण भी सभी धर्म इसमें वास्तविक हैं। फिर विशेषको तो साकार कह रहे हो, ज्ञानको तो साकार बता दिया और शेष धर्मोंको अनाकार बता दिया, यह अन्तर कैसे आ सकता है, सो बताओ। अब इस शंकाका समाधान अगले श्लोकमें कहा जा रहा है—

सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत्।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥३९४॥

सामान्यकी अनाकारता व विशेषकी साकारताका विवरण—उक्त शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यद्यपि यह बात ठीक है कि पदार्थ सामान्यवान भी है और विशेषवान भी है, लेकिन सामान्य अनाकार होता है और विशेष साकार होता है। यहाँ मुख्य अर्थकी ध्वनिके साथ गौण अर्थ भी ध्वनित हो रहा है। गौणको ऐसा समझ लीजिए कि सामान्य और विशेष है पदार्थमें लेकिन सामान्य तो अनाकार होता है और विशेष साकार। जैसे सामान्य जाति, यह तो सामान्य है और एक-एक मनुष्य यह विशेष है। तो व्यक्तिगत एक एक मनुष्य वह आकारवान है कि नहीं? मनुष्यजातिका कोई आकार नहीं। यदि मनुष्य जातिका आकार बतायेंगे तो व्यक्तिका आकार बताकर कह सकेंगे कि ऐसा सभी मनुष्योंका आकार है, लेकिन मनुष्यजाति तो एक है, उस एक मनुष्य जातिका आकार बताओ। तो यहां भी यह बात बनती है कि सत्सामान्य तो अनाकार होता है और विशेष साकार होता है और भी विस्तृत दृष्टिमें जाइये तो सारा जगत यह तो हुआ सत्सामान्य, जिसे कहा महासत्ता, और जो एक एक द्रव्य है वह है विशेष, तो विशेषमें तो आकार है, प्रदेशवान भी है आवान्तरसत सब प्रदेशवान हैं, पर जरा महासत्ताको बताओ उसके कितने प्रदेश हैं? महासत्ता प्रदेशवान चीज तो नहीं है, वह तो समस्त आवान्तर सत्ताओंको निरखकर एक जाति रूपमें कहा गया है। यों अन्य जगह भी यही अर्थ लगायें कि सत् सामान्य अनाकार है और विशेष साकार है। अब जरा प्रकृतमें भी देखिये—तो यह सत्सामान्य निराकार है और विशेष साकार है याने ज्ञान अर्थविकल्परूप है, उसमें विशेपता है, साकार है और अन्य धर्म अनाकार हैं। जैसे चारित्र श्रद्धा आदिक गुण ये तो चेतने वाले नहीं हैं, इनकी बात तो अनाकार है। ये अन्य धर्म अनाकार हैं, यह भी जल्दी स्पष्ट हो जायगा। अब चेतने वाले एक दर्शन गुणको ही ले लीजिए। चेतने वाले दो तत्त्व हैं—दर्शन और ज्ञान। उसमें भी दर्शन निराकार है और ज्ञान साकार है। तो इस तरह भी यह जाना जाता है कि सत्सामान्य अनाकार हुआ करता है तो जैसे दर्शन अनाकार है इसी तरह समस्त धर्म भी ज्ञानातिरिक्त जितने हैं वे सब अनाकार हैं। सारांश यह है कि पदार्थका जो बोध करने वाला विकल्प है वह साकार कहलाता है। दूसरी बात इस तरह भी जान सकते हैं कि ज्ञानमें वस्तुके विशेषण, विशेष्य, सम्बंधका निर्णय होता है, इस कारण वह साकार है। जहाँ किसी पदार्थको जाना और जाननेके साथ ही यह जाना

कि यह चौकी है, देखिये—यह स्थापनानिक्षेप हो गया। चौकीको चौकी जाना। ज्ञानकारी में स्थापना पड़ी हुई है। कुछ समझे और उसमें यह कहे कि यह चौकी है तो क्या एक पदार्थ में चौकीपन स्वभावमें पड़ा है? पदार्थ तो जो है सो है, उसमें "यह चौकी है" यह स्थापना की गई। इस तरह जितना हम परिज्ञान करते हैं उसमें विशेष्यविशेषणभाव साथ लगे हुए हैं। जिसको जाना वह विशेष्य है और जिस ढंगसे जाना वह विशेषण हो गया। एक ही पदार्थमें एक ही परिज्ञानमें विशेषणविशेष्य सम्बन्ध पड़ा हुआ है। इत्याकार ही बोध है परिज्ञानका। इस कारण भी यह साकार है और अन्य गुण निराकार है, इस तरहकी शंकाके उत्तरमें जिस शंकामें, शंकाकारने यह कहा था कि आत्मानुभूतिमें तो सम्यक्त्व कह लीजिए। उसे क्यों बाह्य लक्षण कह रहे? उसके समाधानमें साकार अनाकारका परिचय कराना था तो यहां साकार अनाकारका यह परिचय कराया गया है। अब इसी परिचयका और स्पष्टीकरण करते हैं।

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ता सल्लक्षणाङ्किताः।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥३९५॥

ज्ञानातिरिक्त शेष धर्मोंकी अनाकारताका कथन—ज्ञानके सिवाय शेष सारे गुण सन्मात्र कहे गए हैं। सत् लक्षण करके अंकित किये गये हैं याने इस विवेचनमें सत् सामान्य शब्दसे क्या लेना? ज्ञानको छोड़कर शेष सब धर्म और विशेष शब्दसे क्या लेना? ज्ञान। तो उन शेष अनन्त धर्मोंमें कुछ तो साधारण धर्म भी हैं और कुछ विशेष धर्म भी हैं, हैं वे सभीके सभी निर्विकल्प। आत्मामें अनन्त धर्म बताये गए हैं—उन धर्मोंमें ज्ञान तो साकार धर्म है और शेष निराकार धर्म हैं, उन शेष धर्मोंमें कुछ तो हैं काधारण धर्म, जो अन्य द्रव्यों में भी पाये जा सकते हैं, जो न किए जायें, जिनका सम्बन्ध अन्य द्रव्योंमें भी पाया जाता है। ऐसा नहीं है कि आत्मामें जो अस्तित्व गुण पाया जा रहा वह पुद्गलमें भी पाया जा रहा, पर सामान्य गुण हैं साधारणका यह अर्थ नहीं। यह तो फिर एक ऐसा विशेषवादका प्रसंग आ जायगा कि गुण एक है, सर्वव्यापक है और उस अस्तित्वका जिसमें समावेश हो गया है तो, सत् हो गया है तो, यों साधारण गुण और असाधारण गुण, कोई भी व्यापक गुण नहीं है। हाँ अपने द्रव्यमें व्यापक है तो उन साधारण गुणोंके समान साधारण गुण अन्यमें भी पाये जाते हैं ती ऐसे भी धर्म हैं और असाधारण धर्म हैं किन्तु वे सब हैं अनाकार। ज्ञानके सिवाय सभी गुण अपनी सत्ता लक्षण ही रख रहे हैं। मात्र ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जो अपने सत्त्वसे, अपनी वृत्तियोंसे अपना और दूसरोंका बोध करता है, इसी कारण वह साकार है, किन्तु यह कला अन्य धर्मोंमें नही पायी जाती। इस कारण शेष सभी धर्म अनाकार कहलाते हैं।

तनो वस्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुतः ।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥३९६॥

अवक्तव्य होनेसे सम्यक्त्वका ज्ञान द्वारा उल्लेख—उक्त विवेचनके बाद यहां सारांश रूपमें कह रहे हैं, इस कारण जो निर्विकल्प वस्तु है वह कहे जानेके शक्य नहीं है, और वह वचनके अगोचर है। यह बात कही जा रही है शंकाके समाधानमें कि श्रद्धान भी वचनके अगोचर है। सम्यक्त्व निर्विकल्प है, वचनके अगोचर है, इस कारण उसका कोई भी लक्षण बताया नहीं जा सकता। जो भी लक्षण बताया जायगा या तो ज्ञानपर्याय द्वारा बताया जायगा या अन्य पर्याय द्वारा, तो निर्विकल्प वस्तुका जब कथन ही शक्य नहीं है, किया जानेके अगोचर है तो उसका उल्लेख ज्ञान द्वारा किया जाता है। शंकाका समाधान करते हुए अन्तमें स्वीकार तो यह करेंगे कि सम्यक्त्वकी पहिचानके लिए आत्मानुभूति ही एक खास महत्त्वपूर्ण लक्षण है। बात तो यह सिद्ध करेंगे, क्योंकि आत्मानुभवसे सम्यक्त्वकी परख कर लेना निर्दोष परख है, फिर भी वस्तुधर्मका गुणके स्वरूपकी दृष्टिसे विवेचन किया जा रहा है, अतएव यह कहा जा रहा कि आत्मानुभूतिसे और भी गहरे चलकर कोई बात सम्यक्त्वमें होती है, इस कारण यह कह रहे हैं यहाँ कि वह तो निर्विकल्प वस्तु है, उसका कथन नहीं हो सकता। तब उसको बात समझानेके लिए ज्ञान द्वारा ही कथन किया जा सकता है। और इस बातको यों भी समझ लीजिए—यह तो है सम्यक्त्वकी बात। अब थोड़ा विकार वाली बातमें चलो—रागका क्या स्वरूप है ? रागमें जो बात बर्त रही है उसको उसी रूपसे कहा जाना अशक्य है, जो कहेगा वह ज्ञान द्वारा और जो समझेगा वह ज्ञान द्वारा। फिर यह तो सम्यक्त्व जैसी निर्विकल्प शुद्ध परिणतिकी बात कही जा रही है। जो विकारसे परे सूक्ष्म बात है, विकार तो एक व्यक्त प्रकट जैसा तत्त्व है। यह सम्यक्त्व भी वचनों द्वारा नहीं कहा जा सकता, इसी कारण उसका उल्लेख ज्ञान द्वारा किया गया है।

स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः ।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥३९७॥

ज्ञानकी स्वापूर्वार्थग्राहकता—ज्ञानमें अर्थविकल्प बताया गया था तो उस ही अर्थविकल्पके बोधके लिए उस श्लोकमें ज्ञानका स्वरूप कहा जा रहा है। स्व और अपूर्व अर्थ दोनों को जो जान सकता हो उसे ज्ञान कहते हैं। और वे दोनों ज्ञान, उन दोनों तत्त्वोंका ज्ञान ज्ञान द्वारा एक ही समयमें होता है। ज्ञानका लक्षण दर्शनशास्त्रमें कहा गया है कि स्व और अपूर्व अर्थका जो निश्चायक हो उसे ज्ञान कहते हैं। तो इसमें स्वका अर्थ है स्वयं वही ज्ञान और अपूर्व अर्थका मतलब है अन्य कोई पदार्थ। यदि यह आत्मा आत्माको ही जान रहा है तो वहां स्व तो कहलाया ज्ञान और अपूर्व पदार्थ कहलाया आत्मा। आत्माको जान रहा है, जिस

ज्ञानसे जान रहा है वह ज्ञान स्वयंका भी निर्णय किए हुए है कि मैं ठीक हूं और पदार्थका भी निर्णय कर रहा कि यह ठीक यही पदार्थ है। जैसे आपने जाना कि यह चौकी है तो 'चौकी है' यह निर्णय तो आप बड़ी दृढ़तासे कर रहे हैं और यहाँ आप कमजोरी बताओ कि जिस ज्ञानके द्वारा जान रहे हो कि यह चौकी है, वह ज्ञान सही है या नहीं ? तो चौकीका ज्ञान कैसे सही बैठ जायगा ? चौकीका जब हम ज्ञान कर रहे हैं तो जिस ज्ञानके द्वारा चौकी का ज्ञान है उस ज्ञानमें भी मजबूती हो और चौकी के निर्णयमें भी मजबूती हो, ये दो बातें हों तब वह सच्चा ज्ञान है और होता ही ऐसा है। कोई संशयित ज्ञान हो तो वहाँ भी मजबूती नहीं रहती और पदार्थके निर्णयमें भी मजबूती नहीं रहती। जैसे पड़ी तो सीप थी और उसके सम्बन्धमें जान रहे हैं कि यह सीप है या चाँदी, तो वहाँ ढुलमुल बात रहती है पदार्थ का सही निर्णय नहीं हो पाता है। तो ज्ञानमें ऐसी कला है कि पदार्थका निर्णय कर रहे हो तो वहां भी दृढ़तापूर्वक समझ रहे हैं और अन्तः भी दृढ़तापूर्वक समझ रहे हैं, इस कारण स्व और अपूर्व अर्थके ग्रहण करनेके लिए ज्ञानको प्रमाण कहा है। तो यहां अनिश्चित पदार्थ का निश्चय करनेके समयमें ज्ञान कहीं उस बाहरी पदार्थरूप नहीं हो जाता और पदार्थ ज्ञानरूप नहीं हो जाता। ज्ञान ज्ञान ही रहता और पर पर ही रहता, पर ज्ञानका स्वरूप ऐसा है कि वहां निर्णय बनाये हुए हैं और अन्तः में भी निर्णय बनाये हुए हैं। अब यह बतला रहे हैं कि ज्ञानका जो लक्षण स्व और अपूर्व अर्थका परिचायक कहा है तो स्व नाम किसका है और अपूर्व अर्थ नाम किसका है ?

स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः।
परार्थस्स्वार्थसम्बन्धी गुणाः शेषे सुखादयः ॥३९८॥

ज्ञान द्वारा ग्राह्य स्वार्थ व परार्थका विवरण—स्व और अन्य अर्थ। अर्थ कहते हैं अर्यते निश्चीयते इति अर्थः, अर्थात् जो निश्चित किया जाय वह अर्थ है। अर्थका यह अर्थ नहीं कि कोई पिण्डरूप चीज हो। तो आत्मा जब सुखको जान रहा है तो सुख तो हो गया अर्थ और सुखका जानने वाला जो ज्ञान है वह हो गया स्व। देखो—यहाँ भी स्व और अपूर्व अर्थका ज्ञान किया गया है और बात जाने दो, ज्ञान जब आत्माके बारेमें ही सोच रहा है कि यह आत्मा असंख्यातप्रदेशी है आदिक रूपसे। तब वहाँ स्व तो है वह ज्ञानप्रकाश और अर्थ बन गया यह असंख्यातप्रदेशी आत्मा। यही बात बाहर भी घटित होती है। हमने जाना कि यह चौकी है। तो चौकी तो हो गया अर्थ और ज्ञान हो गया स्व, तो यहां ज्ञानका स्वरूप क्या हुआ ? ज्ञानका स्व हुआ ज्ञान ही और ज्ञानका परार्थ क्या हुआ ? ज्ञानके अतिरिक्त जो भी चीज हो वह हुआ परार्थ। ज्ञानने सम्यक्त्वको जाना, चारित्रको जाना, सुखको जाना, जिस किसी भी अपने आपके परिणमनको, गुणको जाना तो वह सब है अर्थ परार्थ और यह

ज्ञान एक यह स्व है । अब समझ लीजिए कि इस ज्ञानकी कितनी बड़ी महिमा है ? तो जब ज्ञान किसी को जान रहा है तो ज्ञान हो गया निज (स्व) और बाकी सब हो गया ज्ञेय परार्थ तो सुखादिक जो पदार्थ है उनका ज्ञान करने वाला यह ज्ञान स्व हुआ और तब उससे अतिरिक्त जो कुछ है वह पर है । है पर, लेकिन इस ज्ञानका इस परके साथ निकट सम्बन्ध है । जैसे ज्ञानने चौको को जाना तो यहां कहते हैं कि यह पर पर है और ज्ञान ज्ञान है । यह अन्य वस्तु है । इस तरह यहां नही कह सकते । ज्ञान ने सुखादिकको जाना तो ऐसे पर तो हुए, मगर ये भिन्न पर नही हैं, किन्तु एक वस्तुविषयक ही पर है ।

तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम् ।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाज्ज्ञानं सुखादिमत् ॥३९९॥

गुणोंकी भिन्नस्वरूपता होनेसे ज्ञानग्राह्य स्वार्थ व परार्थकी विशेषता—शंकाकारकी मूल शंकाके समाधानमें यहां यह बताया जा रहा है कि ज्ञान तो है साकार और शेष गुण है निराकार । साकार ज्ञान यों कहलाता है कि ज्ञानमें ही एक ऐसी कला है कि वह स्व और परार्थको जाने । तो इस प्रसंगमें स्व तो हुआ ज्ञान और परार्थ हुए आत्माके शेप समस्त धर्म । ज्ञान स्वको भी जानता है और सुख श्रद्धान आदिक अन्य गुणोंको भी जानता है । तो यहां जो सुख आदिकको परार्थ कहा है सो वस्तुदृष्टिसे ये ज्ञानसे सम्बन्धित है अर्थात् ज्ञानका आधार जो आत्मा है वही आधार शेप धर्मोका है । फिर भी ज्ञानका जो स्वरूप है वह सुखका स्वरूप नहीं, जो सुखका स्वरूप है वह ज्ञानका स्वरूप नही । इस कारणसे यह स्व और पर अर्थ कहलाता है । सुख दुःखादिक भाव जीवके ही गुण हैं । ज्ञान उन सब भावोंको जानने वाला है । परन्तु ज्ञान स्वयं सुखरूप नही हो जाता । इस कारणसे परस्पर भेद है । जैसे घट पट आदिक पदार्थोंको जानते हैं तो प्रकट भेद दृष्टिमें आ जाता है कि ज्ञान तो है आत्मभूत और ये पदार्थ है उन ही चतुष्टयमें । तो जैसे यहां अत्यन्त भेदरूपसे ज्ञात हो जाता है ऐसे ही ज्ञान में सुखादिक भाव अत्यंत भेद रूपसे न होनेपर भी स्वरूप चूंकि उनका निराला है, इस कारण से वहां भी भेद प्रसिद्ध हो जाता है ।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम् ।
तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥४००॥

वचनागोचर सम्यक्त्वका विधिक्रमसे कथन किये जानेकी अशक्यता—सम्यग्दर्शन वास्तवमें आत्माका सूक्ष्म गुण है और वचनके अगोचर है । सम्यक्त्व प्रकृतिमें क्या होता है इस बातको विधिरूपसे बतानेके लिए शब्द नही है और इसी कारण उस सम्यक्त्वके यथार्थ तथ्यको कहनेका कोई अधिकारी है और न उस रूपसे सुननेका कोई अधिकारी है, क्योंकि वह सम्यक्त्व परिणति एक सूक्ष्म गुण है और वचनोंके अगोचर है । तो इस सम्यक्त्वको विधिरूप

से नहीं बताया जा सकता है। ऐसे कथनसे यह भी बात समझ लेनी चाहिए कि सम्यक्त्व किसी प्रकार बताये ही नहीं जा सकते, सो बात नहीं है, किन्तु वे ज्ञान द्वारा अन्य गुण-परिणति द्वारा बताये जा सकते हैं अथवा निषेध बुद्धिसे बतलाये जा सकते है। किसी चीज को बतानेके तीन ढंग होते हैं। उसको उसकी विधि द्वारा बता देवे, उसको अन्यके प्रतिषेध द्वारा बता देवे अथवा अन्य चीजकी विधि द्वारा बता देवे, तो यहाँ सम्यक्त्व अपने आपकी पर्यायकी विधि द्वारा नहीं बताया जा सकता, वह अन्य गुणोंकी विधि द्वारा बताया जा सकता है और अन्यके प्रतिषेध द्वारा बताया जा सकता है। जो भाव सम्यक्त्वके विपरीत है वह तो वचनके गोचर है। सम्यक्त्वका विपरीत भाव बताया जा सकता है तो उस भावके निषेध द्वारा भी सम्यक्त्वका कथन होता है।

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः।
स्वानुभूत्येक हेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम् ॥४०१॥

स्वानुभूतिकी सम्यक्त्वका सद्भाव सिद्ध करनेमें परमसाधनता—आत्माका एक ज्ञान-गुण किसी भी तत्त्वकी सिद्धि करनेमे प्रसिद्ध है, बाह्य पदार्थोंके भी सिद्धि करने में समर्थ ज्ञानगुण है और आत्मामें रहने वाले गुणोकी प्रसिद्धि करनेमें भी समर्थ ज्ञानगुण है। तो यही ज्ञानगुण जब स्वानुभूतिमें परिणत होता है तो उस स्वानुभूति परिणत ज्ञानके द्वारा सम्यक्त्व की बात बतायी जा सकती है। तो सम्यक्त्वका परिचय स्वानुभूतिरूप एक मात्र कारणसे होता है। इस ही कारणसे वह सम्यग्दर्शन अथवा स्वानुभूति एक उत्कृष्ट पद है। यहां इस पर प्रकाश डाला गया है कि ज्ञानगुण ही समस्त पदार्थोंके सद्भावकी सिद्धि करनेमें समर्थ है, ज्ञान द्वारा ही हम ज्ञानका सद्भाव जान पाते हैं। ज्ञान द्वारा ही हम इस गुणी आत्माको जान पाते हैं। ज्ञान द्वारा ही हम आत्मामें रहने वाले गुणोंको, धर्मोको, पर्यायोंको जान पाते हैं और ज्ञान द्वारा ही हम बाह्यमें स्थित पदार्थोको जान पाते हैं। इसी कारण ज्ञानके सिवाय हमारे पास और कोई उपाय नहीं है कि किसी बातको समझ सकें। तब ज्ञान ही एक साकार रूप है, व्यवस्थापक है—यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो जाती है। अब यह ज्ञान जब आत्मा के सहजस्वका अनुभव कर रहा हो ऐसी स्वानुभूतिमें परिणत ज्ञान ही सम्यक्त्वका परिचायक हो सकता है और इस कारणसे सम्यक्त्व भी उत्कृष्ट पद है और यह स्वानुभूति भी उत्कृष्ट वस्तु है।

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः।
सम्यक्त्वेविनाभूतमन्वयाद्व्यतिरेकतः ॥४०२॥

स्वानुभूतिका सम्यक्त्व साधनत्व—उक्त श्लोकमें बताया गया है कि ज्ञान ही सबके साधन करनेमें समर्थ है और स्वानुभूति ही उस सम्यक्त्वका परिचय करानेमें एक प्रधान

कारण है। उस ही के सम्बन्धमें यहां बता रहे हैं कि आत्माकी शुद्धनय रूपसे हुई वह स्वानुभूति आत्माका विशिष्ट ज्ञान है। वह आत्मानुभूति क्या चीज है? तो वह आत्माका एक ज्ञान विशेष है। जैसे इन जिन ज्ञानों द्वारा ये बाहरी पदार्थ जाने जाते हैं यह भी ज्ञान है और ज्ञान द्वारा आत्माके द्रव्य गुण पर्यायकी चर्चाकी जाती है तो वह भी ज्ञान है और सहज जैसा आत्माका अपने आप स्वरूप है केवल ज्ञानमात्र, ऐसा, शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र आत्माको जानना यह भी एक ज्ञान है, लेकिन इन ज्ञानोंमें उत्कृष्टत: स्वानुभूतिता और पूज्यता की दृष्टिसे देखें तो यथार्थ सहज स्वरूपमय आत्माका परिचय कराने वाला, अनुभव कराने वाला जो ज्ञान है उसे ज्ञानविशेष कहेंगे। उन सब ज्ञानोंसे खास महत्व रखने वाला यह ज्ञानविशेष है। तो यह स्वानुभूतिरूप ज्ञानविशेष प्रकृत सामान्यके साथ याने सम्यक्त्वके साथ अन्वय और व्यतिरेक सम्बन्ध रखता है, अत: अन्वय और व्यतिरेक होने के कारण यह स्वानुभूति सम्यक्त्वका अविनाभावी गुण है, इस तरह सम्यक्त्वका निर्दोष साधन है आत्मानुभूति। यहां यह बात समझ लेनी चाहिए कि पहिले स्वानुभूतिसे भी यह कह डाला था कि यह सम्यग्दर्शनका एक बाह्य लक्षण है अर्थात् सम्यग्दर्शनकी परिणतिरूप लक्षण नहीं है और अब स्वानुभूतिको निर्दोष साधन बताया जा रहा है कि सम्यक् स्वानुभूतिके उपायसे ही, स्वानुभूतिके साधनसे ही सम्यक्त्वका परिचय होता है। तो इन दोनों बातोंमें विरोध नहीं है। पहिले जो कथन किया गया था वह इस रूपमें था कि स्वानुभूति स्वयं सम्यक्त्वगुणकी परिणति नहीं है। सम्यक्त्व गुणका परिणमन तो कोई अनिर्वचनीय है और अब यहाँ यह बतलाया जा रहा कि स्वानुभूति यद्यपि स्वानुभूत्यावरणके क्षयोपशम और उपयोग होनेसे हुआ है, सो ज्ञानकी परिणति है, फिर भी स्वानुभूति सम्यक्त्वके साथ ऐसा अविनाभाव रूप साधन बना कि स्वानुभूतिके द्वारा सम्यक्त्वका परिचय हो जाता है। इस ही बातको स्पष्ट रूपसे आगे बतायेंगे कि कैसे अविनाभाव सम्बन्ध है, अन्यथानुपपत्तिका साधन कैसे है अर्थात् जिस साध्य के बिना साधन न हो सके उस साधनको अन्यथानुपपत्तिसाधित कहते हैं। जैसे अग्निके बिना धूम नहीं हो सकता तो धूम अन्यथानूपपत्तिका साधन है। अर्थात् धूम होने पर अग्निका अवश्य ही ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्वके न होनेपर यह शुद्धनयात्मक अनुभव हो नहीं सकता, इस कारण स्वानुभूति हो तो वहाँ नियमसे सम्यक्त्व है, ऐसा ज्ञान होता है। इस कारण स्वानुभूति सम्यक्त्वका साधन निर्दोष साधन है।

ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात्साचेच्छुद्धनयात्मिका ॥४०३॥

शुद्धनयात्मिका स्वानुभूतिकी सम्यक्त्वरूपताकी दृष्टि—उक्त दो श्लोकोंमें अन्वय और व्यतिरेकव्याप्ति बताकर यह सिद्ध किया गया है कि सम्यक्त्वका साधन स्वानुभूति निर्दोष

साधन है। इस तरह बतानेके बाद यहाँ निर्णय रूपमें कह रहे हैं, इस ही कारण अब अर्थात् यहाँ अन्वय और व्यतिरेकका सद्भाव है, इस कारण अब सम्यक्त्वको कहनेकी योग्यता आ गयी अर्थात् सम्यक्त्वका परिचय हम करा सकें, इस प्रकारकी अब यहाँ योग्यता आयी है अर्थात् यह सम्यग्दर्शन अब रूपान्तरसे कहनेके योग्य बन गया है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि सम्यग्दर्शनको सम्यग्दर्शनकी परिणति रूपसे अब भी नहीं बताया जा सक रहा है, लेकिन वह स्वानुभूति सम्यक्त्वके साथ अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति रख रहा है इस कारणसे बताया जा सकता है और यह निर्णय दिया जा सकता है कि यदि वह शुद्धनयात्मक स्वानुभूति है तो वही सम्यक्त्व हो जाता है। शुद्ध नयात्मक स्वानुभूतिके कहनेका अर्थ यह लेना कि स्वानुभूति सामान्यतया तो सब जीवोंकी पायी जाती है। कौन जीव ऐसा है कि जो स्व की अनुभूति बिना रहता हो। यदि स्वका अनुभव न हो तो सुखदुःखादिकका अनुभव न हो सकेगा। ऐसे सामान्य या किसी भी रूपसे स्वकी अनुभूतिकी बात नहीं कह रहे, किन्तु जो शुद्ध नयात्मक है, शुद्ध सामान्यके द्वारा ज्ञात जो विषय है, तत्त्वरूप जिसने अपना अनुभव किया है उस स्वानुभूतिकी बात कही जा रही है कि यदि वह स्वानुभूति है तो वही सम्यक्त्व कहलाता है। यों स्वानुभूतिज्ञानविशेषके द्वारा सम्यक्त्वका निर्वाधरूपसे परिचय होता है।

किञ्चास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा ॥४०४॥

सम्यक्त्व और स्वानुभवमें विषमव्याप्ति व समव्याप्तिका विवरण—स्वानुभूतिका अन्वयव्यतिरेक बताकर स्वानुभूतिके द्वारा सम्यक्त्वका निर्वाधपरिचय अनुमानकी बात सिद्ध करके अब यहां यह बतला रहे हैं कि स्वानुभूतिके द्वारा सम्यक्त्व सिद्ध हो गया, लेकिन यहाँ फिर भी विशेषता यह जाननी चाहिए कि सम्यक्त्व और अनुभवमें समव्याप्ति नहीं है, किन्तु विषमव्याप्ति है। विषमव्याप्तिका अर्थ क्या है ? इस बातको एक दृष्टान्त द्वारा समझियेगा। जैसे अनुमानमें यह सिद्ध किया कि इस पर्वतमें अग्नि है धूम होने से तो साधन धूम बनाया और अग्नि साध्य बनाया। कोई पुरुष चला जा रहा था और पर्वतपर उसे धुवाँ दीखा तो वहाँ यह अनुमान करते हैं कि वहाँ आग लगी हुई है तब ही तो धुवां निकल रहा है। तो धूम साधनके द्वारा अग्निको सिद्ध किया है। यहाँ अन्वय और व्यतिरेक दोनों घटित होते हैं। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है यह है अन्वयव्याप्ति, और जहाँ अग्नि न हो वहाँ धूम नहीं होता, यह है व्यतिरेकव्याप्ति। तो अन्वयव्यतिरेक तो है, पर अग्नि और धूमको समव्याप्ति नहीं है अर्थात् विषम व्याप्ति है अर्थात्के होने पर धुवां हो भी, न भी हो, इसलिए विषमव्याप्ति होनेके कारण अनुमानमें अन्तर न आयगा। वह अनुमान गलत न हो जायगा। क्योंकि अनुमानमें साधन धूमको बताया गया। जहां जहां धूम है वहां अग्नि

अवश्य है। यदि कोई अग्निको साधन बना दे और धूमको साध्य बना दे तो यह निर्दोष अनुमान नहीं हो सकता। कोई कहे कि यहां धुवां होना चाहिए अग्नि होनेसे तो विषमव्याप्ति होनेके कारण अनुमान नहीं बन सकता क्योंकि अनेक अग्नि ऐसी पायी जाती हैं कि अग्नि है पर धूम नहीं है। जैसे कोई कोयला खूब पक गया तो वहां धूम नहीं मालूम होता और अग्नि है अथवा अन्य अग्नि। इसी प्रकार स्वानुभूति और सम्यक्त्वकी विषम व्याप्ति है याने जहां स्वानुभूति है वहां नियमसे सम्यक्त्व है, इसमें कोई बाधा नहीं, लेकिन कोई स्वानुभूतिको साध्य बना दे और सम्यक्त्वको साधन बनाये कि जहां जहां सम्यक्त्व है वहाँ वहां स्वानुभूति है तो यह अनुमान न बन सकेगा। इस कारण विषमव्याप्ति कही गई है। स्वानुभूति न हो वहां भी सम्यक्त्व है। तो सम्यक्त्वके होने पर स्वानुभूति हो भी और न भी हो, वह है एक उपयोग विशेष और यही बात समझानेके लिए यह कहा जा रहा है कि सम्यक्त्व और स्वानुभूतिमें समव्याप्ति नहीं है किन्तु विषम व्याप्ति है। इस ही बातको आगेके श्लोक में स्पष्ट किया जायगा।

तद्यथास्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि ।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत् ॥४०५॥

स्वानुभूतिपरिणमनके समय सम्यक्त्वसद्भावकी अवश्यंभाविता——उस समव्याप्ति और विषमव्याप्तिका इसमें स्पष्टीकरण किया जा रहा है। जिस आत्मामें जिस समयमें स्वानुभूति है उस आत्मामें उस समय सम्यक्त्व नियमसे है, क्योंकि बिना सम्यक्त्वके स्वानुभूति हो नहीं सकती। तो अन्वयव्यतिरेक जो बताया गया था वह सम्बन्ध निर्बाध है अर्थात् सम्यक्त्वके बिना स्वानुभूति नहीं है, सो स्वानुभूतिके चिन्हसे सम्यक्त्वकी पहिचान होती है। साधनमें अन्यथानुत्पत्ति लक्षण होना ही चाहिए याने अन्यथा अर्थात् साध्य न हो तो साधन नहीं हो सकता, ऐसे नियमको अन्यथानुपपत्ति कहते हैं। अन्य दार्शनिकोंने त्रैरूप्य और पांच्यरूप लक्षण बताया है। साधन सपक्षमें हो, साधन विपक्षमें न हो, साधन पक्षमें हो तो वह निर्दोष अनुमान बन जाता है, यों कहा है। लेकिन तीन बातोंके होने पर भी यदि अन्यथानुपपत्ति नहीं पायी जाती है तो वहां अनुमान सही न बन सकेगा। और कुछ दार्शनिकोंने साधनका लक्षण पांच्य रूप बताया है अर्थात् पक्ष साध्य पाये जाते हों इसे कहते हैं प्रतिज्ञा और साधन हो, उदाहरण हो, उपनय हो अर्थात् हेतुको पक्षमें दुहराया जाय निगमन हो याने उसका निर्णय बताया जाय, पक्षमें साध्यको दुहराया जाय——ये ५ रूप भी हों और अन्यथानुपपत्ति न हो तो वहां भी बात नहीं बनती है। प्रयोजन यह है कि किसी भी साध्यको सिद्ध करनेके लिए साधन भी अन्यथानुपपत्ति वाला होना चाहिए। सो यहाँ स्वानुभूतिरूप साधन अन्यथा उपलब्धिवान है इसलिए यहाँ कमजोरी नहीं है कि स्वानुभूति सम्यक्त्वका लक्षण है। सही बात

है । जहां स्वानुभूति होगी वहाँ सम्यक्त्व नियमसे होगा, इस कारणसे लक्षण तो निर्दोष है किन्तु—

यदि वा सति सम्यक्त्वे सस्याद्वा नोपयोगवान् ।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोस्ति वस्तुतः ॥४०६॥

सम्यक्त्वके कालमें उपयोगवान स्वानुभवके सद्भावकी अनियमता, किन्तु लब्धिरूप स्वानुभवकी अवश्यंभाविता—सम्यग्दर्शनके होने पर शुद्ध आत्माका उपयोगात्मक अनुभवन हो भी जाय और न भी हो । यों इस सम्यक्त्व और स्वानुभूतिमें विषमव्याप्ति बतायी जा रही है । सम्यग्दर्शन होता है दर्शनमोहके अनुदयमें । उपशम हो, क्षय हो अथवा क्षयोपशम हो, किसी भी प्रकार उसका अनुदय पाया जा रहा हो तो वहां सम्यक्त्व होता है । तो उन ७ प्रकृतियोंके अथवा ५ प्रकृतियोंके न रहने पर उपशान्त होने पर वहां सम्यक्त्व तो होता है, सो वह सम्यक्त्व स्वानुभूतिपूर्वक ही होता है । सम्यक्त्वकी उत्पत्ति स्वानुभृतिके बिना हो नहीं सकती । तो स्वानुभूति हुई और सम्यक्त्व हो गया अर्थात् सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कालमें स्वानुभूति उपयोगात्मक रही, लेकिन सम्यक्त्व हो जानेके बाद अब कभी स्वानुभूति उपयोगात्मक हो अथवा न भी हो, यह सम्यग्दृष्टि पुरुष जब किसी अन्य पदार्थको जान रहा है, उस तरफ उपयोग है तो उपयोगात्मक स्वानुभूति नहीं है, लेकिन लब्धिरूप स्वानुभूति बराबर बनी हुई है । जैसे कोई संस्कृत विद्या सीख रहा है तो संस्कृत विद्याका उपयोग कर रहा हो तब ही तो सीखेगा । उसमें उपयोग दिए बिना तो न सीखेगा । अब वह संस्कृत विद्या सीख चुका । वह सीखा हुआ विद्वान संस्कृत विद्यामें उपयोग निरन्तर रखे अथवा नहीं, कभी वह हिन्दी निबन्ध पढ़ रहा है, कभी इंगलिश निबंध पढ़ रहा है, उस समय उसका उपयोग संस्कृतमें नहीं है, लेकिन संस्कृत की जानकारी रूप लब्धि तो उसके पड़ी हुई है । यही बात स्वानुभूतिके सम्बन्धमें है । स्वानुभूति हो तो उपयोगात्मक है तब भी सम्यक्त्व है और उपयोगात्मक नहीं है तब भी सम्यक्त्व है । इस कारण सम्यक्त्व और स्वानुभूतिमें विषमव्याप्ति है ।

हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेस्त्यवश्यतः ।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः ॥४०७॥

सम्यक्त्वकालमें लब्धिरूप स्वानुभवके बने रहनेका कारण—उक्त श्लोकमें यह बताया था कि सम्यक्त्वके होने पर स्वानुभव उपयोगवान हो भी और न भी हो अर्थात् उपयोगात्मक स्वानुभव सम्यक्त्वके रहते हुए होता भी है, नहीं भी होता है । किन्तु सम्यक्त्व के होने पर लब्धिरूप स्वानुभव अवश्य ही होता है । इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि जो यह बात कही गयी है कि सम्यक्त्व होने पर लब्धिरूप स्वानुभव अवश्य होता है **तो इसमें**

कारण क्या है ? इसमें कारण यह है कि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समयमें नियमसे स्वानुभूत्यावरण कर्मका उत्कृष्ट अवस्थान्तर होता है अर्थात् क्षयोपशम होता है। सम्यक्त्वका होना, स्वानुभूत्यावरणका क्षयोपशम होना और स्वानुभवका उपयोगवान् होना--ये सब बातें प्रारम्भ कालमें है। अब इसके बाद स्वानुभूत्यावरणका क्षयोपशम और सम्यक्त्व ये तो सदा रहते हैं, किन्तु उपयोगसे स्वानुभव रहे अथवा न रहे।

यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छद्मस्थस्योपयोगवत्।
नित्यं ज्ञानमछद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥४०८॥

सम्यक्त्व और स्वानुभवकी विषमव्याप्तिका कारण—छद्मस्थ पुरुषका ज्ञान उपयोगात्मक ज्ञान तो अनित्य है। अनित्यके मायने सदा रहने वाला है। सदा न रहनेका अर्थ यह है कि जब-जब इसका सम्यक्त्व रहता है तब-तब इसका उपयोगमय स्वानुभव रहे ऐसा नियम नहीं है। उसीको सामान्यरूपसे कहा जा रहा है कि छद्मस्थ ज्ञान छद्मस्थ जीवका उपयोगमयी ज्ञान एक-सा सदा नहीं रहता। किन्तु जो छद्मस्थ नहीं हैं, परमात्मा हैं उनमें ज्ञान नित्य रहता, एकसा रहता। जैसे केवली भगवानने जो कुछ जाना, क्या जाना ? सब जाना। उसके दूसरे समयमें क्या जाना ? सब जाना। कोई नई बात नहीं जानी गई। वहाँ तो असत् है नई बात, क्योंकि सत्को तो पहिले ही जान लिया, लेकिन अब नया क्या रह जायगा ? कुछ नहीं। तो जैसे परमात्मामें ज्ञान नित्य रहता है, उपयोगवान नित्य रहता है, इस तरह छद्मस्थका उपयोगवान ज्ञान नहीं है। हां छद्मस्थ जीवका लब्धि वाला ज्ञान सदा रहता है याने उस पीरियडमें बना रहता है। और इसी पद्धतिसे प्रकृतमें भी बात यह जानना कि सम्यक्त्वके रहते संते उपलब्धिरूप स्वानुभवकी सत्ता रहती है, पर उपयोगवान स्वानुभव कभी होता है, कभी नही होता है। यह प्रकरण चलता रहता है सम्यक्त्व और स्वानुभवकी समव्याप्ति और विषमव्याप्ति बतानेके लिए। उसमें यह सिद्ध किया है कि स्वानुभव सम्यक्त्व का सामान्यका साधन है अर्थात् स्वानुभव हो तो वहां समझना चाहिए कि नियमसे सम्यक्त्व है, पर सम्यक्त्वके होते हुए स्वानुभव रहा ही करे, ऐसा नियम नही है।

नित्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषतः।
तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ॥४०९॥

स्वानुभव और सम्यक्त्वकी विषमव्याप्तिका समर्थन—उक्त कथनको सारांश रूपमें कह रहे हैं कि सम्यग्दर्शन भी सामान्यमात्र होनेसे नित्य ही है अर्थात् सामान्यका अर्थ है है—यहां सदैव एक समान रहने वाला। उपयोगवान ज्ञान तो एक समान नही रहता सम्यग्दृष्टि के भी, किन्तु सम्यक्त्व एक समान रहता है। इस कारण उसे सामान्य मात्र कहा गया है। तो सम्यक्त्व तो है सामान्यरूप और उपयोग है विशेषरूप। स्वानुभव उपयोगवान हो, यह है

व्याप्य, सदा काल न रहने वाला और सम्यक्त्व है व्यापक, इस कारण सामान्य और अनुभव में विषमव्याप्ति है। उपयोगकी तरह सम्यक्त्व बराबर सदा न रहे, ऐसी बात नही है। किन्तु सम्यक्त्व बराबर रहता है, उपयोगकी तरह बदलता नहीं और लब्धिरूप स्वानुभव भी बदलता नहीं है, इसलिए लब्धिरूप स्वानुभव और सम्यक्त्वकी तो समव्याप्ति है, पर उपयोगरूप स्वानुभव और सम्यक्त्वकी समव्याप्ति नहीं, किन्तु विषमव्याप्ति है। यहां पर यह भी जानना चाहिए कि लब्धिरूप स्वानुभव और सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है, किन्तु लब्धि रूप स्वानुभवके कारण वृत्ति और स्वरूप जुदा है और सम्यक्त्वका स्वरूप जुदा है। सम्यक्त्व तो श्रद्धा गुणका परिणमन है और यह लब्धिरूप स्वानुभव ज्ञानावरणका क्षयोपशम है तो एक साथ रहते हुए भी स्वरूप तो जुदा-जुदा ही है।

अपि सन्ति गुणा: सम्यक् श्रद्धानादि विकल्पका:।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ।।४१०।।

सम्यक्त्वके अन्य बाह्य गुणोंके वर्णनका संकल्प—यहाँ तक सम्यक्त्व और स्वानुभवमें परस्पर सम्बंधकी बात कही गई थी। अब इस श्लोकमें कुछ अन्य गुणोंका वर्णन करनेका संकल्प बता रहे हैं कि सम्यक्त्वके और गुण भी हैं और बाह्य गुण भी हैं, किन्तु स्वानुभूतिकी तरह जिनका अन्वयव्यतिरेक नहीं पाया जाता है, ऐसे अन्य गुण जो स्वानुभवके साथ न हों तो सम्यक् नही रहते। ऐसे बहुतसे गुण हैं उन गुणोंका उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा बताते हैं। इस श्लोकमें यह प्रकट किया गया है कि स्वानुभूति तो सम्यक्त्वके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बंध रखने वाला गुण है, किन्तु इसके अतिरिक्त और भी गुण हैं जो सम्यक्त्वके कदाचित् सूचक होते हैं, किन्तु उनका अन्वयव्यतिरेक नहीं हैं, ऐसे और गुण भी हैं जिनका उद्देश्य, लक्षण और परीक्षाकी पद्धतिसे वर्णन किया जायगा।

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतय:।
चरणं च यथाम्नायमर्थात्तत्वार्थगोचरम् ।।४११।।

श्रद्धा, रुचि, प्रतीति व चरण गुणका निर्देश—अब उद्देश्यकी बात कह रहे हैं, जो सम्यक्त्वके बाह्य गुण है उनका यहाँ नाम बताया जा रहा है। उद्देश्य कहते हैं नाम बतानेको। क्या-क्या गुण हैं सम्यक्त्वके ? तो श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और आचरण—ये चार गुण भी सम्यक्त्वके बताये गए हैं और आमनायके अनुसार ये तत्त्वार्थके विषयभूत हैं। इनमें यह भी प्रमाणित कर दिया गया है कि तत्त्वार्थके सम्बन्धमें श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और आचरण हो, जिनका कि स्वानुभवके साथ संबंध है, वे सब स्वानुभूतिके सही गुण हैं, किन्तु सामान्यरूपसे श्रद्धा, रुचि आदिक हो रहे, उनका सम्यक्त्वके साथ अन्वयव्यतिरेक जैसा संबंध नहीं हो पाता, ऐसे गुण ये चार कहे गए हैं, इन चार गुणोंका अब लक्षण कहते हैं।

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥४१२॥

सम्यक्त्वके चिह्नरूप श्रद्धा, रुचि प्रतीति व चरणका संक्षिप्त स्वरूप—श्रद्धा नाम है तत्त्वार्थके अभिमुख होने वाली बुद्धिका । तत्त्वार्थके सम्मुख जो बुद्धिका होना है वह श्रद्धा है । श्रद्धाके संबन्धमें विशेष विचार करनेपर यह विदित होगा कि जिसका ज्ञान किया है उसके अभिमुख होकर दृढ़तापूर्वक उसका परिचय हो, इसे श्रद्धा कहते हैं । और इसी आधारपर यह श्रद्धाका लक्षण किया गया है कि तत्त्वार्थके अभिमुख होने वाली बुद्धिको श्रद्धा कहते हैं । जब भी किसी चीजमें श्रद्धा होती है तो उसके लिए अभिमुख बुद्धि लगी हुई है, यह बात तो हुग्र ही करती है । लौकिक बातोंमें भी जिसकी श्रद्धा पड़ी हो उसकी बुद्धि उसकी ओर अभिमु रहती है, इसी प्रकार तत्त्वार्थके संबन्धमें भी बात है । यदि तत्त्वार्थकी श्रद्धा है तो उसके तत्त्वार्थकी अभिमुखी बुद्धि लगी हुई है, यह तो हुई श्रद्धा । और रुचि किसे कहते हैं ? तत्त्वार्थ के संबन्धमें आत्मीय भाव होना सो रुचि है । रुचि शब्दसे कुछ श्रद्धाकी अपेक्षा विशेषता बतायी गई है । ज्ञान हुआ पहिले तो फिर सामान्यतया उसमें श्रद्धा हुई, उसमें रुचि हुई । रुचि होनेपर उस बुद्धिके साथ, उस तत्त्वके साथ आत्मीयताका भाव होता है । तभी तो रुचि, राग, प्रीति वहाँ ही लोकमें उत्पन्न होती कि जिस ओर कुछ आत्मीयताका भाव है । तो तत्त्वार्थमें आत्मीय भाव होनेका नाम रुचि है । अब प्रतीतिका लक्षण करते हैं । "उस ही प्रकार है यह" इस प्रकारके स्वीकार करनेका नाम प्रतीति है, ऐसी ही है बात, जो अंतः स्वीकारताका भाव होता है, उसका नाम प्रतीति है और चरण कहते हैं उसके अनुकूल क्रिया का कारण । जैसी श्रद्धा हो वैसी रुचि हो, वैसी प्रतीति हो, फिर उसके अनुसार अपना आच-रण होता है, उपयोग होता है; मन, वचन, कायकी चेष्टा होती है । यह कहलाता है आचरण । इस प्रकार ये श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और आचरण ये चारों गुण भी सम्यक्त्वके बताये गए हैं ।

अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवात्र पर्ययात् ।
चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥४१३॥

श्रद्धा, रुचि व प्रतीतिकी ज्ञानपर्यायता तथा चरणकी चारित्रपर्यायता—उक्त श्लोकमें जो चार गुण कहे गए हैं उनका दो विभागोंमें वर्णन किया जा रहा है । आदिके तीन अर्थात् श्रद्धा, रुचि और प्रतीति, ये तो ज्ञानकी पर्याय हैं । श्रद्धा तत्त्वार्थके अभिमुखी बुद्धिका नाम है । यह तो स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि हाँ ज्ञानकी पर्याय है । रुचि—उस तत्त्वार्थके विषयमें आत्मीयता होना । यद्यपि शब्दार्थकी दृष्टिसे ऐसा प्रतीत होगा कि यह चारित्र गुणकी पर्याय है, तथापि इस रुचिके वेगको देखिये । रुचि होनेपर इस रुचिमें जो उस श्रद्धा किए हुए पदार्थ में आत्मीयताका भाव है वह है एक दृढ़ताका सूचक । इसलिए इसे भी यहाँ ज्ञानका पर्याय

कहा है और प्रतीति "ऐसा ही है" इस प्रकारका जो स्वीकार करना है उसे प्रतीति कहा है। तो यह भी ज्ञानकी पर्याय है। चरण—मन, वचन, कायके द्वारा सभी कामोंमें व्यापार करना यह कहलाता है चरण। यह चारित्र पर्यय है श्रद्धा हुई, रुचि हुई, प्रतीति हुई, उसके अनुकूल अब मन, वचन, कायकी चेष्टा हुई, शुभकर्ममें व्यापार हुआ, इसको कहा गया है आचरण। तो ये चारों गुण सम्यक्त्वके बाह्य लक्षण क्यों कहे गए हैं? इस बातका उत्तर अब देते हैं।

श्रद्धादिको सम्यक्त्वका बाह्य लक्षण कहे जानेका कारण—श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और चरण—ये चारों व्यस्त होकर या इकट्ठे मिलकर सम्यग्दृष्टिके लक्षण हो भी सकते, नहीं भी हो सकते अर्थात् इन चारोंमेंसे कुछ कम भी हों, ये गुण तो भी सम्यग्दृष्टिके लक्षण कहे जा सकते हैं और नहीं भी कहे जा सकते। अथवा ये चारोंके चारों भी हों तो भी सम्यग्दृष्टि के लक्षण हो भी सकते और नहीं भी हो सकते। ये चारों सपक्षमें भी पाये जाते और नहीं भी पाये जाते, विपक्षमें भी पाये जाते और नहीं भी पाये जाते। सपक्ष हुआ सम्यग्दृष्टि, विपक्ष हुआ मिथ्यादृष्टि। तो जब ये चारों गुण सम्यक्त्वमें ही पाये जाते होते और सम्यक्त्वके बिना न पाये जाते होते तब तो स्वानुभूतिकी तरह इन्हें भी अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध वाला लक्षण कहा जाता, किन्तु स्वानुभूतिकी तरह सम्यक्त्वके साथ इन गुणोंका अन्वयव्यतिरेक नहीं है। सम्यक्त्वके होनेपर भी हो जाय, न होनेपर भी हो जाय, इस कारण इन चार गुणोंको सम्यक्त्वका बाह्य लक्षण कहा गया है।

स्वानुभूति सनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूति विनाऽऽभासानार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥४१५॥

स्वानुभूतिसहित श्रद्धादिकोंकी समीचीनता व स्वाभूतिरहित श्रद्धादिकोंकी अभास रूपता—उक्त श्लोकमें जो बात कही गयी है उसीका स्पष्टीकरण इसमें किया जा रहा है कि यदि श्रद्धा आदिक गुण स्वानुभूतिके साथ होते हैं तो ये वास्तविक गुण कहलाते हैं, जिनको सम्यक्त्वके गुण बताया जा सकता है, किन्तु स्वानुभूतिके बिना हुए ये गुण आभासरूप कहलाते हैं। जैसे मिथ्यादृष्टियोंमें ये चार गुण पाये जायें तो उनका नाम है श्रद्धाभास, रुच्याभास, प्रतीत्याभास और चरणाभास, और स्वानुभूतिके साथ हों तो ये सब गुण समीचीन कहलायेंगे। इस विवेचनसे यह ज्ञात हो गया कि सम्यक्त्वका वास्तविक चिन्ह, स्वानुभव है। स्वानुभवमें स्वकी अनुभूति है, स्वके अपने आप हुए, सहज हुए, अपनी प्रतीतिके कारण जो कुछ भी वहाँ लक्षण हुए उनकी अहंरूपसे अनुभूति होना, विकल्प न होकर भी उनका अनुभव होना स्वानुभव है। ऐसा जिनका स्वानुभव परिणमन हुआ, उनके नियमसे सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व न हो तो यह स्वानुभवकी अवस्था नहीं हो सकती। ऐसे स्वानुभवके साथ-साथ

यदि ये श्रद्धा आदिक गुण रहते हैं तब समझना चाहिए कि ये सही गुण है अन्यथा ये सब आभासरूप हैं।

तत्स्याच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत् ।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः ।।४१६।।

स्वानुभूतिमान् श्रद्धादिकोंकी सम्यक्त्वरूपता—उक्त विवेचनके सारांशरूपमें यहाँ यह कहा जा रहा है कि श्रद्धा आदिक चारों ही गुण-यदि स्वानुभवके साथ हों तो वह भी सम्यग्दर्शन समझा जाता है। जैसे स्वानुभवकी लब्धि सम्यक्त्वके साथ नियमसे रहती है, तब वहाँ उस लब्धि वाले स्वानुभवमें सम्यक्त्व ही है ऐसा कथन किया है। इसी तरह स्वानुभवके साथ श्रद्धा आदिक गुण यदि रहते हैं तो इन गुणोंको भी 'सम्यक्त्व है' ऐसा कहा जा सकता है, और यदि श्रद्धा आदिक मिथ्यारूप हों, स्वानुभवसे रहित हों, कभी भी स्वानुभव हुआ न हो, ऐसे जीवके ये चारों (श्रद्धादिक) सम्यक्त्व नहीं समझे जाते, किन्तु श्रद्धाभासादिक समझे जाते हैं। सम्यक्त्वका अविनाभावी गुण तो स्वानुभव है अर्थात् जो सम्यक्त्वके बिना नहीं हो सकता और स्वानुभव हो तो वहाँ नियमसे सम्यक्त्व है, ऐसा अविनाभावी गुण तो स्वानुभूति है। तो जैसे अविनाभाव होनेके कारण स्वानुभवको सम्यग्दर्शन कहा गया है उससे अतिरिक्त हम सम्यक्त्वको और कहाँ ढूंढें ? भावसे भी साम्य हो गया और स्वानुभव व सम्यक्त्व दोनोंका आधार भी वही एक है। तब स्वानुभवको सम्यग्दर्शन कहा ही गया है, सो ठीक है। उसी प्रकार स्वानुभूतिके साथ यदि श्रद्धा आदिक गुण हैं तो वह भी सम्यग्दर्शन है, ऐसा समझना चाहिए। हाँ यदि श्रद्धा आदिक मिथ्यात्वके साथ हैं तो उनको सम्यग्दर्शन न कहना चाहिए, किन्तु श्रद्धाभास, रुच्याभास आदि नामोंसे उन्हें पुकारा जाना चाहिए।

सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां बिना श्रद्धादिमात्रकाः ।
सपक्षवद्विपक्षेपि वृद्धित्वाद्व्यभिचारिणः ।।४१७।।

समीचीन और मिथ्या इन विशेषणोंसे रहित श्रद्धा मात्र आदिकोंकी भी संदिग्धता होनेके कारण सम्यक्त्वके अविनाभावी लक्षणपनेका अभाव—उक्त कथनकी यहाँ एक निर्णयकी तरह बात एक और कर रहे हैं कि श्रद्धा आदिक गुण इनके साथ सम्यक् और मिथ्या ये विशेषण नहीं लगायें, सामान्यश्रद्धा, सामान्यरुचि इस प्रकारके जो मात्र श्रद्धा आदिक हैं वे सपक्षकी तरह विपक्षमें भी रहते हैं, इस कारणसे ये व्यभिचारी हैं, तो सम्यक्त्वको नियमसे सिद्ध करने वाले नहीं है। जैसे सम्यक्त्वके साथ श्रद्धा पायी जाती तो श्रद्धा सामान्यतया मिथ्यात्वके साथ भी पायी जाती। तो श्रद्धाकी साधारण मुद्रा तककर सम्यक्त्वका निर्णय कैसे किया जा सकता है, क्योंकि श्रद्धा सम्यक्त्वके साथ भी पड़ी है और मिथ्यात्वके साथ भी पड़ी है तो सामान्य श्रद्धा आदिकको न सम्यक्त्वसहित कह सकते और न मिथ्यात्वसहित। तब संदिग्ध अवस्था

हो गयी। श्रद्धा होनेपर भी सम्यक्त्व है या नहीं, ऐसा यहाँ निर्णय तो नहीं हो सकता। तो ऐसी संदिग्ध अवस्थामें वे श्रद्धा आदिक निर्णीत नहीं बन पाते। सम्यक् और मिथ्या विशेषण जिनके साथ नहीं लगे हैं, ऐसी श्रद्धाको हम क्या निर्णय दें कि वे सम्यक्त्वके लक्षण हैं अथवा नहीं। इस तरह यहाँ यह बात बतायी गई कि सम्यक्त्वके लक्षण स्वानुभव, श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और लक्षण, ये ५ हैं, लेकिन स्वानुभव तो सम्यक्त्वका अविनाभावी गुण है। उस प्रकार ये श्रद्धा आदिक सम्यक्त्वके अविनाभावी गुण नहीं हैं। स्वानुभूतिसनाथ होकर ही श्रद्धादिक सम्यक्त्वके लक्षण कहे जा सकते हैं।

अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टि: श्रद्धाद्यो यतः।
मिथ्या श्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यत: ॥४१८॥

सम्यक् श्रद्धादिकोंमें ही श्रद्धादिकासंव्यवहार करनेका अनुरोध--उक्त कथनका सारांश यह है कि यदि आश्रय, रुचि, प्रतीति और चरण हमारे हैं तो सम्यक्त्वके साथ रहकर जिस तरह होना चाहिए उस प्रकार हैं तब तो ये श्रद्धा आदिक सही कहलाते है, परन्तु यदि श्रद्धा, रुचि गादिक मिथ्या हैं तो वे श्रद्धा आदिक नही रहे, याने नाम मात्रके श्रद्धा आदिक कहलाते हैं। यहाँ अब श्रद्धा आदिक गुणोंको एक सही रूपमें निरखना, इन भावोंको लेकर कथन चल रहा है। उक्त श्लोकमें एक सामान्य कथनकी बात कहते हुए व्यभिचारिता बतायी गई थी, उनकी तो सम्यक्त्वके साथ विषमव्याप्ति भी नहीं है। विषमव्याप्ति और व्यभिचरिततामें अंतर है। विषमव्याप्ति होते हुए भी इस साधनसे साध्यका अनुमान सही होता है। जैसे धूमकी अग्निके साथ विषमव्याप्ति है तो भी धूमके द्वारा अग्निका अनुमान सही होता है कि है अग्नि, लेकिन जहाँ व्यभिचारी साधन होता है, उसका साध्य हो अथवा न हो, दोनों बातें हैं। जैसे धुवाँ देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि अग्नि हो भी और न भी हो। वहाँ तो अग्नि सिद्ध होगी ही, किन्तु अग्नि देखकर धूमका सद्भाव असंदिग्ध नहीं है। इसी तरह यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि श्रद्धा, रुचि आदिक हैं तो सम्यक्त्व होता है, इस तरहसे सामान्यतया वर्णन था। अब यहाँ यह बतला रहे हैं कि जो श्रद्धा आदिक सम्यक् हैं तब ही उनका श्रद्धा आदिक नाम रखें अन्यथा वे श्रद्धा आदिक ही वस्तुतः नहीं कहलाते।

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात्।
सम्यङ् मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुनोर्थत: ॥४१६॥

तत्त्वरुचिलक्षण श्रद्धाको श्रद्धामात्रैकलक्षणता होनेसे उसके सम्यक् मिथ्या भेद होने के अनवकाशकी शङ्काकारकी शंका--अब यहाँ शंकाकार कहता है कि श्रद्धा नाम तत्त्वरुचि का ही तो है और वह है एक श्रद्धामात्रकी बात। सही हो, गैर सही हो, ये विशेषतायें क्यों लगायी जा रही हैं? जब तत्त्वरुचिका ही नाम श्रद्धा है और श्रद्धाका लक्षण श्रद्धा करना ही

है, फिर उस श्रद्धामें सम्यक् श्रद्धा, मिथ्याश्रद्धा—ऐसे दो भेदों वाली श्रद्धा क्यों कही जा रही है ? और फिर उसमें यह कहना कि जो वास्तविक श्रद्धा हो सो ही श्रद्धा है और वास्तविक नहीं है तो वह श्रद्धा भी नहीं है। यह भी कथन कैसे सही हो सकता है ? श्रद्धा है तो श्रद्धा है, ज्ञान है सो ज्ञान है। जैसे लोग ज्ञान करते हैं तो वह भी तो सम्यग्ज्ञान है। चौकी, पुस्तक आदिकको जाना तो वह भी तो सम्यग्ज्ञान है और मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत आत्म-स्वरूपको जाना तो वह भी सम्यग्ज्ञान है। तो ऐसे ही श्रद्धा भी श्रद्धा ही है और श्रद्धाकी बात परखी गई वह उस प्रकार है, फिर वहाँ ये दो भेद क्यों किए जा रहे हैं कि कोई श्रद्धा गुण है, कोई मिथ्या ? अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं।

नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धा स्वानुभवद्वयोः।
नूनं नानुपलब्धेर्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥४२०॥

यथार्थ श्रद्धा और स्वानुभूतिकी समव्याप्ति बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—शंकाकारने जो उक्त शंका की है वह यहाँ संगत नहीं बैठती है। यह कथन भी किया गया है कि सम्यक्त्वके साथ श्रद्धा हो, उस ही का नाम श्रद्धा है, अन्यको श्रद्धा कहते ही नहीं हैं, ऐसी दृष्टि रखकर यह उत्तर चल रहा है कि श्रद्धा और स्वानुभव—इन दोनोंमें समव्याप्ति है। दोनों ही सदा साथ ही साथ रहने वाले हैं और इसी कारण अनुपलब्ध पदार्थमें श्रद्धा नहीं होती। जिस पदार्थकी उपलब्धि नहीं होती है, दृष्टिमें जो पदार्थ नहीं आया उसकी श्रद्धा कोई कैसे कोई कर लेगा ? अगर अनुपलब्ध पदार्थमें श्रद्धा होने लगे तो जो असत् हैं खरविषाण, आकाशपुष्प आदिक इनमें भी श्रद्धा हो जाना चाहिए। तो अनुपलब्ध पदार्थमें श्रद्धा नहीं होती, अर्थात् उपलब्ध पदार्थमें ही श्रद्धा होती है। अब आत्माके सम्बन्धमें यह प्रकरण निरखिये। उपलब्ध अर्थ मायने आत्माका दर्शन हुआ हो, तो जहाँ आत्माकी उपलब्धि होती है वहीं तो स्वानुभूति होती है और वहीं श्रद्धा होती है। यों श्रद्धा और स्वानुभूति दोनों एक साथ रह रहे हैं, इस कारण इनकी समव्याप्ति है, इसी वजहसे यह कहा गया है कि जो सम्यक् श्रद्धा है उसीको हम यहाँ श्रद्धा कह रहे हैं।

बिना स्वार्थानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥४२१॥

स्वानुभूतिरहित तथा सुनने मात्रसे होने वाली श्रद्धामें श्रद्धात्वका अभाव—उक्त समाधानसे संबंधित ही यहाँ कुछ वर्णन किया जा रहा है कि बिना स्वार्थानुभवके जो श्रद्धा मात्र सुननेसे हुई हो अथवा श्रुतसे हुई हो तो वह श्रद्धा तत्त्वार्थके अनुकूल होने पर भी पदार्थ की उपलब्धि न होने से श्रद्धा नहीं कहलाती। यहाँ यह बात कही गई है कि शास्त्रोंको सुन लिया, आगमसे जान लिया और वह बात भी वही कही गई है जो तत्त्वार्थके अनुकूल है, वास्तविक है, मगर उसकी उपलब्धि नहीं हुई है, जिसके संबंधमें कहा गया है तो ऐसे अनु-

पलव्ध पदार्थमें श्रद्धा नहीं हुआ करती। जैसे एक दृष्टान्त पहले लीजिए कि जिसने मानो बड़वानीकी विशाल मूर्तिका दर्शन नही किया, पर उसने अन्य लोगोंके द्वारा उस मूर्तिके विषय में बिल्कुल सही जानकारी करली है या मानों शास्त्रोंमें पढ़कर ही भली भाँति उसकी जानकारी कर लिया है, बल्कि यह समझलो कि जिसने उस मूर्तिका दर्शन कर लिया हो वह भी जितनी बातें उसके संबन्धमें न बता सके उससे अधिक स्पष्टरूपसे वह बता देगा, पर जब तक वह उस मूर्तिके साक्षात् दर्शन न करले तब तक उसका ज्ञान वास्तविक श्रद्धा वाला न कहलायगा। जिस पुरुषने उस बड़वानीके क्षेत्रमें जाकर उस मूर्तिका दर्शन कर लिया हो, साक्षात् दर्शन करते समय जो उसे तदाकार श्रद्धा हुई वह उसकी वास्तविक श्रद्धा कहलायगी। तो यहाँ यह बतला रहे हैं कि खूब समझ लेवे और जैसी वस्तु है उसके अनुकूल भी ज्ञान हो जाय तो भी अनुपलब्ध पदार्थमें जो श्रद्धा है वह श्रद्धा नहीं कहलाती। इस कथनीसे एक सम्यग्ज्ञान और असम्यक् ज्ञानका भी निर्णय बन जाता है। सम्यक्त्व होनेसे पहिले होने वाला ज्ञान ज्ञान नहीं कहा है। यद्यपि वह ज्ञान सही पदार्थके अनुरूप है, क्योंकि उस ज्ञानके सहारे ही तो चिन्तन कर रुचि, सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है। तो क्या मिथ्याज्ञानसे या आत्मस्वरूपसे विपरीत ज्ञानसे चलकर सम्यक्त्व बन जायगा ? तो हुआ है सही ज्ञानसे सम्यक्त्व याने आत्मस्वरूपका जो अनुभव किया जाता है उस अनुभवके लिए जो ज्ञान प्रवर्ता है वह सही ज्ञान प्रवर्ता है, लेकिन अनुपलब्ध है इस कारण इस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान नहीं कहा है और जिस ही कालमें उसका अनुभव होता उपलब्धि हो जाती, सम्यक्त्व हो जाता, वही ज्ञान जो पहिले था वह सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है तो इसी तरह सुननेसे या आगमसे जो ज्ञान किया है वह वस्तुके अनुकूल हो तो भी स्वार्थानुभूतिके बिना वह श्रद्धा श्रद्धा नहीं कहलाती।

लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत्।
नोपलब्धिरिहार्थात्सा तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥४२२॥

अनुपलब्धिवत् सामान्योपलब्धिकी सम्यक्त्वमें अप्रयोग्यता—उन्मत्त पुरुषकी तरह सत् पदार्थ और असत् पदार्थकी सामान्यरूपसे कोई लब्धि बन रही हो तो वह वास्तवमें उपलब्धि नहीं कहलाती, किन्तु वह भी उपलब्धिकी तरह अनुपलब्धि ही है। जैसे कोई पागल पुरुष कभी माँ को माँ कह देता है और पत्नीको पत्नी कह देता है और वही कभी माँ को पत्नी और पत्नीको माँ कह देता है, ऐसा पुरुष किसी समय यदि माँ को माँ ही कह रहा है तो भी वह अनुपलब्धिकी ही तरह है। अर्थात् जैसे माँ को पत्नी कह डाला उसी तरह माँ को माँ कह देनेकी बात है, क्योंकि उसके विषयमें उसका कोई निर्णय ही नहीं पड़ा है। ऐसे ही कोई पुरुष कभी सत्को सत् भी कह दे और कभी असत्को सत् कह दे तो जिसके कोई निर्णय नहीं पड़ा है वह अटकलपच्चू कुछ कह देता है तो उसकी वह श्रद्धा न कहलायेगी

और न उपलब्धि कहलायगी। और इसी तरह जब तक उपलब्धि नहीं हुई है तब तक तत्त्वार्थ के अनुकूल भी बात कर रहे हैं मगर भीतरमें तो वह दृढ़ता तो नहीं पड़ी है, साक्षात्करण तो नहीं बना हुआ है। इस कारण तत्त्वार्थके अनुकूल वह ज्ञान हुआ, श्रद्धा हुई, लेकिन उपलब्धि न हो तो उसे श्रद्धा नहीं कहा गया है।

ततोऽस्ति यौगिकी रूढ़िः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम्।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥४४३॥

स्वानुभूतिसहित श्रद्धाकी यौगिकी व रूढ़ि दोनों पद्धतियोंसे सम्यक्त्व लक्षणरूपता— उक्त कथनका सारांश इस श्लोकमें कहा जा रहा है कि सम्यक्त्वका जो लक्षण श्रद्धा कहा गया है वह श्रद्धा रूढ़िसे भी सम्यक्त्वका लक्षण बनती है और यौगिकी रीतिसे भी बनती है, याने श्रद्धा गुण सम्यक्त्वका लक्षण है, सो यह लक्षण रूढ़िसे भी समझना और वस्तुतः भी समझना। स्वानुभूति सहित है वही श्रद्धा है। जब यह बात मान ली गई है तो यथार्थतया भी सम्यक्त्वका लक्षण बन गया और रूढ़िसे लौकिक जन कहते हैं उस ढंगसे भी बन गया। उस ढंगसे तो बनता ही था, उस पर ही तो चर्चायें चल रही हैं, लेकिन जब यह सम्मत हो गया कि स्वानुभूति सहित जो श्रद्धा है उस ही का नाम श्रद्धा है तब तो यह यौगिकी रीति से भी सम्यक्त्वका लक्षण निर्णीत किया है। बहुत कुछ सुन समझ करके युक्तियोंसे, गणितसे सब ढंगोंसे खूब तत्त्वका निर्णय किया गया है, लेकिन उस तत्त्वकी साक्षात् उपलब्धि न हो तो उसे श्रद्धा नहीं माना गया है। जैसे अमेरिका रूस आदिक विदेशमें जो पुरुष नहीं गया वह भी वहां की सही बात बता देता है और ऐसी-ऐसी बातें इस-इस ढंगसे बता देता है कि जैसी बातें वहां जाकर साक्षात् देखकर आया हुआ व्यक्ति भी न बता सके। कैसे पहाड़, कैसी नदी कैसे लोग, कैसा आचरण, कैसी संस्कृति, कैसी भाषा, इन सबका वह स्पष्ट रूपसे वर्णन कर देगा, पर वहां वह गया नहीं है। इतना साक्षात् वर्णन करने पर भी श्रद्धा न कही जायगी। वहां जाकर देखे। उन सबका चीजोंका साक्षात्कार करे उस समयकी श्रद्धामें और उससे पहिले की श्रद्धामें कितना अंतर है? यह मानो ऊपर ही ऊपर ज्ञान बना हुआ है और वहां मजबूती से अन्तरङ्गमें उतारते हुए ज्ञान बना है। तो इसी तरह इस आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें भी उपलब्धि होकर जो श्रद्धा बनी वही वास्तविकी श्रद्धा कहलाती है।

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः।
बहिर्दृष्ट्या यथास्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणाः ॥४२४॥

प्रशमादिक अन्य गुणोंकी सम्यक्त्वबाह्यलक्षणता—यहाँ तक सम्यक्त्वके लक्षणोंमें मुख्य लक्षण स्वानुभूति बतायी गई है, जिसके साथ सम्यक्त्वका अविनाभाव है और उसके पश्चात् फिर श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और चरण—इन चार गुणोंका वर्णन किया है। इसके वर्णनमें यह

बताया है कि सामान्यतया तो यह सम्यक् भी हो सकता, मिथ्या भी हो सकता। इस कारण स्वानुभव सहित यदि ये गुण हों तो सम्यक्त्वके लक्षण हैं और स्वानुभूतिके बिना ये गुण हों तो वे सम्यक्त्वके लक्षण नहीं हैं। इसके पश्चात् इन चार गुणोंके संबंधमें यह कहा गया कि वास्तवमें ये चारों गुण सही तब कहलाते हैं जब स्वानुभूतिके साथ हों और इस तरह इन्हें सम्यक्त्वका सही लक्षण कहा है। इन ५ गुणोंके वर्णनके पश्चात् अब इस श्लोकमें कह रहे हैं कि सम्यग्दृष्टिके प्रशम संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य नामक गुण भी है। ये बाह्य दृष्टि से सम्यक्त्वके लक्षण हैं, इसका भाव है कि यदि ये सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं तब तो प्रशम आदिक सही लक्षण हैं, यदि सम्यग्दर्शनके अविनाभावी नहीं हैं तो ये सम्यक्त्वके लक्षण नहीं कहलाते। प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य ये चार गुण सम्यक्त्वके बिना भी हो सकते हैं क्या ? और हो सकते हैं तो उनकी पद्धति क्या है ? इसका वर्णन स्वयं आगेके श्लोकोंमे किया जायगा, पर संक्षेपमें इनका सामान्यतया यह लक्षण जानें कि कषाय शान्त हों, मंद हों तो वह प्रशम कहलाता है। संसारसे विरक्ति हो, धर्मात्माओंमें प्रेम हो तो वह संवेग कहलाता है, और प्राणियोंपर दया हो तो यह अनुकंपा है और लोक परलोक आत्मा आदिकको माने तो यह आस्तिक्य है। तो ये चारों बातें किसी विशुद्ध परिणाम वाले मिथ्यादृष्टिके भी संभव हो जाती हैं। इस कारण इन्हें बाह्य लक्षण कहा है कि इन चारोंके होनेपर भी सम्यक्त्व हो अथवा न हो। तो इन चारों गुणोंके संबंधमें वर्णन किया जायगा तो उनका निर्देशरूप वर्णन इस श्लोकमें किया गया है।

तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणक्रमात्।
अनुकंपा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥४२५॥

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्यका निर्देश—सम्यग्दृष्टिके जो प्रशम संवेग आदिक चार गुण हैं इस प्रकार संकेतरूपमें उक्त श्लोकमें कहा गया है, उन्हीं चार गुणोंके नाम यहाँ दिए जा रहे हैं। सम्यग्दृष्टिका प्रथम गुण प्रशम है, दूसरा गुण संवेग है, तीसरा गुण अनुकंपा है, चौथा गुण आस्तिक्य है। इन चारोंका क्या लक्षण है और उनमें क्या विशेषतायें हैं ? इसका स्पष्टीकरण आगेके कथनमें किया जायगा, पर शब्दार्थकी दृष्टिसे यहाँ निरखें तो प्रकृष्ट रूपसे शम होना प्रशम कहलाता है। कषायोंका शमन हो, कषाय मंद हो, इसका नाम प्रशम है। संवेग—धर्मात्मामें, धर्मफलमें, धर्ममें अनुराग हो, भली प्रकार संसारसे विरक्ति हो, निवृत्ति हो, इसका नाम संवेग है। अनुकंपा—कोई जीव दुःखी हों, भूखे हों, रोगी आदि हों तो उनको देखकर खुदमें भी एक प्रकारका कंपन हो पड़े, उनके प्रति दयाका भाव उमड़ पड़े, यह है अनुकम्पा। और आस्तिक्य—अस्ति, ऐसी जिसकी बुद्धि होती है उसे कहते हैं आस्तिक्य। और आस्तिकके भावको कहते हैं आस्तिक्य। जो पदार्थ जैसा है उसको उस तरहसे मान लेना

इसका नाम आस्तिक्य है। कहीं आस्तिक्यका यह अर्थ नहीं है कि जैसा सब मत वालोंने प्रायः कह डाला है कि जो मेरे धर्मको माने सो आस्तिक और जो मेरे धर्मको न माने सो नास्तिक। इस आस्तिक शब्दमें यह बात पड़ी ही नहीं है। वैसे तो एक आस्तिक्य शब्द आया है। पदार्थ जो जैसा है उस प्रकार मान लें तो वह कहलायगा आस्तिक और वैसा न माने तो वह कहलायगा नास्तिक। आत्माका जो स्वरूप है, जहां रहता है, जिस परिणतिमें है, जिन गुणों स्वरूप है उस ढंगसे मानें तो वह आस्तिक है। और मेरे आगममें लिखा है, इस कारण ऐसा मानना चाहिए और ऐसा माने सो आस्तिक है, न माने सो वह नास्तिक है, इस तरह आस्तिक और नास्तिकका अर्थ इन शब्दोंमें नियत नहीं है। तो ये चारों गुण प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य—ये सम्यग्दृष्टि जीवके बताये गए हैं। इनका लक्षण अब क्रमशः आगेके श्लोकों में कहा जायगा।

प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥४२६॥

विषयकषायोंमें मनकी शिथिलतारूपमें प्रशमभावकी व्यक्ति—सम्यग्दृष्टिके जो अभी ४ गुण कहे गये थे—प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य, उनमेंसे प्रशमका लक्षण कहा जा रहा है। विषयोंमें और क्रोधादिक कषाय भावोंमें, स्वरूपसे मनका शिथिल हो जाना प्रशम कहलाता है। विषयकषायके भाव भी अनेक प्रकारके हैं और कषायें असंख्यात लोकप्रमाण हैं, उनमें मनका शिथिल हो जाना सो प्रशम कहलाता है। इसी प्रशम भावकी प्राप्तिके लिए स्तुतिमें कहते हैं कि "आतमके अहित विषयकषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।" यह प्रशम भावना है। विषयोंमें और कषायोंमें दोनोंमें ही मनका शिथिल होना प्रशम कहलाता है। विषय और कषायका परस्पर संबंध है, कार्यकारणभाव है। विषय कषायके लिए कारण है और कषाय विषयके लिए कारण है अथवा विषयकषाय कोई जुदे-जुदे भाव नहीं हैं। उनको एकमें ही मिला दीजिए। यह तो पद्धति परिणति निरखकर इनके दो प्रकार बना दिए गए—विषय और कषाय। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—इन इन्द्रियके विषयोंमें प्रीति जगना, विषयोंमें प्रवृत्ति करना सो तो विषय कहलाता है। यह विषय तो लोभ कषायका ही अंग हुआ और इन्द्रियके विषयोंसे जो प्रीति जगती है, सुहावना लगता है। इन विभावोंको छोड़कर बाकी सारे विभाव कषाय कहलाते हैं। इन विषय और कषायोंमें सम्यग्दृष्टिका मन शिथिल हो जाता है। जिस ज्ञानी पुरुषने भली प्रकार तत्त्वका निर्णय किया है कि यह इन्द्रियज ज्ञान ये इन्द्रियज सुख बड़े पराधीन हैं, नोकर्म भी चाहिए, भावकर्म भी चाहिए, कर्मबन्ध भी चाहिए आदि कितनी-कितनी प्रकारकी पराधीनतायें हैं, तिसपर भी ये आकुलताओंसे भरे हुए हैं। जिनमें सार रंच नहीं है, जिनमें झुलसकर यह संसारी प्राणी जन्म

मरणका संकट प्राप्त कर रहा है, ऐसा तत्त्वनिर्णय जिसके हुआ है और साथ है, इन सब विभावोंसे निराले शुद्ध ज्ञानमात्र भावका अनुभव हुआ है ऐसे प्राणियोंका मन विषय कषायों में शिथिल होगा ही। तो सम्यग्दृष्टिका यह प्रथम गुण है कि उनका मन विषय और कषायों में शिथिल हो जाता है।

सद्यः कृताऽपराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित्।
तद्वाधादि विकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥४२७॥

कृतापराध पुरुषोंके विषयमें भी वधादिविकारके लिये बुद्धि न जगने रूप समीचीन भावके रूपमें प्रशमगुणकी अभिव्यक्ति—अब इस श्लोकमें प्रशमगुणसे जो व्यक्तकाम होता है उसको बतानेके लिए प्रशमका एक दूसरा चिन्ह कहा जा रहा है। जिन जीवोंने अपने साथ कोई नया अपराध किया हो या बारबार अपराध किया हो अथवा किसी भी समय अपराध किया हो तो भी उन जीवोंके सम्बन्धमें उनके मारने आदिक विकारोंके लिए बुद्धि न जगना, सो प्रशम नामका गुण है। जिस जीवको सर्व जीवोंके उस शुद्ध तत्त्वका स्वरूपका बोध हो गया है, सभी जीव प्रभुके समान शुद्ध चैतन्यस्वरूप हैं अर्थात् चैतन्यस्वभाव वाले हैं, इस द्रव्य में कोई अपराध नहीं पड़ा है. इस द्रव्यमें केवल एक सहज ज्ञानस्वरूप ही भरा हुआ है, ऐसे इन सब जीवोंको जिसने निरखा है ऐसा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष कदाचित् किसी कषायवान जीवके द्वारा उपद्रुत भी हो जाय तो भी वह बध आदिकका भाव चित्तमें नहीं लाता है और न यह भी बात चित्तमें लाता है कि यह बरबाद हो जाय, नष्ट हो जाय। किसी भी प्रकारकी दुष्प्रक्रियाका भाव नहीं लाता है तो यह उसका एक प्रशम गुण है। इस प्रशम गुणके प्रसादसे ये ज्ञानी सम्यग्दृष्टिजन तत्काल भी सुखी रहते हैं और आगामी कालमें भी सुखी रहते हैं और यह भी है प्रशमका बाह्य चिन्ह कि कोई मनुष्य बारबार अपराध करे तब भी उन जीवोंके बध आदिकके विकारकी बुद्धि न जगे, उसे कहते हैं प्रशमगुण। कोई किसी का कुछ न कर सके और शान्त रह जाय, यों तो वह प्रशम नहीं कहलाता, किन्तु उसके वध आदिक बरबादीके लिए भाव भी न उठे उसका नाम प्रशम गुण कहलाता है।

हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम्।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंशतः ॥४२८॥

प्रशमगुणकी अभिव्यक्तिका कारण—इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि प्रशम गुण उत्पन्न होनेका कारण क्या है? अर्थात् विरोधी जीवोंपर भी क्षमाभाव करनेकी बुद्धि होनेका, उनके बध आदिककी बुद्धि न करने का कारण क्या है? वह कारण है अनन्तानुबंधीका अनुदय और शेष बची हुई कषायोंका आंशिक मंदोदय। इसी कारणसे इस तत्त्वज्ञ आत्माका मन विषय कषायोंमें शिथिल भी हो गया है। जिस जीवके तत्त्वज्ञान हुआ है,

स्वानुभूति प्रकट हुई है, मिथ्यात्वका वंध कराने वाली अनन्तानुबंधी कषाय हो ही नहीं सकती तो ऐसी अनन्तानुबंधीका तो हो अनुदय और साथ ही शेषकषायोंका हो आंशिक मंदोदय, तब यह प्रशम गुण प्रकट होता है। यहाँ एक अविरत सम्यग्दृष्टिको भी उदाहरणमें लें तो उसके जो प्रशमगुण उत्पन्न हुआ है उसका कारण है अनन्तानुबंधी कषायका अनुदय और अप्रत्याख्यानावरण आदिक कषायोंका आंशिक मंदोदय। इस तरह यह विदित होता है कि प्रशमगुण व्यक्तरूपमें उसके होती है जिसके अन्दर अन्य कषायोंका भी मंद उदय हो। यद्यपि श्रद्धासे, अन्तरङ्गसे अनन्तानुबन्धी कषायके मिट जाने पर उसका प्रशम गुण बनता है, लेकिन जिस कालमें शेष कषायोंका मंद उदय है तो उसका व्यक्त रूप भी बर्तने लगता है। यों तो प्रशमगुणके विकासके लिए कारण है यहाँ अनन्तानुबन्धी कषायका अभाव। ऐसे कितने ही पुरुष होते हैं अथवा साधुवोंमें भी हो सकते हैं कि जिनके अनन्तानुबंधी कषायका तो अनुदय नहीं है, उदय है, मिथ्यात्व बसा हुआ है, और अनन्तानुबन्धीका भी मंद उदयमें अन्य कषायें भी उसीके अनुकूल कुछ मन्द चल रही हैं तो उसके बहुत बड़ी समता हो जाती है, शत्रु मित्रको व्यावहारिक ढंगसे एक समान मानता है और उपद्रव करने वाले की बरबादी भी नहीं करता है और अन्तः सम्यक्त्व न जगनेके कारण उसके भी प्रशम गुण वास्तवमें नहीं कहा जा सकता। अनन्तानुबंधीका अनुदय होनेसे यह प्रशमगुण सहज ही प्रकट होता है।

आरम्भादि क्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः।
अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः ॥४२९॥

किसी सम्यग्दृष्टिके विपाकवश आरम्भादि क्रिया होनेपर भी अकाम होनेके कारण प्रशमक्षतिका अभाव—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषके दैवयोगसे कोई आरम्भादिक क्रियायें भी बन पड़ें अर्थात् प्रयोजनवश या चारित्र मोहनीयके विपाकके कारण कुछ आरम्भादिक क्रियायें भी यह ज्ञानी पुरुष करे तो भी इच्छाके न होनेके कारण वे आरम्भ आदिक क्रियायें हो रही हों तो भी अन्तरङ्ग शुद्धि पड़ी हुई है, इस कारण उसके प्रशमगुणका नाश नहीं होता। यहाँ थोड़ी यह आशंका हो सकती है कि कोई पुरुष आरम्भ आदिक क्रियायें करेगा तो क्या इच्छा के बिना करेगा ? कोई सम्यग्दृष्टि गृहस्थ पुरुष दुकानपर जायगा तो क्या वह बिना इच्छाके जाता है या वहाँ ग्राहकोंसे व्यापार करता है तो क्या बिना इच्छाके ही अरहंतकी तरह रहता हुआ कर रहा है ? क्या उसकी यह इच्छा नहीं है कि काम चले, कुछ लाभ मिले ? तो उसके उत्तरमें यह कहा जायगा कि चारित्रमोहके उदयमें इच्छा क्यों नहीं होती ? फिर उदय किसका नाम है ? समाधान—इच्छा भी हुई, प्रवृत्ति भी हुई, लेकिन अन्तरङ्गमें इच्छा नहीं है। इसके लिए थोड़ा अपनी कुछ भली घटनाओंका विचार करें तो किसी समय ऐसा लगता है कि यहाँ दो मन हो रहे हैं, एक आत्मामें दो मन बन रहे हैं। एक मन कह रहा है कि

ऐसा पापकार्य न करना और एक मन कुछ उलझनवश, कुछ परिस्थितियोंवश विवश होकर उस कार्यको करनेके लिए थोड़ा प्रवृत्त होता है। तो वहाँ यद्यपि मन दो नहीं हैं किन्तु विचारोंकी विचित्रता देखिये कि भीतरमें तो शुद्ध भाव पड़े हुए हैं और कारणकलापके कारण बाहरमें कुछ प्रवृत्ति चल बैठती है, तो इसी तरह सम्यग्दृष्टि पुरुषको भी समझिये कि जिसके मिथ्यात्व नहीं रहा, सम्यक्त्वका अभ्युदय हो गया है वैसी भीतरमें निर्मलता जगी है, उस निर्मलताके कारण अब सांसारिक किसी भी बातमें उसकी इच्छा नहीं चलती है। भीतरमें इच्छा न होने पर भी कुछ परिस्थितियाँ ऐसा बाध्य करती हैं कि उसे आरम्भ आदिक कार्य करने पड़ते हैं, तो ऐसे आरम्भ आदिक कार्य करते रहने पर भी उस ज्ञानीके प्रशम गुणका अभाव नहीं हुआ है, वह प्रशम तो बना ही हुआ है।

सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः।
अन्यत्र प्रशमम्मन्योऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥४३०॥

प्रशम और प्रशमाभासकी स्वरूपरचनाका आधार सम्यक्त्व सनाथत्व व सम्यक्त्व राहित्य—अब इस श्लोकमें उक्त विवरणके निष्कर्षरूपमें प्रशम और प्रशमभावकी बात बतला रहे हैं। सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभूत जो प्रशम होता है वह तो वास्तविक प्रशम है अर्थात् सम्यग्दर्शनके साथ-साथ जो कषायोंका शमनरूप गुण है वह तो है वास्तविक प्रशम और सम्यग्दर्शनके बिना या मिथ्यात्वके रहते हुए जो प्रशमगुण हुआ उसको प्रशमाभास कहते हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शनके अभावमें प्रशमगुण नहीं कहला सकता है। यहाँ चाहिये मोक्ष मार्ग और वह क्यों चाहिये? मुक्ति पानेके लिए। मुक्तिका अर्थ है कि संकल्प, विकल्प, विचार, तरंग, विभाव न रहें। और इसके कारण गतिभ्रमण मिटेगा, कर्मक्षय होगा। तो जिन विभावोंसे जिन विकल्पोंके कारण इस संसारमें आकुलता है वे विभाव न रहें उसे कहते हैं मुक्ति। उस मुक्तिमें ही परमकल्याण है, अनाकुलता है, इस कारण उस मुक्तिके मार्गपर चलना चाहिए। तो मुक्तिके मार्गपर चलनेका जिनका भाव बना है और चल रहे हैं ऐसे पुरुष कषायोंका शमन चाहेंगे। परिस्थितियाँ कुछ शान्त कर दें या कुछ बाहरी वातावरण ऐसा मिल जाय कि जिससे शान्ति रहे। ऐसी शान्तिमें वह सन्तुष्ट नहीं होता है। वह सन्तुष्ट होता है मौलिक शान्तिमें, सहज शान्तिमें और ऐसी शान्ति, ऐसा प्रशम सम्यक्त्वके साथ ही हो सकता है, अतएव बताया है कि सम्यक्त्वके साथ जो अविनाभावी है वह सम्यक्त्वके बिना नहीं होता। ऐसा जो प्रशम गुण है वह तो वास्तवमें प्रशम और सम्यक्त्वके बिना जो प्रशम होता है उसे प्रशमाभास कहते हैं। आभास उसीमें लगाया जा सकता है जहाँ भिन्नता ताड़ना बड़ी कठिन होती है। सच्चे मोती और झूठे मोती (मुक्ता व मुक्ताभास) मिले हों, कोई सच्चे मोतियोंमें झूठे मोती मिलाकर बेचना चाहे तो क्या वह कंकड़ या कोई मिट्टीके

कण या कोई पत्थरका टुकड़ा मिलाकर बेचेगा । अरे वे झूठे मोती तो वैसे ही देखनेमें लगने चाहिएँ जैसे कि सच्चे मोती । उन सच्चे और झूठे मोतीकी परख यों ही सुगमतासे नहीं की जा सकती । । उसके लिए तो कोई बड़ा ही पारखी होना चाहिए । वही सच्चे मोती और झूठे मोतीको अलग-अलग कर सकता है । तो यों ही इस प्रशम भावमें भी बहुतसे गुण हैं । उसमें विषयोंका निग्रह है, इन्द्रियोंका दमन है, यह किसी पर क्रोध नहीं करता, शत्रुसे अप्रीति नहीं करता । इतना होनेपर भी एक सम्यक् ज्योति न होनेके कारण वह सब प्रशम नहीं कहलाता है, वह प्रशमाभास कहलाता है । तो प्रशम और प्रशमाभासका अन्तर परखना बाहरकी परीक्षासे अशक्य है । उसके तो अन्तः परीक्षा होती है । जैसे सच्चे और झूठे मोतीकी परीक्षा ऊपरी ढंगसे अशक्य है, जो पारखी है, जो उसके भीतरी मर्मको जानता है वही परख सकता है । तो प्रशमाभास भी ऊँचा परिणाम है, लेकिन सम्यक्त्वके बिना वह प्रशमाभास है और प्रशम गुणके सामने वह उत्कृष्ट चीज नहीं है ।

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः ।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥४३१॥

धर्म व धर्मफलमें परमोत्साह, साधर्मियोंमें अनुराग व परमेष्ठियोंमें प्रीति होने रूप भावमें संवेग गुणकी अभिव्यक्ति—प्रशम गुणका लक्षण करनेके पश्चात् इस श्लोकमें संवेग गुणका लक्षण किया जा रहा है । संवेग नाम है परम उत्साहका । संवेग शब्दमें सम् और वेग ऐसे दो शब्द पड़े हैं । सम् मायने भली प्रकार, वेग मायने उत्साह । परम उत्साह होनेका नाम संवेग है । किसमें ?····धर्ममें, धर्मफलमें परम उत्साह होनेका नाम संवेग है । धर्म है रत्नत्रय रूप परिणाम । आत्माके सहज शुद्ध स्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान उसमें आचरण यह तो हुआ धर्म और धर्मफल है मोक्ष कैवल्य अवस्था । उस कैवल्यकी दृष्टि की जा रही है, उसमें उत्साह जग रहा है । देखिये—जब कि मिथ्यादृष्टियोंको बाहरी वैभव बढ़ानेमें उत्साह जग रहा है, इतनी कंपनी खोल दिया, इतना व्यापार कर लिया, इतनी बिल्डिंग बना ली आदि जब बाह्य वैभवों के विषयमें उत्साह जा रहा है, दूकान करता है तो उत्तरोत्तर उसमें वृद्धि होती है, उत्साह जगता है, और यहाँ सम्यग्दृष्टि जीवको देखो—ज्यों-ज्यों अपने आत्मामें विकास करता है, प्रयोग कर-करके अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपके स्पर्शके लिए जो-जो प्रयत्न करता है उन प्रयत्नोंमें सफलता मिलती है कुछ-कुछ, तो उसके प्रति बड़ा उत्साह, बड़ा हर्ष जगता है । तो ऐसे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि धर्मात्माका जो धर्मफलमें परम उत्साह होता है वही है उनका संवेग गुण, अथवा साधर्मी जनोंमें अनुराग जगना अथवा सम्यग्दृष्टिमें प्रीति जगना, यह भी संवेग कहलाता है । साधर्मी जनोंमें अनुराग उनको ही जगेगा जिनको धर्मसे प्रीति जगी हो । जिस पुरुषको धर्म-भावमें निष्कपट आत्महित बुद्धिका अनुराग जगा हो उस पुरुषको साधर्मीजन दिखें, उनका

सत्संग हो तो वहाँ अनुराग न जगे, यह बात हो नहीं सकती, क्योंकि उसे यह निर्णय है कि जैसे इस धर्मदृष्टिके कारण मेरेमें एक पावनता आ रही है, पवित्रता आती है, आ सकती है, पवित्र भाव है, ऐसा ही पवित्र भाव तो इसका है। उनकी पवित्रताका स्मरण जो रखता है उसे साधर्मियोंमें अनुराग न जगे, यह कैसे हो सकता है ? और लौकिक रीतिसे भी एक बात का विचार करें। यहाँ धनी लोग धनी पुरुषोंसे अनुराग भी रखते और ईर्ष्या भी रखते। ईर्ष्या क्यों होती है कि एक तो जब उनके चित्तमें यह बात समायी हुई है कि उसका व्यापार बढ़ रहा है तो हमारा व्यापार इसके मुकाबलेमें घट जायगा, दूसरे यदि इसका धन हमारेसे बढ़ जायगा तो इसकी प्रतिष्ठा बढ़ जायगी, मुझे फिर इसके मुकाबलेमें कौन पूछेगा ? तो किसी धनिकको किसी अन्य धनिकसे प्रेम कब जगता है जब कि व्यापार इस ढंगका हो कि परस्पर सहयोग वाला हो। अब जरा धर्मात्मा और धर्मात्माओंके व्यापारमें यही पद्धति देखिये। यह धर्मात्मा पवित्र बन जाय, और यह मोक्ष चला जाय तो क्या दूसरेका मोक्ष रुक जायगा ? फिर ईर्ष्या क्यों होगी, वह भी मुक्त हो भली प्रकार और उसको भीतरसे उत्साह हो, बहुत शीघ्र मुक्ति हो, अनन्त मुक्त हो गए हैं, मेरेको उसके मुक्त होनेसे कोई बाधा नहीं आती। तो जब किसीसे मुझमें कोई बाधा नहीं आ सकती तो फिर ईर्ष्या क्यों होगी ? दूसरी बात है प्रतिष्ठा वाली। किसीको यदि उच्च होना है, प्रतिष्ठित होना है, मुक्त होना है, त्रिभुवनपूज्य होना है तो उसके त्रिभुवनपूज्य होनेसे कहीं कुछ मेरा घट तो नहीं गया तो फिर किसीको दूसरेसे ईर्ष्या क्यों ? अरे उस दूसरेकी तरह मैं भी शुद्ध पवित्र रहूं तो यह बात मेरेको भी जग सकती है। अब दूसरा विभाग देखिये—परस्परका सहयोग। जैसे धनिकोंको भी परस्परमें अनुराग होता है ऐसे ही इस सम्यग्दृष्टि पुरुषका तो परमसहयोग है, अतएव एक धर्मात्माका दूसरे धर्मात्मामें अनुराग होता ही है, इसको संवेग कहते हैं।

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥४३२॥

सम्यक्त्वमात्रात्माकी व शुद्धात्मानुभवकी धर्मरूपता—सम्यग्दृष्टिमें चार लक्षण जो बाह्य होते हैं वे बताये जा रहे हैं—प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य। प्रशमका अर्थ है—कषाय मंद हों, शान्त हों, कोई अपराध भी करे तो उसपर क्षमाभाव रखना यह है प्रशमभाव। संवेग—बताया गया है कि धर्म और धर्मफलमें अनुराग होना सो संवेग है। उस ही संबंधमें इस श्लोकमें यह कहा जा रहा है कि वह धर्म और धर्मका फल क्या है ? जिसमें किया हुआ अनुराग पुरुषार्थ संवेग कहलाता है ? धर्म है सम्यक्त्वमात्र आत्मा। सम्यक्त्व स्वरूप आत्मा ही धर्म है, अर्थात् आत्माका जैसा सहज समीचीन स्वभाव है, सत्त्व है, बस वही

आत्माका धर्म है। सम्यक्त्व गुणमें कोई बाहरकी विधि वाली बात नहीं है अथवा अलगसे किसी दूसरेके द्वारा विधि वाली बात नहीं है, किन्तु ऐसी स्वच्छता जो बिगड़ रही थी कर्मोंके बिगाड़के कारण याने विघटनके कारण वह मिट गई, उसीको कहते हैं सम्यक्त्व। तो आत्मा तो सम्यक्त्वस्वरूप है, स्वच्छ स्वभाव वाला है। सो ऐसा सम्यक्त्वस्वरूप आत्मा धर्म कहलाता है, और उसका अनुभव होना, शुद्ध आत्माका अनुभव होना यह धर्मपालन कहलाता है। तो धर्ममें और धर्मके पालनमें और धर्मके फलमें अनुराग होना संवेग गुण बताया गया है। धर्म जो वास्तविक स्वरूपमें है वह तो शाश्वत है, स्वभावरूप है, उसका कहीं अभाव नहीं है। यदि धर्म न रहे तो धर्म भी सत् नहीं रह सकता। जैसे उष्णता न रही तो अग्नि किसका नाम है? तो धर्मके बिना पदार्थका सत्त्व ही नहीं रह सकता।

अतीन्द्रिय अक्षयसुखकी धर्मफलरूपता—आत्माका धर्म है सम्यक्त्वस्वभाव सहजस्वरूप और उसका आलंबन करना, आश्रय करना यह कहलाता है धर्मपालन। तो धर्मपालनमें अनुराग हो और धर्मफलमें अनुराग हो इसको कहते हैं संवेग। धर्मफल क्या है? जो अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख हैं वह धर्मका फल कहलाता है। आत्माका जो सहज शील स्वभाव है, ज्ञानमात्र भाव है उसका पालन यदि किया गया, उसका आश्रय लिया गया, तो उसके आलंबनमें मिला क्या? अविनाशी आनन्द। यह बात प्रयोग द्वारा बहुत सुगमतया अनुभवमें आ सकती है। आत्मा यदि अपने स्वभावका आलंबन ले, ज्ञानमात्र मैं हूं, अन्य कुछ नहीं हूं, यह देश, यह कुल, यह जाति, यह काल, यह लोगोंका प्रसंग यह सब बिखरा हुआ, न्यारा-न्यारा स्वयंका स्वयंमें है। मैं इन सबसे निराला हूं। और वह हूं केवल ज्ञानमात्र, सहज ज्ञानस्वरूप। ऐसे इस आत्माका कोई आलंबन ले, आश्रय करे, दर्शन करे, इसका ही उपयोग रखे तो उस स्थितिमें इसको प्राप्त क्या होता है? यह प्रयोग द्वारा वस्तुतः ज्ञेय है, शब्दों द्वारा भी कहा न जा सकेगा, किन्तु स्वयं ही उस प्रकारका कोई प्रयोग करे, अपने आपको उस रूपमें निरखनेका, अनुभवनेका कोई पौरुष करे तो वह समझ सकता है कि उसमें आनन्द क्या है? उस आनन्दको किससे उपमा दें? जहाँ कोई आकुलता नहीं, क्षोभ नहीं रहता, ऐसे उस अनाकुल आनंदकी उपमा जगतके किन सुखोंसे दी जा सकती है? वह तो है धर्मफल जो कि इन्द्रिय द्वारा अगोचर है, अविनाशी है और कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा वह सुख धर्मफल कहलाता है। धर्मफल पूरा तो परमात्मामें मिलता है। परमात्मा साक्षात् धर्ममूर्ति है, वह तो धर्म धर्म ही है, और वहाँ कुछ नहीं है। भगवान मायने क्या? केवल धर्म धर्म ही रहना, सर्वत्र धर्म धर्म ही है, उसीको कहते हैं भगवान। तो वह तो धर्मफल है, अक्षय, अविनाशी अनन्त आनन्द उनके प्रकट है। उस धर्मफलमें या यह ही पौरुष द्वारा जो कुछ अनुभवमें आता है उसमें अनुराग होना इसको कहते है संवेग। यहाँ सम्यग्दृष्टिके

लक्षण बताये जा रहे हैं।

इतरत्र पुना रागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गुणेऽनुरागोपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ।।४३३।।

धर्मात्मावोंमें अनुराग होनेमें भी संवेगगुणकी व्यक्ति—संवेगके लक्षणमें यह भी बताया गया था कि धर्मात्माओंमें अनुराग करना भी संवेग है। तो धर्मभाव और धर्मफल ये तो हैं आत्माके अमूर्तभाव, उनमें अनुरागकी बात उक्त श्लोकमें कही गई थी सो तो ठीक ही है, लेकिन धर्मात्माओंमें अनुरागकी बात कैसे कही गई है? कहाँ तो धर्म और धर्मफल, यह तो है केवल भावमात्र और धर्मात्मा यह तो जीव है, मनुष्य है, व्यवहारी है, चलता-फिरता है, वचनव्यवहार भी करता है, ऐसे धर्मात्माओंमें अनुरागकी बात क्यों बतायी गई? उसका उत्तर इस श्लोकमें है कि धर्मात्माओंमें जो अनुराग करना बताया गया है संवेगके लक्षणमें सो धर्मात्मा जनोंमें, गुणोंके अनुरागके कारण बताया गया है, न कि वहाँ मानवमूर्तिके अनुरागकी बात कही गई। उस आत्मामें जो धर्म प्रकट है उस धर्मके प्रति अनुराग है। तो उस धर्मके अनुरागसे ही धर्मात्मा जनोंमें अनुरागकी बात कही गई है। तब जो धर्मात्मा नहीं हैं। जिनमें वे गुण नहीं पाये जा रहे हैं, फलकी इच्छासे भी अनुराग न करना चाहिए और फल की इच्छा न रखे तो भी अनुराग न रखना चाहिए। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्मसे जो रहित हैं ऐसे साधारण जन अथवा अपने आपको गुरु रूपसे प्रसिद्ध करने वाले लोग, जिसे कहते हैं कुगुरु अथवा कुदेव, उनमें कुछ धन वैभव आदिककी इच्छा रखते हुए भी अनुराग न करना चाहिए, उनसे अनुराग करके इष्टसिद्धिकी चाह करना, यह प्रकट मिथ्यात्व है। मान लो कोई कामना भी न हो, कोई वर लेनेकी इच्छा न हो तब भी अनुरागसे प्रयोजन क्या है? क्यों अनुराग करे? जिस पुरुषको अपने धर्ममें अनुराग हुआ है, अर्थात् आत्माका जो शाश्वत पवित्र भाव है, स्वभाव है, उसमें जिसका अनुराग हुआ है अर्थात् उसका स्पर्श करके जिसने अपनी तृप्ति पायी है ऐसा पुरुष धर्मशून्य पुरुषोंमें अनुराग क्यों करेगा? प्रयोजन क्या है? कहीं इससे यह बात न लेना कि इतर जनोंमें द्वेष है। प्रयोजन नहीं तो अनुराग कैसे किया जाय? जैसे दुनियामें बहुतसे मनुष्य देश-विदेशमें पड़े हैं, उनसे हम आप कुछ व्यवहार भी नहीं करते, अनुराग भी नहीं करते या उनके प्रति द्वेषबुद्धि तो नहीं है। हाँ प्रयोजन न होनेसे अनुरागकी बात नहीं उत्पन्न होती। तो धर्मात्मा जनोंमें जो अनुराग करनेकी बात कही गई है वह गुणोंके अनुरागसे कही गयी है, न कि उस मूर्तिके अनुरागसे। जिसको धर्ममें अनुराग है उसको धर्मात्मामें अनुराग है। जिसको धर्मात्मामें अनुराग है उसको उस धर्मात्माके शरीरसेवामें भी प्रीतिका परिणाम होता है, किन्तु मूल क्या है? जितनी भी वैयावृत्तिकी प्रीति बढ़ती गई है उसका मूल है उसमें धर्मका दर्शन। उस आत्मामें भी इस ज्ञानीने धर्मका दर्शन किया है,

जिससे प्रेरित होकर धर्मानुरागकी प्रेरणा पाकर वह वैयावृत्ति करता है तो साधर्मीमें अनुराग उसके गुणोंके कारण है, अतएव जो धर्मशून्य पुरुष हैं उनमें किसी फलके इच्छाके विना भी अनुराग न करना चाहिए और फलकी इच्छासे भी अनुराग न करना चाहिए।

धर्मात्मामें अनुराग किये जानेका व धर्मशून्य पुरुषोंमें अनुराग न किये जानेके कारण का सोदाहरण विवेचन—एक स्तवनमें लिखा है कि हे भगवान ! आप अकिञ्चन हैं, आपके पास कुछ नहीं है, न धन है, न वैभव है, न सोना चाँदी है, न परिजन गोष्ठी है, न राज्य है, फिर भी आपके स्तवनसे, अनुरागसे, भक्तिसे जो कुछ मिल सकता है वह अपूर्व मिलेगा। वह बात सकिञ्चनोंसे प्राप्त नहीं हो सकती अर्थात् जो धनी जन हैं, राजा महाराजा हैं, सकिञ्चन हैं, जिनके पास कुछ पड़ा है उनसे वह चीज नहीं प्राप्त हो सकती है। तो मानो कोई भगवानकी ओरसे पूछ बैठा या अलंकारमें मानो भगवान ही तुरन्त कहते हैं कि जब मैं अकिञ्चन हूं तो फिर मेरी सेवामें तुम्हें मिलेगा क्या ? तो उसके उत्तरमें उदाहरण देते हैं कि देखो पहाड़ अकिञ्चन है अर्थात् वहां पानीका एक बूंद भी नहीं है, लेकिन नदी नाले और अच्छे हितकारी जल वहींसे तो झरते हैं, वहींसे तो जलस्रोत निकलता है, मगर जो सजल है ऐसे समुद्रसे कोई नदी नाला आदि नहीं निकलता और न हितकर पेय पदार्थ भी मिल पाता है। तो जैसे अकिञ्चन होता हुआ भी पहाड़ सुन्दर पेय जल देता है इसी तरह यहाँ देखो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जनोंको ज्ञानी धर्मात्माओंमें अनुराग बढ़ता है अथवा उस अकिञ्चन ज्ञानमूर्ति भगवानसे इतना अनुराग क्यों बढ़ा है कि उसकी प्रवृत्ति यह जाहिर करती है कि जो कुछ यहाँ धर्मात्माओंके संगसे अथवा भगवानकी भक्तिसे मिल सकता है वह बड़े-बड़े करोड़पतियोंसे अथवा बहुत बड़े धनिकोंसे भी नहीं मिल सकता है। तो अब समझिये कि धर्मात्माओंके संग का शरण कितना ऊँचा शरण है ? जो इस आत्माको भवसे पार लगा दे, ऐसा उत्साह दिलाये ऐसी प्रेरणा दिलाये, ऐसा परिज्ञान कराये, उस संगसे या उस भक्तिसे उस अनुरागसे बढ़कर किस अनुरागको बताया जायगा ? यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष धर्मशून्य पुरुषोंमें इच्छा रखकर प्रेम नहीं करते और इच्छा न रखकर भी प्रेम नहीं करते।

अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते।
किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥४३४॥

अभिलाषा अर्थमें अनुराग शब्दका अप्रयोग तथा संवेगका निषेधपरक अर्थ—सम्वेग बताया है धर्म और धर्मफलमें अनुराग करना, तो इस अनुरागका अर्थ क्या है ? उस अर्थको स्पष्ट करनेके लिए इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है यहाँ अनुराग शब्दका अभिलाषा अर्थ न लेना कि धर्ममें, धर्मात्मामें, धर्मफलमें अभिलाषा। या धर्मात्मामें अभिलाषाका नाम अनुराग है। यहाँ अनुरागका अर्थ अभिलाषा नहीं है, यह मुख्यतया यहाँ बताया जा रहा है।

तो अनुराग शब्दसे अभिलाषा अर्थ न लेना, विलक्षणभाव लेना है । विलक्षणभाव क्या है ? उसको अगले श्लोकमें स्पष्ट बतायेंगे । तो अनुराग शब्दका अर्थ यहाँ अभिलाषा न लेना । और अभिलाषाका अर्थ निषेधरूपमें यह ले सकेंगे कि अधर्मकी निवृत्ति होना और अधर्मफल का निवृत्त होना अनुराग कहलाता है । अधर्म है मिथ्यात्व भाव । उनसे निवृत्त होना सो सम्वेग है । ये समस्त विकार और ये बाहरी संयोग इनसे निवृत्त होना, इनमें रुचि होना सो भी संवेग कहलाता है । तो निवृत्तिरूप अर्थ ले लीजिए और अन्य अर्थ ले लीजिए पर अनुरागका अर्थ अभिलाषा न मानना चाहिये । यदि अभिलाषा शब्दका अनुराग अर्थ न लें तो क्या अर्थ लें, इस बातको इस श्लोकमें स्पष्ट करते हैं ।

अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यथार्थतः ।
प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥४३५॥

प्राप्ति और उपलब्धि अर्थमें संवेगलक्षणगत अनुराग शब्दका प्रयोग—इस प्रकरणमें अनुराग शब्द बताया गया है कि उसका क्या अर्थ लेना चाहिए, सो सुनिये—प्राप्ति और उपलब्धि ये एकार्थवाचक हैं सो अनुरागको उपलब्धि शब्दका वाच्य समझ लिया जायगा । यहाँ विधिरूपका संकेत करते हुए अनुरागका अर्थ बताया गया है, उससे यह सिद्ध होता है कि इससे ऊपरके श्लोकमें कोई निषेधरूपसे अनुरागका लक्षण कहा गया है । धर्मसे और अधर्मफलसे निवृत्त होना सो अनुराग है । सो यह संवेग शब्दका निषेधपरक अर्थ है और पहिले विधिपरक अर्थमें धर्म और धर्मफलमें अनुराग करना कहा गया है और निषेधपरक अर्थमें संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त होना, वैराग्य होना, यह बताया गया है । तो इस निषेधपरक अर्थकी आगेके श्लोकमें चर्चा की जायगी । यहाँ विधिपरक अनुराग अर्थ कहा जा रहा है । प्राप्ति कह लो, यह है अनुरागका वाच्य । इससे क्या प्रमाणित हुआ कि धर्मात्माकी, धर्म की प्राप्ति होना, उपलब्धि होना सो अनुराग है, वही संवेग है । अब विचारिये प्राप्ति और उपलब्धि कैसे हो ? दृढ़तासे उसका परिचय होनेमें प्राप्ति हो जाती है । जैसे कोई कहे कि मैंने तो इसके हृदयकी थाह पा ली, मायने उसके हृदयके भावका दृढ़ परिचय हो गया, उसे जैसी अपने पर बात बीती हो उस तरहका परिचय हो गया, इसको कहते हैं प्राप्ति । किसी धर्मात्माको निरखकर उसकी चेष्टाओंसे, उसके पूर्व सुने हुए वचनोंसे अथवा उसकी किसी भी प्रकार जो हृदयकी बात व्यक्त होती है उस ढंगसे भी उसके हृदयके भीतर पहुंचकर देखें । इसका ऐसा सुलझा हुआ भाव है, इसकी दृष्टि सदा इस शाश्वत ज्ञानस्वभावके अनुभवके लिए ही लालायित रहती है, जब ऐसी दृढ़तासे धर्मात्मा पुरुषका परिचय किया जा रहा है तो इसी को कहेंगे कि हमने धर्मात्माके आशयकी प्राप्ति कर ली है, धर्मको पा लिया है । धर्मको पाने का अर्थ है उसका दर्शन होना, उसकी दृष्टि होना, उसकी उपलब्धि होना, इस रूपसे अपने

आपमें भी अनुभव होना यही है धर्मकी प्राप्ति। स्वात्माकी उपलब्धि क्या होती है? अपने आपका सहज स्वात्मस्वरूप अपनी दृष्टिमें दृढ़तासे आ जाय और उसे ग्रहण करके ही रह जाय बस यही मैं हूं, तो बस हो रहा है मुझमें जो कुछ सहज ज्ञान, जानन हो रहा है सहज, बिना उपयोग जुटाये, बिना कोई परिश्रम किए, बिना कोई क्षोभ लाये, मेरे स्वरूपसे स्वयं सहज जो बड़े आरामसे चल रही है वृत्ति, चले वृत्ति, यह बस कृतकृत्य हूं, इसके अतिरिक्त मेरेको और कोई करनेकी बात कुछ है ही नहीं। यह मैं हूं और यह हो रहा है, बस इतना ही मेरा समस्त सर्वस्व है, यही तत्त्व है, यही सर्वश्रेय है, यही कल्याण है, ऐसा जिसने अपने आपमें परखा उसको कहेंगे कि इसने स्वात्माकी उपलब्धि कर ली है, क्योंकि मूर्त पदार्थके ढंगसे स्वात्माकी उपलब्धि कदाचित् नहीं हो सकती। और पाने वाला कौन और लिया जाने वाला कौन? तो यही स्वयं पाने वाला है, यही स्वयं पाया जाने वाला है। अज्ञानसे अपने आपकी सुध न थी, अपने आपका कोई भान न था। मैं क्या हूं, एकदम दृष्टि इसकी बाहरमें फैल गई थी, विह्वल, विकल हो गया था, अपने आपको यह खो ही बैठा था और यही दृश्यमान भौतिक मेरा सब कुछ है, यही घर है, यही मेरा वैभव है। मोटे रूपसे इतना भी पता नहीं पड़ता था कि यहाँके मरे लोकके न जाने किस कोनेमें पैदा हो गए, फिर मेरे लिए यह वैभव क्या है, मकान क्या है? कुछ अपने आपकी सुध न थी और जिस समागमकी प्राप्ति हुई, ऐसा वैभव ही उसे सर्वस्व लग रहा था, ऐसी दृढ़ताभरी हुई स्थितिमें था। अब मिथ्यात्व खतम हुआ, भ्रमका आवरण दूर हुआ और यहाँ अपने आपका वह सर्वस्व देख लिया तो इस ही के मायने अपने आपका पा लेना हुआ। खोया हुआ था और मिल गया, इसको पाना कहेंगे कि नहीं? कहेंगे। तो यह आत्मा खोया हुआ था और अब मिल गया था, इसीके मायने हैं कि अपनी स्वात्माकी प्राप्ति हुई है। बस यही अनुराग संवेग कहलाता है।

नचाऽशङ्क्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम्।
शुद्धोपलब्धिमात्रेऽपि हि यो भोगाभिलाषवान्॥४३६॥

शंकाकार द्वारा भोगातिरिक्त अन्य अभिलाषाओंकी सम्यक्त्वमें अनिषिद्धताकी आरेका—संवेगके प्रकरणमें जो अनुरागकी बात कही गई है कि धर्ममें और धर्मफलमें परम उत्साह होना, अनुराग होना सो संवेग है। साथ ही यह भी दर्शाया गया था कि इसके कोई फलकी लिप्सा नहीं होती है तो इस प्रकरणको सुनकर कोई शंकाकार यह सोच सकता है कि यहाँ केवल भोगोंमें की गई अभिलाषाका निषेध है, अन्य अभिलाषायें कर रहे तो उससे सम्यक्त्व न मिटेगा, ऐसा कोई शंका कर सकता है और जैसा प्रायः प्रसिद्ध कर दिया गया है कि धर्म धारण करके भोगोंमें अभिलाषा करना सो दोष है। निःकांक्षित अंगमें लक्षण बताया है कि धर्म धारण करके अभिलाषायें न करना, भवसुखकी इच्छा धर्मधारण करके न करना,

इसी आधारपर मानो कोई शंकाकार कह रहा है कि भोगोंकी अभिलाषाका निषेध किया गया है, अन्य अभिलाषाओंका नहीं अथवा शंकाकार कह रहा है कि देखिये शुद्धकी उपलब्धि होने पर भी जो भोगोंमें अभिलाषा रखता हो उसका निषेध है सम्वेगमें । इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं ।

अर्थात्सर्वोभिलाषः स्यादज्ञानं दृग्विपर्ययात् ।
न्यायादलब्धतत्त्वार्थो लब्धुं कामो न लब्धिमान् ।।४३७।।

सम्यक्त्वमें अभिलाषामात्रकी निषिद्धता—जितनी भी अभिलाषायें हैं वे सभी मिथ्यात्वसे हुआ करती हैं, इस कारणसे सभी अभिलाषायें निषिद्ध हैं । यहाँ मूलमें दृष्टि कीजिए कि जिसको विकारका लेशमात्र भी हेय समझमें आया है कि आत्मद्रव्यमें विकारोंका लेश भी न उठना चाहिए, धर्मादिक द्रव्योंकी तरह सहजस्वरूपमें ही रहना चाहिए—ऐसी जिसकी उत्कंठा हुयी है वह रंच मात्र विकारको भी नहीं चाहता । इस कारणसे कदाचित विकार कोई हों भी तो वे भी न चाहे हुए हैं । रंच भी चाह हो वहां सम्यक्त्व नहीं होता । इस बातको समयसारमें बताया है कि इच्छा ही परिग्रह है और इच्छा ही अज्ञानमय भाव है । तो जिसके अज्ञानमय भाव हो वह उसका परिग्रह हुआ । जहाँ अज्ञानमय भाव नहीं है, ज्ञानमय भाव है उसके परिग्रह नहीं कहा जा सकता । तो यहाँ परिग्रहसे मतलब बाह्यपरिग्रह न समझना और चारित्र मोहके उदयमें जो कुछ इच्छा हो उसे भी यहाँ परिग्रह नहीं कहा गया है अर्थात् जिसका निषेध किया गया है ऐसा परिग्रह उसे नहीं कहा गया है, किन्तु दर्शन मोहके उदयमें जो किसी भी परभावके प्रति लगाव होता है उस इच्छाकी बात कही गई है और वास्तवमें उसी इच्छाको ही इच्छा कहना चाहिए । जैसे जब कर्मविपाक होना है कोई वेदनाका तो शारीरिक वेदना भोगनी पड़ती है कि नहीं, लेकिन उसे क्या इच्छा कहा गया है ? और कर्मोदयसे कोई रोग आ पड़े, उपद्रव आ पड़े, उस उपद्रवमें कुछ शोक होता है, विषाद होता है तो क्या उसे इच्छा कहेंगे ?····नहीं । तो जैसे कर्मविपाकमें सम्यग्दृष्टि पुरुष के शोक भी हो जाय तो उसे इच्छा नहीं कहा गया है, इसी तरहसे सम्यग्दृष्टि पुरुषके कर्म-विपाकवश रति भी हो जाय, इच्छा भी हो जाय तो भी उसे इच्छा नहीं कहते हैं । यहां यह बात समझना है कि मिथ्यात्वमें परभावके प्रति जो लगाव होता है उस स्थितिमें होने वाली इच्छा, उसे तो एक ओर स्थापित किया जाय और चारित्र मोहके उदयमें होने वाले विकार उन्हें एक ओर स्थापित किया जाय तो चारित्रमोहके उदयमें होने वाले विकार, जैसे विषाद हैं, शोक है इसी प्रकार इच्छा भी एक है । तो एक इच्छा तो हुई चारित्रमोहके उदय में सम्भव होने वाली, उसे तो चारित्रमोहकी श्रेणीमें रख दिया जाय और यह इच्छा हुई मिथ्यात्वमें होने वाली, इसे अलग स्थापित किया जाय तो जैसे उन शोकादिक चारित्रमोहज

विकार होनेको इच्छा नहीं कहते, इसी प्रकार चारित्रमोहज इच्छाको भी इच्छा नहीं कहते। तो जो अनिच्छ है, ज्ञानी पुरुष है उस जीवके तो इच्छाका अभाव ही है। जैसे ज्ञानीके शोक को इच्छा नहीं कहते उसी प्रकार चारित्रमोहज इच्छाको भी इच्छा नहीं कहा जा सकता। यों ज्ञानी पुरुषके किसी भी प्रकारकी इच्छा नहीं रहती। केवल भोगोंकी ही अभिलाषामात्र निषिद्ध नहीं, किन्तु अपने आपमें मोक्षमें चलनेकी प्रेरणा देने वाला उत्साह शुभभाव, शुभोपयोग इसकी भी उसे इच्छा नहीं रहती, पर जिनके बिना काम नहीं चल सकता उनमें उसकी प्रवृत्ति हुआ करती है। तो जितनी भी अभिलाषायें हैं वे सभी अज्ञानरूप हैं, मिथ्यात्व से होती हैं। तब न्यायसे यह बात सिद्ध है कि जिसने तत्त्वार्थको नहीं जाना है उसने इच्छायें कीं, पर इच्छायें होनेपर भी पदार्थ नहीं मिलता है। चाह रहती है इच्छा कर रहा है, लेकिन जिसको तत्त्वार्थ नहीं प्राप्त हुआ है उसे चाह कर भी पदार्थ नहीं मिलता। तो स्वयंकी भी बात जिसे प्राप्त नहीं हुई है और स्वयंकी ही बात वह चाह रहा है तो चाह है फिर भी चीज नहीं मिलती, तब वहाँ इस चाहको भी समाप्त करना चाहें तो अपने आपके स्वरूपकी उपलब्धि हो जाती है।

मिथ्या सर्वोभिलाषः स्यान्मिथ्याकर्मोदयात्परम्।
स्वार्थमार्थक्रियासिद्धौ नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥४३८॥

स्वार्थक्रियासिद्धिमें समर्थ न होनेके कारण अभिलाषाओंकी मिथ्यारूपता—जितनी भी अभिलाषायें हैं वे सब मिथ्या हैं, क्योंकि सभी अभिलाषायें मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होने वाली होती हैं। अभिलाषायें मात्र मिथ्यात्वकर्मके उदयसे हैं, और यहां जो चारित्र मोहज विकार है उसे अभिलाषा नहीं कहा अथवा इच्छा तो सामान्य शब्द है और अभिलाषा कोई विशेष अर्थका सूचक है और इसीलिए अभिलाषा उपसर्गपूर्वक अभिलाषा शब्द कहा गया है। तो इच्छा दर्शनमोहके उदयमें हुई उसका भी नाम हुआ और चारित्रमोहके उदयमें हुई उसका भी नाम हुआ परन्तु अभिलाषा चारित्रमोहके विकारको न कहेंगे और रूढ़िमें भी इस तरह कहा जाता है कि उसकी तो यह अभिलाषा है तो हार्दिक ढंगसे कही हुई बातको जब कहना हो तो वहाँ अभिलाषा शब्दका प्रयोग होता है। जहाँ सामान्यतया कहा हो वहाँ इच्छा शब्दका प्रयोग होता। जैसे अजी कुछ बात नहीं, वह तो हमारी इच्छा भर थी। वहाँ अभिलाषा शब्दका प्रयोग नहीं हुआ। तो अभिलाषायें सभी मिथ्या हैं, मिथ्यात्वकर्मके उदय से होती हैं और अभिलाषायें अपनी अर्थक्रियाकी सिद्धि नहीं कर सकतीं। यह बात प्रत्यक्ष से भी विदित है और युक्तिसे भी समझमें आती है। अभिलाषाकी अर्थक्रिया क्या? अभिलाषामें जो चाहा गया है वैसे ही पदार्थका होना इसको कहते हैं अभिलाषाकी स्वार्थक्रिया। सो अभिलाषा करने पर अभिलाषामें जो चाहा गया है वैसी बात हो जाय, सो नियत नहीं

है अथवा अभिलाषाके नातेसे असम्भव ही है। इस बातका स्पष्टीकरण आगेके श्लोकोंमें स्वयं करेंगे और वहाँ भी अभिलाषा स्वार्थक्रियाकारी नहीं है। इसको दो पद्धतियोंसे सुनना है। एक तो ऐसी मोटी पद्धतिसे कि सारी दुनियां चाहती है पर उन्हें वे चीजें मिलती नहीं हैं। यह तो हुई एक रूढ़ि पद्धतिसे और निश्चयपद्धतिसे वहाँ यह निरखा जायगा कि बड़े-बड़े तीर्थंकर जैसे महापुरुषोंके भी इच्छा स्वार्थक्रियाकारी न हो सकी, क्योंकि जिस कालमें अभिलाषारूप परिणति है उस कालमें उस वस्तुकी प्राप्ति असम्भव है, क्योंकि वस्तुकी प्राप्ति होती है तो तद्विषयक अभिलाषायें हो ही न सकती थीं। तो इन दोनों पद्धतियोंसे यह सिद्ध है कि अभिलाषायें स्वार्थक्रिया करनेमें समर्थ नहीं हैं।

क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः।
अभिलाषस्याप्यसद्भावे स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुतः ॥४३९॥

अभिलाषाका अभीष्टसिद्धिसे असम्बन्ध—उक्त श्लोकमें यह बताया गया था कि अभिलाषायें स्वार्थक्रिया करनेमें समर्थ नहीं हैं। उसके स्पष्टीकरणमें कहा जा रहा है कि कहीं पर अभिलाषाके होने पर भी हेतु न होनेसे कार्यसिद्ध नहीं होता और कहीं पर अभिलाषाके न होने पर भी हेतु हो तो वहां उस कार्यकी सिद्धि हो जाती है। यह बात कही जा रही है रूढ़ि पद्धतिसे। प्रकट दिखता है कि इच्छायें करने वाले प्रायः सभी मनुष्य हैं। तो वे जो जो इच्छायें करते हैं वे वे काम हो ही जाते हों, यह बात नहीं देखी जाती है। उनमें से कुछ ही कार्य हो पाते हैं, सो भी वे उन कार्योंके हेतु समागम मिलनेपर होते हैं और ऐसा भी निरखा जाता है कि अभिलाषायें नहीं भी रखी जा रही हैं। कोई इच्छा नहीं कर रहा है और उसे भी उस चीजकी प्राप्ति हो जाती है, इष्टसिद्धि हो जाती है अर्थात् उसके कामकी चीज प्राप्त हो जाती है। तो ऐसी अभिलाषा और अर्थक्रियामें व्यभिचार पाया जाता है। अभिलाषा होने पर भी काम नहीं होता और अभिलाषायें न होने पर भी काम हो जाता है और ऐसा व्यभिचार पाया जानेसे उक्त श्लोकमें जो यह कहा गया था कि अभिलाषायें इष्टकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं हैं, वह ठीक ही कहा गया है। अब इसी बातको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

यशः श्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत्।
नास्य लाभोऽभिलाषेपि विना पुण्योदयात्सतः ॥४४०॥

अभिलाषा होनेपर भी अभीष्टसिद्धि न होनेके उदाहरणमें अभिलाषित श्रीसुतमित्रादिके अलाभका वर्णन—अभिलाषाके होनेपर भी इष्टसिद्धि नहीं होती है—इतने हिस्सेका इसमें उदाहरण दिया गया है। सारा संसार यश, लक्ष्मी, पुत्र मित्रादिक सभी चीजोंको चाहता है, परन्तु चाहनेपर भी उसके ऐसी अभिलाषा उठ रही है तब भी पुण्योदयके बिना कोई वस्तु

मिल नहीं सकती। दरिद्र भी यश, लक्ष्मी, पुत्र मित्रादिक सभीकी चाह रखते, धनिक लोग भी चाह रखते, पर चाह रखने पर भी पुण्योदय नहीं है तो वहाँ भी उन चीजोंकी प्राप्ति तो नहीं होती। अनेक पौराणिक दृष्टान्त तो हैं ही, लेकिन यह बात प्रत्यक्षमें ही सामने नजर आ रही है। जो लोग व्यापार करते हैं, इतना परिश्रम करते हैं वे क्या धनकी इच्छा नहीं रख रहे हैं? अरे वे तो चाहते हैं कि और अधिक धन प्राप्त हो। मगर पुण्योदय जितना है उतना उनको प्राप्त होता है, उससे अधिक प्राप्त नहीं हो सकता। जो जीव ज्ञानप्रकाशमें हैं और इन बाहरी समागमोंको कर्मविपाकवश प्राप्त हुआ समझता है उसको आकुलतायें नहीं होतीं। वह जानता है कि प्रथम तो ये समागम असार हैं और मिलते हैं ये पुण्योदयसे, तब मुझे उनके सम्बन्धमें अधिक विकल्प, विचारमें मग्न होनेकी क्या आवश्यकता है? अरे होगा तो होगा, न होगा तो न होगा। अकृतपुण्यकी कथा प्रसिद्ध है। उसके पिताने (राजाने) जब प्रजाजनोंके द्वारा उसको राज्यसे बाहर निकाल दिया तो उसके प्रेमके कारण उसकी माँ भी साथमें गई। राजाने उसके साथ बहुतसा अनाज व बहुतसा धन (अशर्फियां) गाड़ियोंमें लदा कर साथ भेज दिया ताकि वह दुःखी न रहे, पर देखिये उसके भाग्यकी विचित्रता कि सारा धन नष्ट हो गया, अनाज भी खिर-खिरकर खतम हो गया। तो पुण्योदयके बिना चाहने पर भी इष्टकी सिद्धि नहीं होती है। तो अभिलाषायें करना अनर्थ है, मिथ्या है और वह केवल अज्ञानसे उत्पन्न हुई बात है और उसमें तथ्य कुछ नहीं रखा है।

जरामृत्युदरिद्रादि नहि कामयते जगत्।
तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राऽशुभोदयात् ॥४४१॥

अभिलाषा न होने पर भी अशुभोदयसे अनिष्टसंयोगकी बलात् प्राप्ति—इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि अभिलाषायें नही भी रखी जा रही हैं जिन चीजोंकी, फिर भी उनकी प्राप्ति होती है। जैसे कोई पुरुष यह तो नही चाहता कि मुझे बुढ़ापा मिले, दरिद्रता मिले, दुःख मिले, पर ये न चाहने पर भी आते ही हैं। जैसे मनुष्यका शरीर है, उमर बढ़ रही है, शरीर कितना ही पुष्ट हो, कोई कितना ही बढ़िया भोजन भी करे, बड़े साधन भी बनाये, पर बुढ़ापेको कोई रोक सकता है क्या? मृत्युको कोई रोक सकता है क्या? अथवा इस आने वाली दरिद्रताको भी कोई रोक सकता है क्या? तो देखिये न चाहकर भी ये चीजें आती ही हैं। यह बात एक जो लोकमें प्रत्यक्ष दिख रही है उस ढंगसे कही हुई बात है। जो अनिष्ट है उसे नहीं चाहता है, वह भी कर्मोदयवश आना पड़ता है और जो इष्ट है, जिसे चाहते हैं वह पुण्योदय न हो तो आ नहीं सकता है। इस तरह इस श्लोकमें इष्ट और अनिष्ट की चाह और अनभिलाषामें इच्छानुकूल अर्थक्रिया न होना यह बात बताया है, लेकिन अब इष्ट-इष्टमें ही बात लगाओ। इष्ट, धन, पुत्र, मित्रादिकको कोई चाह रहा है और पुण्योदय नहीं

है तो वह नहीं मिलता और ये धन, पुत्र, मित्रादिक जो कि लौकिक जनोंको बड़े इष्ट हैं उन्हें कोई ज्ञानी जीव नहीं चाह रहा है लेकिन जब गृहस्थीमें है, यहां रह रहा है तो ऐसी वे चीजें अनायास प्राप्त हो जाती हैं, जिनका उपयोग भी सम्यग्दृष्टि करता है। तो न चाहते हुए भी मिल जाती है और चाहते हुए भी नहीं मिलती हैं। यह हुई इष्टके सम्बन्धमें बात।

परमार्थतः इच्छाके समय इष्टप्राप्तिकी असंभवता—अब परमार्थकी बात निरखो—अभिलाषा और अभिलाषाके विषयकी पूर्ति ये दोनों कभी भी एक कालमें सम्भव नहीं हैं। इसे कहते हैं वेद्य-वेदकभाव। वेद्यभाव—जो वेदा जाय, जो इच्छा किया हुआ भाव हो सो वेद्यभाव है। वेदकभाव-भोगनेके समयका भाव वेदकभाव है। ये दो परिणतियाँ भिन्न परिणतियां हैं। भोगनेके समयका भाव और जिसके भोगनेका भाव हो रहा है उसकी चाहका भाव कि यह मुझे मिल जाय, ऐसी चाहका भाव—ये दोनों बातें एक साथ नही हो सकतीं। जैसे किसी पुरुषके हाथमें १००) हैं तो वे तो हैं ही, अब क्या वह सोचता है कि ये १००) मुझे मिलें ? अरे वे तो मिले हुए ही हैं। तो जो चीज प्राप्त है उसके सम्बन्धमे इच्छा क्या उठे ? और जिसके सम्बन्धमें इच्छा उठ रही है, समझिये कि वह चीज उपलब्ध नहीं है। तब ही तो उसके सम्बन्धमें इस पद्धतिका भाव बनता है कि यह मुझे मिले। तो यों इच्छा और भोग इन दोनोंकी परिणति एक साथ नहीं होती। एक दृष्टिसे एक साथ भी है, मगर उसका विषय बदला हुआ है। निरन्तर तो उपभोग है इस जीवके और निरन्तर ही इच्छायें चल रही है तो कैसे कहा जाय कि इच्छाके समयमें उपभोग नहीं है ? पर उपभोग दूसरेका है और इच्छा क्या कोई दूसरेकी है ? यों निरन्तर चल रही है। जैसे १००) हाथमें हैं और इच्छा कर रहे कि हजार रुपये मिल जायें तो १००) का उपभोग भी चल रहा और हजार रुपयेकी इच्छा भी हो गई। इस तरह इच्छा और भोग एक साथ हो जायेंगे, पर उस ही विषयकी इच्छा और उसही विषयका भोग—ये दो परिणतियाँ एक साथ नहीं हो सकतीं। तात्पर्य यह है कि अभिलाषाके अनुसार कुछ होता नहीं है, इस कारण अभिलाषाका त्याग करो।

संवेगो विधिरूपः स्यान्निषेधश्च निषेधनात्।
स्यादिवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तपोः ॥४४२॥

संवेगकी विधिरूपता व निषेधरूपता तथा दोनोंमें अनर्थान्तरता—संवेग विधिरूप भी होता है और निषेधरूप भी। जब संवेगमें कोई विध्यात्मक भाव निरखा तब वह विधिरूप है, उसका लक्षण बताया गया है कि धर्ममें, धर्मके फलमें और परमेष्ठीमें अनुराग होना सो संवेग है और जब निषेध की दृष्टिसे देखेंगे कि उस संवेगभावमें क्या चीज नहीं रही, जिसके कारण इतनी विशुद्धि बढ़ी है ? तो वहाँ निषेधरूप स्वरूप नजरमें आयगा कि संसार, शरीर, भोगों

का राग न रहा आदिक रूपसे । तो इस तरह जो संवेगके दो लक्षण कहे जा रहे हैं वे केवल विवक्षाके भेदसे दो लक्षण हुए । वस्तुतः उनमें अर्थान्तरता नहीं है कि किसीके संसार, शरीर, भोगोंसे निवृत्ति रूप संवेग होता होगा और किसीके धर्म और धर्मफलमें अनुरागरूप संवेग होता है, लेकिन संवेगभाव जिसके है वह इसी प्रकार है कि धर्मका अनुराग होगा और संसार से वैराग्य होगा, इस कारण इन दोनों लक्षणोंमें अर्थान्तरता न समझना चाहिए ।

त्यागः सर्वाभिलापस्य निर्वेदो लक्षणातथा ।
स संवेगोथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान ॥४४३॥

संवेगकी सर्वाभिलाषात्यागस्वरूपता—सर्व अभिलाषाओंका परिहार होना अथवा वैराग्य होना, सो सम्वेग है । यही संवेग धर्म कहलाता है । इस कथनसे यह निर्णय लेना चाहिए कि जो अभिलापासहित है वह धर्मवान नहीं है । जिस पुरुषको संसारके किसी समागममें किञ्चित भी अभिलाषा है, पर श्रद्धापूर्वक अभिलाषा है तो वह धर्मवान नहीं है । यों तो चारित्रमोहनीयके विपाकमें अनेक प्रकारके विकार बनते हैं, विषाद, शोक, क्रोध आदिक उसी तरह लोभ भी होता है । इच्छा भी बनती है, किन्तु वह सब अभिलाषा नहीं कहलाती । अभिलाषा तो जो दर्शनमोहके विपाकसे उत्पन्न होती है, जिससे जीवमें परपदार्थोंके प्रति लगावकी बुद्धि जगती है उसे अभिलाषा कहते हैं । ऐसी अभिलाषा जिस पुरुषके बन रही हो वह पुरुष धर्मवान नहीं कहा जा सकता । इस तरह संवेगके लक्षणमें यह प्रसिद्ध किया गया कि रंच मात्र भी इस सम्यग्दृष्टिको अभिलाषा नहीं होती । इसी भावको लेकर समयसारमें बताया गया है कि जिसके परमाणुमात्र भी इच्छा है, परपदार्थोंके प्रति परमाणुमात्र भी परिग्रहभाव है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, क्योंकि परमाणु मात्र अन्य पदार्थको उसने स्वीकार कर लिया तो उसने अनात्माको भी नहीं जाना । जिसने आत्मा अनात्माको नहीं जाना उसने जीव अजीव आदिकको भी नहीं जाना । यों उसे सम्यक्त्व नहीं है जहाँ परमाणुमात्रमें भी राग बना हुआ है । तो यह राग बताया गया है श्रद्धामय राग यानें परपदार्थोंके प्रति एक के प्रति भी अनुराग हो तो समझिये कि वहाँ सम्यक्त्व नहीं है, ऐसे अनेक उदाहरण थे और हैं । जैसे कोई पुरुष केवल पुरुष स्त्री ही हैं । घरमें आनन्दसे रह रहे हैं, बड़ा मौज है, किसी से विरोध नहीं, किसीको कष्ट नहीं पहुंचाते, कोई कमानेकी चित्तमें शल्य भी नहीं रखते, धर्मपालनका भाव भी रखते, ज्ञानके प्रति उमंग भी रखते, किन्तु स्त्रीमें उस पुरुषकी आत्मबुद्धि है तो उसकी वजहसे अपना शृङ्गार शोभा, भरा पूरा रहना, इस तरहका कुछ मनमें भाव बना हुआ है तो ऐसे जीवके सम्यक्त्व नहीं है क्योंकि दर्शन मोहकृत अभिलाषा एक उसको स्त्री मात्रमें हो गई है । तो इस तरह अभिलाषा सम्वेग भावमें नहीं होती ।

नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः ।
नित्यं रागादि सद्भावात् प्रत्युताऽधर्म एव सः ।।४४४।।

मिथ्यादृष्टिके रागादि सद्भाव होने, सदा अधर्मरूपता होनेके कारण क्रियामात्रमें धर्मत्वकी प्रतिषेध्यता—तो अभिलाषामें धर्म नहीं है, यह बात इस श्लोकमें बतायी गई है । अब यह बतला रहे कि जो क्रियामात्र है वह भी धर्म नहीं है । शरीरसे कोई चेष्टा हो, बचनों से चेष्टा हो, ऐसी क्रिया धर्म नहीं कहलाती, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीवोंके भी रागादिकका सद्भाव होने से ऐसी क्रिया चलती रहती है, तो क्या वह क्रिया धर्म हो जायगी ? जिसके रागादिकका सद्भाव है ऐसे पुरुषके तो अधर्म ही बर्त रहा है । धर्मकी तो गंध भी नहीं है; तो जो क्रियाकाण्ड है, पूजन वंदन और और भी यात्रा आदिक जो क्रियायें हैं वे क्रियायें तो इस तरह हुई हैं कि भीतरमें उस शुद्ध तत्त्वके प्रति अनुराग जगा है और उस अनुरागके कारण अरहंत सिद्ध प्रभुमें भक्ति उमड़ी है और उस भक्तिमें ये क्रियायें बन रही हैं तब तो वह सही व्यवहारधर्म है और प्रभुकी कुछ खबर नहीं है, बल्कि स्वरूप और उल्टा मान रखा है कि यह मेरे परिवारका पालनहार है, इसकी कृपासे सम्पदा आती है आदिक कोई भाव लिए हुए है वे कदाचित् भावभीने होकर भी क्रियायें करते हैं तो भी उन क्रियाओंमें कोई धर्म मिलता नहीं है । प्रथम तो ज्ञानी भी क्रियायें करता है तो कहीं क्रियाओंमें धर्म नहीं होता किन्तु ज्ञानीके चिन्तनकी दृष्टिमें धर्म पड़ा है, वहाँ उस ज्ञानीके चिन्तनका बोध न रख कर क्रियायें हो रही दिखती हैं । इस कारण क्रियाओंको धर्म कह देते हैं, पर यहाँ मिथ्या-दृष्टियों के तो क्रियाओंसे धर्म कहनेकी कोई गुञ्जाइश भी नहीं है ।

नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात्क्वचिदरागवान् ।
अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ।।४४५।।

मिथ्यादृष्टिकी नित्यरागिता व सम्यग्दृष्टिकी अस्तरागता—मिथ्यादृष्टि पुरुष सदा रागी रहता है । उसे निद्रा भी आ जाय और अचेत पड़ा हुआ है तो क्या उस समय उसको कहा जा सकता कि रागी नहीं है ? वासनामें तो भीतरमें राग बना हुआ है । कैसी है वह सुप्त दशा कि अचेत जैसा लगता । उसे भी कुछ समझमें नहीं आ रहा है, कोई विकल्प नहीं उठ रहा, लेकिन भीतर वह सब गाड़ी बराबर ज्यों की त्यों चल रही है । कर्मबन्ध होना, अध्यवसाय होना, रागादिक परिणाम होना, और कभी-कभी तो स्वप्नमें बड़े विकल्प उठते हैं, उनको भी वह अनुभव रहा है । तो जो मिथ्यादृष्टि पुरुष है, जिसका आशय मिथ्या है वह तो सदा रागी है । वह कभी रागरहित नहीं हो पाता जब तक मिथ्यात्वका सम्बन्ध है, लेकिन सम्यग्दृष्टि पुरुष तो अस्तराग है । पहिले राग था मिथ्यात्व अवस्थामें, किन्तु मिथ्यात्वका उदय होने पर राग दूर हो गया है । यहाँ जो कुछ राग शेष रहा है वह चारित्रमोहकृत है ।

सो जैसे चारित्र मोहकृत हास्य, रति, अरति, शोक आदिक बातें उत्पन्न होती हैं उस ही श्रेणी का राग रहता है, वह राग दर्शनमोहकृत नहीं है जो संसारबन्ध परम्परा बढ़ाने वाला है उस रागका तो अस्त हो गया है, वह रंचमात्र भी नहीं पाया जा रहा है। ऐसा सम्यग्दृष्टि रागी नही है, किन्तु रागरहित है।

अनुकम्पा क्रिया ज्ञेया मर्वं सत्त्वेष्वनुग्रहः।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥४४६॥

सर्वसत्त्वानुग्रह, सत्त्वमैत्री, माध्यस्थ्य व वैरवर्जनकी अनुकम्पारूपता—संवेगभावनामें विधिपरक, निषेधपरक सब वर्णन करके यह सिद्ध किया है कि सम्यग्दृष्टि जीवके राग नहीं है। इस कारण वह नित्यधर्मशील है। इस तरह सम्वेग भावनाके स्वरूपका उपसंहार करके अब इस श्लोकमें अनुकम्पाका लक्षण कहा जा रहा है। सर्वप्राणियोंमें अनुराग होनेका नाम अनुकंपा है। समस्त जीवोंमें मैत्रीभाव रखनेमें भी क्या है? जहाँ सब जीवोंके क्षेमका भाव हो, किसीको दुःख न हो इस प्रकारका परिणाम है वह सब अनुराग कहलाता है। वहाँ द्वेषबुद्धि छोड़कर मध्यस्थ भाव धारण करें तो उसे भी अनुकम्पा कहते हैं। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, मध्यस्थ, ये चार प्रकारकी भावनायें अनुकम्पामें ही गर्भित हो जाती हैं। अनुकम्पामें दूसरे प्राणियोंके प्रति सहृदयताकी बात जगती है। तो मंत्री भी इसी आधारपर होती है। प्रमोद भावनामें गुणी जीवोंको निरखकर हर्ष होता, लेकिन उस हर्षमें यह बराबर गर्भित है कि उस धर्मात्मापर कोई विपत्ति आयी तो उसका निवारण करनेका इसके निरन्तर भाव बना हुआ है और कभी-कभी तो लोग कह भी बैठते है, किसी धर्मात्माके प्रति बहुत भक्ति जगती है तो कहते है कि बेचारा बड़ा सज्जन है। तो उनके ये शब्द अनुकम्पाको जाहिर कर रहे है। जो इस प्रकार कह रहा है उसके प्रति उस भावनामें भक्ति भी है और साथ ही कोई कष्ट आये तो उसके लिए तन, मन, धन, वचन सबका उपयोग करनेका उसमें भाव भी पड़ा हुआ है। कारुण्य तो सीधी अनुकम्पा है ही और माध्यस्थभाव भी अनुकम्पा है। कोई पुरुष विपरीत चल रहा है, अपराधी है तो उस पर द्वेप न करके उसके प्रति माध्यस्थ भाव रख लेना यह उसकी अनुकम्पा होती है। अथवा शत्रुता छोड़ देनेसे सम्पूर्ण जीवोंमें निष्कषायभाव हो जाना इसका नाम भी अनुकम्पा है।

दृङ्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम्।
मिथ्याज्ञानं बिना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यतः ॥४४७॥

सम्यक् अनुकम्पाका कारण दर्शनमोहका अनुदय—इस सम्यग्दृष्टि पुरुषमें ऐसी अनुपम विलक्षण अनुकम्पायें क्यों उत्पन्न होती हैं? उसका मूल कारण क्या है? इसका वर्णन इस श्लोकमें किया गया है, उस जीवके दर्शन मोहनीयका अनुदय है, इस कारण सम्पूर्ण जीवोंमें

दयारूप परिणाम हो गया है। जब इस जीवके दर्शनमोहका उदय रहता है तो मिथ्याशय कहलाता है और उस मिथ्याशयमें देह और इन्द्रियको यह आत्मा मानकर उसके पोषणमें अपना उपयोग लगाता है और उस समय जो देह इन्द्रियके पोषणके साधन होते हैं, ऐसे जीवों के प्रति तो करता है वह मैत्रीभाव और अन्य जीवोंके प्रति उसका मैत्रीभाव नहीं रहता और इसी कारण जब उन अन्य जीवोंके द्वारा या किसी भी जीवके द्वारा कोई अपने विषयमें बाधा उत्पन्न होती हुई देखी जाती है उस समय उसपर वैरभाव उत्पन्न होता है। तो ऐसी विषमतायें कब समाप्त हों? जब यहाँ यह बोध हो कि ओह संसारके सर्वजीव एक समान स्वरूप वाले हैं, मेरा कुछ भी परिणमन किसी भी जीवके द्वारा नहीं बनता। न सुधार, न बिगाड़, अतएव सभी जीव मुझसे निराले हैं और उनका स्वरूप भी स्वयं प्रभुकी तरह एक अविकार चैतन्यस्वभावमात्र है। जहाँ यह बात निरखी कि वहाँ किसीके प्रति वैरभाव नहीं रहता। तो सब जीवोंमें मित्रताका परिणाम हो, द्वेषबुद्धि छोड़कर माध्यस्थ्यभाव आये तो इसका कारण दर्शनमोहनीयका अनुदय है, क्योंकि मिथ्याज्ञानके बिना कभी भी वैरभाव उत्पन्न हो नहीं सकता। जैसे किसी को दूसरेके प्रति किसी भी प्रकारका वैरभाव जग रहा है तो यह अनुभव है कि उसमें मिथ्याज्ञान पाया जा रहा है और जितने अंशोंमें कषाय है उतने में तो वह अज्ञान है ही, इसमें संदेह ही क्या है? तो जब दर्शनमोहनीयका अनुदय हो तब इन जीवोंमें इस प्रकारकी विलक्षण अनुकम्पा (दया) प्रकट होती है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन का अविनाभावी है। सम्यक्त्व होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। तो जब सम्यक्त्व हो तब सही ज्ञान है और सही ज्ञानमें सही बोध होनेके कारण वैरभाव नहीं रहता और जहाँ मिथ्यात्वका उदय है वहाँ ज्ञान मिथ्या होता है। तो आशयके अनुसार विकल्प होता और उनके अनुसार चेष्टायें होती हैं। तो इस तरह बैर पैदा करके अपनेको मैला करना वह मिथ्यात्वके उदयका परिणाम है। सम्यग्दृष्टिके दर्शनमोहका उदय न रहनेसे वह सर्व जीवोंमें वैरका परिहार करके माध्यस्थ्य भाव धारण करता है।

मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम्।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥४४८॥

परसे स्वके सुख दुःख, जीवन मरणकी मान्यताका व स्वसे परके सुख दुःख, जीवन मरणकी मान्यताका मिथ्यापन—दूसरे जीवसे अपना जीवन मरण समझना, अपने द्वारा दूसरे जीवोंका जीवनमरण समझना, इसी प्रकार दूसरोंसे अपना सुख, दुःख समझना, अपने द्वारा दूसरोंका सुख दुःख समझना यह मिथ्याभाव है। जैसे लोकमें प्रायः सभी मनुष्योंके ऐसा विचार चलता है कि मैं इतने मनुष्योंको पाल रहा हूं, मैं इनको जीवित रख रहा हूं। मैं इन्हें

मार सकता हूं, मैं इन्हें दुःख दे सकता हूं, इस प्रकारका परके प्रति जीवनमरण सुख दुःखके कर सकनेका परिणाम बनाना, मानना कि मैं ऐसा कर सकता हूं—यह मिथ्या है। और इसी प्रकार दूसरे लोग मेरा जन्म मरण सुख दुःख कर देंगे, ऐसा आशय भी मिथ्या है। यद्यपि व्यवहारमें ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव सम्बन्ध देखा जा रहा है कि दूसरे लोग हमारे सुखमें बाधक भी बन जाते, साधक भी बन जाते, लेकिन यह सब मिथ्या व्यवहार है। वस्तुतः जीव को आनन्द तो अपने आपके सहज स्वभावका आलम्बन लेनेसे प्रकट होता है। अविकार शाश्वत सहज चिद्रूपके आलम्बनसे जो सहज निराकुलता होती है उसे यही है एक कर सकने वाला। दूसरा कौन हो सकता है ? और जीवन मरण, सुख दुःख भी जो दूसरोंके द्वारा देखा गया है तो वे अन्य भी केवल नोकर्ममात्र होते हैं। जब असाताका विपाक आया तो उस फल की प्राप्ति होनेमें बाहरी पदार्थ नोकर्म मात्र होता ही है। उन्होंने भी जीवन मरण अथवा सुख दुःख नही किया है। तो कोई पुरुष ऐसा परिणाम रखे कि मैं दूसरोंको जिलाता हूं, मारता हूं, सुखी करता हूं दुखी करता हूं या अन्यसे अपने लिए ऐसा माने तो वह भाव मिथ्या कहलाता है। मिथ्याभाव क्यों है ? इसके उत्तरमें कहते है।

अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः स शल्यवान्।
अज्ञानाद्धन्तुकामोपि क्षमो हन्तुं न चाऽपरम् ॥४४६॥

उक्त मिथ्या मान्यताओंके मिथ्यापनका कारण—जिस पुरुषके जैसा उक्त २ लोकमें बताया गया उस प्रकारसे आशय बना हुआ है, अज्ञान बना हुआ है वह जीव मिथ्यादृष्टि है और शल्यवान है। जैसे जिसका यह भाव बना है कि मैं पुत्रोंको सुखी कर सकता हूं, मैं सुखी करूँगा, तो इस भावके रहने पर उसको शल्य क्यों सदा बनी रहती है कि मेरा सुखी होना मेरे भाग्योदयपर निर्भर है। मेरे भवितव्यपर मेरी परिणति निर्भर है और इसने मान यह रखा कि मैं दूसरेको सुखी कर सकता हूं। तो जब वह सुखी नहीं होता तो उसको शल्य रहती है और चित्तमें बड़ा खेद मानता है। जो काम सोच रखा है, वह काम न बने तो उसके न बननेका कोई खेद नही है, किन्तु मैं कर सकता था और यह न हुआ तो उसकी मान्यताका खेद होता है। जिन जीवोंको जो क्लेश है वह क्लेश यों कठिन बन गया है कि भीतरमें यह शल्य पड़ी हुई है कि मै इस कामको इस तरह कर सकता था, कर सकता हूं, कर सकूंगा, इस प्रकारका जो भाव बनाया है और फिर वह काम होता नही तो उसका खेद बढ़ जाता है। तो कोई पुरुष ऐसा भाव लिए हुए हो कि मैं इसके कामको नही कर सकता। मेरे यह अधिकारकी बात नही है, ऐसा भाव हो और कदाचित इच्छा भी हो कि यह काम बन जाय, और न बने तो उसका खेद न होगा, क्योंकि अंतः उसके यह ज्ञानप्रकाश बना हुआ है कि इसपर मेरा अधिकार नहीं है। जैसे खुदका माना हुआ घर यदि ठीक तरहसे नही

चलता तो उसका लोग खेद मानते हैं, तो क्यों खेद मानते हैं कि उनके चित्तमें यह बात बसी है कि यह मेरा ही तो घर है, जो मैं चाहूं, जैसा चाहूं वैसा बनेगा, इस कारण उसे खेद है, और हमारे दूसरे मित्रादिक हैं उनका कोई काम बिगड़ रहा हो तो वहाँ भाव तो कर रहा है कि मैं इसका काम सुधार दूँ, मगर भीतर यह भाव पड़ा है कि इस पर मेरा अधिकार क्या है ? मेरा नहीं है कुछ तो बिगड़ने पर भी उसको खेद नहीं होता। तो बाहरी पदार्थोंमें किसी भी बाहरी परिणतिके कारण खेद नहीं है, किन्तु उसके चित्तमें यह बात समाई है कि मैं कर सकता हूं और फिर नहीं होता है वैसा तो उसे खेद होता है और यही उसके लिए शल्यरूप बना हुआ है। इस कारण मिथ्यादृष्टि सदैव शल्यवान है।

समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्य वर्जनात् ।।४५०।।

स्वानुकम्पा व परानुकम्पा—अनुकम्पा दो प्रकारकी होता है (१) परानुकम्पा, (२) स्वानुकम्पा। समस्त प्राणियोंमें समताभाव रखना इसका नाम है परानुकम्पा। इसीके साथ सब अनुकम्पायें गर्भित हैं। लौकिक अनुकम्पा भी गर्भित है और पारलौकिक प्राणियोंके सम्बन्धमें जो अनुकम्पाबुद्धि होती है वह परानुकम्पा कहलाती है। स्वानुकम्पा अर्थात्ः परमार्थत: शल्यकी तरह शल्य जो अपनेमें पड़ी है उसका परिहार करदे उसका नाम है स्वानुकम्पा। माया, मिथ्या, निदान—इन शल्योंके मायने हैं सब प्रकारके बिपरीत अभिनिवेश। पदार्थके सम्बन्धमें जो स्वरूपके विपरीत भावना बनी है, जिस भावनासे निरन्तर शल्य रहा करती है वह शल्य समाप्त कर देता है अर्थात् समस्त भेदबुद्धियोंसे दूर होकर एक निज यथार्थ अभेद बुद्धिकी ओर आये, वहाँ जो स्व और परमें अभेदबुद्धि कर रखी थी उससे हटकर अपने-अपने लक्षणसे वस्तुको भिन्न-भिन्न पहिचानकर ममता शल्य छोड़ देवें तो वह कहलाती है स्वानुकम्पा। जीव सभी आनन्द चाहते हैं, पर आनन्द वास्तवमें स्वानुकम्पा है। सो अपने आपपर कुछ कृपा तो करें कि जो व्यर्थके अज्ञानभावसे, अध्रुवभावसे, परबुद्धिसे जो निरन्तर शल्य बनी रहती है, अथवा जो अपने आपके उस शुद्ध आत्मद्रव्यसे विषयकषायोंकी छुट्टी नहीं कर पाते उन विषयकषायकी परिणतियोंकी छुट्टी कर दें, उनको अब अपनेमें प्रवेश न होने दें, इस का नाम है स्वानुकम्पा।

रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपाऽऽत्मनि ।।४५१।।

बन्धसंकटमुक्तिके लिये स्वानुकम्पा करनेका अनुरोध—रागादिक अशुद्धभाव यदि हैं तब तो बंध होता है और न रहें तो बन्ध नहीं होता। बन्धन, परतंत्रता ये सब दिख ही तो रहे हैं। तो हमारा बन्धन यदि दृढ़ नहीं है, यदि बंधनसे हटकर केवल अपने स्वातंत्र्यमें आने

की भावना हुई है, अपने आपपर कुछ कृपा हो गयी है तो उन रागादिक अशुद्ध भावोंका, अशुद्धभावोंका लगाव न रखिये। रागरहित जो एक ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करें। इस स्वानुकम्पाके न होनेसे ऐसे कर्मोंका बन्ध होता है जिसके कारण अन्य प्राणियोंसे बैर होता है और उस बैर व्यवहारमें संक्लेश विडम्बना बनती है। तो अपने आपमें ही यदि अपनी संभाल कर ली जाय तो सारी संभाल अपने आप हो जाती है। और एक अपनी संभाल न रखी और बाहरी पदार्थोंकी संभाल रखी तो न परकी संभाल हो सकती, न अपनी संभाल हो सकती। तो अपने आपको संभाल लेना, बस इसीमें विवेक हैं, यही एक वास्तविक चतुराई है। तो ऐसी स्वानुकम्पा तब ही बनती है जब रागादिक अशुद्ध भावोंको आत्मामें न न होने दें। रागादिक अशुद्ध भाव आत्मामें न हों, इसका उपाय है विकाररहित ज्ञानमात्र निज सहजस्वभावकी दृष्टि रखना। यही मैं हूं ऐसी प्रतीति रखना, इसके अतिरिक्त अन्य परभाव मैं नहीं हूं और न किसी अन्य पदार्थसे मेरा सम्बन्ध है, ऐसा यह मैं स्वसम्वेद्य ज्ञानमात्र हूं, इतनी दृष्टि करलें तो रागादिक अशुद्ध भाव दूर हों, रागादिक भाव दूर हों, बन्धन दूर हो, तो वही अपने आपकी कृपा कहलाती है।

आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितः।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चाऽऽत्मादि धर्मवत् ॥४५२॥

तत्त्व, धर्म, धर्महेतु, धर्मफलके याथात्म्य विनिश्चयकी आस्तिक्यरूपता—अनुकम्पा का स्वरूप बताकर अब आस्तिक्यका लक्षण इस श्लोकमें कह रहे है। तत्त्वके सद्भावको जैसा कि वह अपने आप स्वतः सिद्ध है; धर्ममें, धर्मके कारणमें, धर्मके फलमें जैसा कि उन सबका स्वरूप है, जिस प्रकार आत्मा अपने धर्ममें सहज है उस प्रकारसे विश्वास करना, निश्चय करना इसका नाम आस्तिक्य है। अस्ति इति मतिर्यस्य स आस्तिकः, आस्तिकस्य भाव. आस्तिक्यम्। जो जैसा है वह उस प्रकारसे है इस तरह जिसकी बुद्धि बनी है उसको कहते हैं आस्तिक और आस्तिक आत्माका जो परिणाम है उसको कहते है आस्तिक्य। जो बात जिस प्रकार है उस प्रकारसे उसमें विश्वास हो तो उसे आस्तिक्य कहते है। आस्तिक्य शब्द ही अपना ठीक स्वरूप बता रहा है। यों तो सभी मतावलम्बी किन्ही न किन्हीं शब्दोंमें ऐसा कहते हैं कि जो मेरे मतको माने सो तो सही है और जो मेरे मतको न माने वह मिथ्या है। उसे काफिर कह दो, मिथ्यादृष्टि कह दो, नास्तिक कह दो, किन्ही भी शब्दोंमें कहो। तो यों अपने मतका प्रलाप है। आस्तिक्य नाम तो उसका है कि जो पदार्थ जिसरूप है उस रूप मे माने, ऐसे परिणामको आस्तिक्य कहते है। यह पुरुष आस्तिक है अथवा नास्तिक, इसकी यदि परीक्षा करनी है तो युक्तियोंसे उसके माने गए वस्तुस्वरूपकी कसौटीपर उतरिये। तब निर्णय बनेगा कि यह आस्तिक है अथवा नही। केवल अपने मतके पक्षपातसे किसीको

आस्तिक अथवा नास्तिक कहना यह तो पक्षपात है । तो तत्त्वका स्वरूप जिस प्रकार है उस प्रकारसे निश्चय करना आत्माका जो धर्म है सहज स्वतःसिद्ध और उस धर्मके भी ग्रहण करनेका जो उपाय है तथा उस धर्मके ग्रहण करनेका जो फल है उसमें यथार्थ बुद्धि होना इसका नाम है आस्तिक्य । वह आस्तिक किस-किस प्रकारका भाव है ? उसका वर्णन इस श्लोकमें आगे किया जा रहा है ।

अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतः सिद्धोप्यमूर्तिमान् ।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥४५३॥

जीवाजीवविषयक आस्तिक्य—आपा और पर इन दो बातोंके निर्णयमें समस्त विश्व का ज्ञान भरा है । जो आपा है वही जीव नामसे कहा गया है । जीव नामक आत्मा है अर्थात् स्वयं कोई है, आपा है और वह जीव स्वरूप है, स्वतःसिद्ध है, अमूर्त है, मैं हूं । जैसे मैं हूं उस प्रकारसे अपने आपके अस्तित्वमें जिसकी बुद्धि लग गयी उसे कहते हैं आस्तिक । तो ऐसा यह मैं आत्मा स्वतःसिद्ध हूं, किसीके द्वारा बनाया गया हूं । यह तो किसी भी मतमें बात नहीं फबती, और यह मैं आत्मा चैतन्यज्ञानप्रकाशमात्र प्रतिभासस्वरूप किसीके द्वारा किस ढंगसे बताया जा सकेगा ? वहाँ तो बताया हुआ कोई पदार्थ किसीका नहीं है, सभी स्वतःसिद्ध हैं और फिर थोड़ा ऐसा व्यवहारसे कह सकते हैं कि मिट्टीको सानकर लोंधा बनाकर चाकपर चढ़ाकर घड़ा बना दिया तो लो बना दिया गया । बन गया घड़ा । यह व्यवहार किया जा सकता है, लेकिन आत्माके बनाये जानेमें व्यवहार भी तो सम्भव नहीं है । यह प्रतिभासमात्र अंतस्तत्त्व किसके द्वारा बनाया गया, किस साधनसे बनाया गया ? किसने बनाया, कहाँ बैठकर बनाया ? जो बनाने वाला होगा वह शरीरधारी है या इसी आत्माकी तरह एक अमूर्त ही कोई है आदिक अनेक प्रश्न और उनपर विचार किया जाय तो यह विदित हो जायगा कि इस आत्माका निर्माता कोई नहीं है । यह स्वतःसिद्ध है तथा मूर्तिमान भी नहीं है । यदि इसमें कोई मूर्ति होती, रूप, रस, गंध, स्पर्श होता, ढेले पत्थरकी तरह कोई पिण्डरूप होता तो इसमें प्रतिभासकी कला न रह सकती थी । प्रतिभास कला क्या है ? इस प्रतिभासके स्वरूपपर विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि यह प्रतिभासस्वरूप आत्मा तो अमूर्त ही है । ऐसा यह स्वतःसिद्ध मैं जीव नामक पदार्थ हूं, सो यह मैं चैतन्य हूं और बाकी सब कुछ अजीव हैं, अचेतन हैं, अथवा यह जीव चेतन है और जीवको छोड़कर शेष पदार्थ अचेतन हैं । इस प्रकारकी बुद्धि आस्तिक्यभावमें हुआ करती है । जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा स्वीकार कर लेना, मान लेना, उसमें वैसा ही विश्वास करना इसका नाम है आस्तिक्य । तो इस श्लोकसे सर्वप्रथम यह बात बतायी है कि पहिले यह निर्णय होता है तत्त्वज्ञ पुरुषको कि आत्मा तो जीव है, चेतन है, अमूर्त है, स्वतःसिद्ध है और ऐसे चेतन जीवको छोड़कर शेष पदार्थ अजीव

हैं, वे भी स्वतःसिद्ध हैं, लेकिन अचेतन हैं, ऐसे चेतन और अचेतनके रूपमें दो भागोंमें सारे विश्वके प्रति इसका आस्तिक्यभाव हुआ।

अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः।
कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥४५४॥

आत्मावस्थाविषयक आस्तिक्य—अब इस जीवके सम्बन्धमें कुछ और विशेष जानकारीकी बात कही जा रही है। जैसा कि आस्तिक पुरुष विश्वास बनाये हैं, क्या, कि यह आत्मा अनादिसे कार्माणवर्गणात्मक कर्मोंसे बद्ध है। जीव है यह चेतन है ऐसा स्वरूप स्वीकार करके अब उसकी इस वर्तमान पर्यायकी समीक्षा की जा रही है। यह जीव कर्मोंसे बंधा है। कैसे जाना कि बंधा है? कर्मोंसे बंधनेकी बात प्रत्यक्ष तो नहीं मालूम हो रही, लेकिन और जो बन्धन हैं वे अपनेको अनुभवमें आ रहे—घरका बन्धन, शरीरका बन्धन, गोष्ठीका बन्धन, कितनी तरहके बन्धन और परतंत्रतायें हैं। ये सारे बन्धन न रहें तो उसीको कहते हैं मुक्त, सिद्ध स्वतंत्रबिहारी। कुछ भी काम करना हो सिद्ध, आवश्यक, वह सब उसके अवश होकर होता है, स्वतंत्र होकर होता है, पराधीन होकर नहीं होता। तो जो-जो बन्धन पड़ा है वह यह ही साबित करता है कि इस मोटे बन्धनका कारणभूत वह सूक्ष्मबन्ध पड़ा हुआ है, और वह सूक्ष्मबन्ध है कार्माणवर्गणाकर्मका। तो यह जीव कार्माणवर्गणात्मक कर्मोंसे अनादि कालसे बँधा चला आया है और उन ही कर्मोंका कर्ता और भोक्ता है। वही चला आ रहा है अनादिकालसे इस तरहसे यह जीव संकटापन्न है, लेकिन उन ही कर्मोंका क्षय होनेसे वही जीव मोक्षका भाजन होता है, वह मुक्त हो जाता है। जब तक कर्मबन्धन है तब तक संसार है। जहाँ कर्मक्षय हुआ वहाँ मुक्ति हुई। कर्मक्षय हुआ इसके लिए इतना विश्वास पहिले करना ही होगा कि मैं आत्मा स्वरूपतः कर्मोंसे रहित हूं। कोई पदार्थ यदि मैला बन गया है, उस पर कूड़ा पड़ा है तो उस पदार्थको साफ करनेके लिए, शुद्ध स्वच्छ बनानेके लिए जो प्रयत्न करता है उसकी बुद्धिमें यह बात विश्वासके साथ पड़ी है कि यह चीज तो भीतर से पवित्र है, ठीक है, जो उसका स्वरूप है वह तो सो ही है। यह मेल तो ऊपरका है यह तो हटानेसे हट जायगा, ऐसी श्रद्धा जिसको न हो वह कैसे उस पदार्थको साफ कर सकेगा? तो इसी प्रकार समझिये कि जो जीव कर्ममुक्त होनेका यत्न कर रहा है उसके विश्वासमें यह बात पड़ी हुई है कि यह जीव तो ज्ञानमात्र है, अमूर्त है, अविकार है, कर्मादिकसे रहित स्वरूप वाला है। तो जब यह अपने आपमें केवल है तो ऐसी केवलता प्रकट हो सकती है और फिर उसके मैलको धोनेका उपाय क्या है? यहाँ तो लोकमें उस चौकी आदिक पदार्थके धोनेका उपाय अन्य साधनोंसे बनाया जाता है, कपड़ेको साफ किया, पानीसे धोया, लेकिन यहाँका मैल साफ करनेका अन्य साधन नहीं है, किन्तु जैसे अविकारस्वभावी आत्मतत्त्व है उस प्रकारसे

दृढ़तर दृष्टि बनाये कि यह ऐसा ही विकाररहित शुद्ध प्रतिभास मात्र है, बस भीतरकी इस दृष्टि पौरुषके प्रतापसे वह मैल दूर हो जाता है ।

अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै ।
आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम ॥४५५॥

पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर व निर्जराके विषयमें आस्तिक्य— इस संसारी जीव के उन कर्मोंके निमित्तसे पुण्यपाप और उसका फल होता रहता है । संसारमें रहने वाले जीवों के यही काम तो चल रहा है । क्या रोजिगार चल रहा ? भीतरी रोजिगार चल रहा । यहाँ तो ८ घंटे काम किया, १२ घंटे काम किया आदि, इस तरहका विभाजन चलता है, लेकिन आत्माके कामके किये जानेमें तो कोई विभाग ही नहीं है । सर्वदा व्यापार कर रहा है । एक क्षण भी यह ठहर नहीं रहा है । संसारियोंका क्या व्यापार है ? अशुद्ध भाव वनाना, पुण्य पापरूप भाव होना और वाहर पुण्य पापकर्मका बन्ध होना और उसका निरन्तर फल पाना, बस यही एक काम किया जा रहा है । तो इस संसारी जीवकी यह बात चल रही है, और साथ ही साथ आस्रव और उदयरूप निर्जरा भी चलती है, पर किन्हीं ज्ञानी जीवोंके सम्वर और मोक्षका हेतुभूत निर्जरा भी चलती है, यह हो रहा है संसारमें तो जो बात जिस प्रकारसे है, परिणमता है उसको उस प्रकारसे विश्वासमें लाना, यह ही तो आस्तिक्य कहलाता है ।

अप्येवं पर्ययादेशाद्बन्धो मोक्षश्च तत्फलम् ।
अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धः सर्वोपि सर्वदा ॥४५६॥

पर्यायदृष्टि बन्ध, मोक्ष व फलके सत्त्वका परिचय तथा शुद्धनयदृष्टिसे शुद्धता अर्थात् बन्धमोक्षविविक्तताका परिचय—आस्तिक पुरुष आत्माके सम्बन्धमें विचार कर रहा है कि पर्यायदृष्टिसे देखा जाय तो यह बँधा है । जीवकी जो वर्तमान परिस्थिति है उसको कहते हैं पर्याय । उस पर्यायकी दृष्टिसे यह बात सही है कि यह आत्मा शरीर कर्म, विभावभाव आदिक से बँधा है और इस जीवका मोक्ष होता है तो वह भी एक जीवकी परिस्थिति है । तो पर्याय-दृष्टिसे मोक्ष भी है । जीवका बन्धन और मोक्ष ये दोनों पर्यायदृष्टिसे विदित होते हैं, पर शुद्ध-नयका आलम्बन लेकर निरखा जाय तो यह जीव सदा ही शुद्ध है । सभी जीव शुद्ध हैं । शुद्धनयके आदेशका भाव यह है कि जीवमें सत्त्वके कारण सहज अपने आपमें जो भाव है पारिणामिक भाव, स्वभाव भाव वह भी पर्यायरूप स्वाभाविक भाव नहीं, किन्तु आस्तिक्यका प्रयोजन जो आत्माका स्वरूप है वह है पारिणामिक भाव । उसकी दृष्टिसे तो सभी जीव सदा काल शुद्ध हैं अर्थात् वे अपना अस्तित्व रख रहे हैं । जिस प्रकार उनका सहज अस्तित्व है वह सभी जीवोंमें पाया जाता है । तो बन्ध और मोक्ष पर्यायदृष्टिसे होते, पर पर्यायदृष्टि न करके निरखा जाय तो उस दृष्टिका नाम है शुद्धनय । उस शुद्धनयसे यह जीव सदाकाल शुद्ध है

अर्थात् अपने सहज चैतन्यस्वरूप है। इस आस्तिकने पहिले आत्माको जाना। उसका सामान्य वर्णन उसके विश्वासपर सही रहा कि यह जीव है, चैतन्य है, अमूर्त हैं, स्वतःसिद्ध है, फिर उसे वर्तमान परिस्थितिमें देखा कि यह तो अनादिकालसे कर्मबद्ध है। उनका फल भोगता है और यह भी समझो कि उन कर्मोंका क्षय हो जाय तो वह मोक्षका अधिकारी भी होता है। तो संसार अवस्थामें तो यह निरन्तर कर्तृत्व भोक्तृत्वका काम कर रहा है, ज्ञानअवस्थामें अपने ज्ञानभावका काम कर रहा और मोक्ष अवस्थामें मुक्त है, सो ये सब पर्यायें हैं। उन पर्यायोंको गौण करके शुद्धनयसे देखा जाय तो यह आत्मा, सभी आत्मा सदा काल अपने स्वरूपमात्र हैं अतएव शुद्ध हैं।

तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वसंवेद्यश्चिदात्मकः।
सोहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी ॥४५७॥

चिदात्मकत्वकी आत्मरूपता तथा रागादिकोंकी पौद्गलिकता व हेयरूपता—इस श्लोकमें जीवका वह स्वरूप बताया जा रहा है जो श्रद्धा किए जानेपर जीवका कल्याणका कारण बनता है। जीवके कहने पर यद्यपि जीवकी गुणपर्यायोंका विस्तार विभाव सभी आ जाते हैं। जैसे कि "राजा" ऐसा कहनेपर फौज, नगर, गोठी आदिक सब कुछ आ जाता है लेकिन वहाँ केवल राजाकी बात जानना हो तो वहाँ केवल एक व्यक्तिको ही दृष्टिमें रखकर जाना जायगा। इसी तरह जीव कहते ही यद्यपि गुणस्थान मार्गणा और और विस्तार सभी कुछ इसके साथ आ गए, फिर भी एक अन्तः केवल जीवतत्त्वको ही निहारना है तो वहाँ किस ढंगसे निहारना चाहिए ? उसकी बात इस श्लोकमें कही गई है। जो यह जीव संज्ञावादी पदार्थ है वह आत्मा स्वसम्वेद्य है, अपने आपके द्वारा ही सम्वेदनमें आने योग्य है और चिदात्मक है, केवल एक चित्स्वरूप है। जाननप्रतिभासमात्र बात है, इतना तो उसका ग्रहण कर लीजिए और जितना ऊपर रंग पालिस है उसे उससे अलग कर दीजिए। जैसे हरा पीला आदिक कागज लगानेसे अथवा हरे पीले काँच आदिके बल्ब लगानेसे प्रकाश हरा पीला आदि हो गया है। अब यहाँ जितना एक प्रकाशमात्र है, उजेला मात्र है, जिसके कारण वस्तु देखा जाता है, उतना तो प्रकाशरूपमें ले लीजिए और बाकी रंग पालिस आदिक जो बातें हो रही हैं उन औपाधिकारको उससे अलग बुद्धिमें कर लीजिए। तो इस ही तरह जीवकी भी बात निहारिये। जीवके कहनेसे सब बातें आ गई हैं, लेकिन जो स्वसम्वेद्य है, चिदात्मक है, चित्प्रतिभासमात्र है वह तो हूं मैं और रागादिक जो अन्य भाव हैं वे हैं पर और ऐसे पर हैं कि वे सब पौद्गलिक हैं, पुद्गल परिमाणुसे निष्पन्न हैं। कुछ तो प्रत्यक्षके साक्षात् परिणमन हैं और कुछ पर्यायका निमित्त पाकर होने वाले भाव हैं, तो आखिर पुद्गलके साथ अन्वयव्यतिरेक तो रहा। तो जितने भी रागादिक भाव हैं वे सब पौद्गलिक हैं, इस तरह उन सर्व परभावोंसे

विविक्त केवल चिदात्मक शुद्ध अंतस्तत्त्वको यहाँ जीव परखा जा रहा है।

इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् ।
निश्चयव्यवहाराभ्यां आस्तिक्यं तत्त्वथामतिः ।।४५८।।

निश्चय और व्यवहारसे जीवादिवस्तुसमूहके यथावत् परिचय होनेकी आस्तिक्यरूपता—आस्तिक्य गुणके प्रकरणमें वस्तुका संक्षेप रूपसे स्वरूप दिखाया जा रहा है कि यह आस्तिक पुरुष पदार्थका किस रूपसे श्रद्धा कर रहा है ? तो जैसे इस जीवतत्त्वके बारेमें कुछ कहा और जीवादिकका भी कुछ संकेत किया तो समझना चाहिए कि ये जीवादिक समस्त पदार्थ इस तरह अनादिकालसे चले आये हैं और सभी निश्चय व्यवहारसे अपना-अपना भिन्न-भिन्न स्वरूप रख रहे हैं। वस्तु क्या है, किस प्रकार है ? वर्णन करनेकी दो तो पद्धतियाँ हैं—एक भेदपरक पद्धति और दूसरी अभेदपरक पद्धति। वहाँ न कुछ भेद कह सकते हैं और न अभेद कह सकते हैं। भेद गुण पर्यायोंका ध्यान रखकर इस जीवमें अभेद है, ऐसा कथन भी एक शुद्ध निरुपरागमें कलंककी तरह बन गया। तब भेदके कलंकपनेकी तो बात ही क्या कहें ? भेद है गुणपर्यायोंका जीवसे, इस कथनमें भेदकी झाँकी लाते हुए कथन किया गया है। किसीको यदि यह कह दिया जाय कि रात्रिको स्टेशन ही जाना हो, बीचमें बरगदका एक पेड़ मिलता है। वहाँ भूत नहीं रहता है, जरा भी न डरना। लो बड़ी कृपा की उस पर ? अरे यह बात कहते ही नहीं तो उसके लिए भला था। अब तो वह जब रात्रिको जायगा तो उस स्थानपर पहुंचते ही उसका ख्याल आ जानेसे वह भयभीत हो जायगा। कुछ न कुछ उसे भूतकी मुद्रा दृष्टिमें आ ही लेगी। तो वस्तुमें अभेदकी भी क्या कथा कहें ? वह तो एक विवशताकी बात है, जो कहना पड़ रहा है और भेदका कथन तो स्पष्ट व्यवहार ही है। तो स्वरूपका जब वर्णन होता है वह निश्चय और व्यवहार इन दो पद्धतियोंसे भिन्न-भिन्न रूपसे होता है। उन्हें जानें और जैसे जो कुछ पदार्थ हैं सही उनको उस प्रकारसे श्रद्धा करें, इसको कहते हैं आस्तिक्य।

सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्वानुभूत्यैकलक्षणम् ।
आस्तिक्यं नाम सम्यक्त्व मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ।।४५९।।

सम्यक्त्वाविनाभूतस्वानुभूतिसनाथ आस्तिक्यकी सम्यग्रूपता व अन्य आस्तिक्योंकी मिथ्यारूपता—अब आस्तिक्यके सम्बन्धमें मिथ्या भी आस्तिक्य होता है और सम्यक् भी, ऐसे दो विभाग किए जाते हैं। यद्यपि आस्तिक्यका सीधा लक्षण सम्यक्रूप ही होता है, लेकिन लोगोंने तो आस्तिक्य होने पर वस्तुमें स्वरूप उस प्रकारका होना अपनी कल्पनामें मान लिया है। तो वह मिथ्या आस्तिक्य हो जाता है। इसीका एक निष्कर्षात्मक साक्षात् विषयका वर्णन कर रहे हैं कि सम्यग्दर्शनके अविनाभूत जो स्वानुभूति है, वही जिसका एक लक्षण बन रहा

हो अथवा इस स्वानुभूतिके प्रतिकूल जो आस्तिक्य भाव बना हुआ हो वह है सम्यक् आस्तिक्य। और उसके विरुद्ध अर्थात् स्वानुभूतिके अभावमें होने वाले आस्तिक्यको मिथ्या आस्तिक्य कहते हैं। वही है मिथ्यात्व। माननेको तो सभी मानते हैं कि मैं ठीक जान रहा हूं, वस्तुके स्वरूपका सही परिचय ले रहा हूं, यों उनका आस्तिक्य बन गया। अपनी कल्पनामें हम भी सोचते हैं। कौन ऐसा सोचता है कि पदार्थ नहीं है, जैसे मैं वैसा मान रहा हूं याने उल्टा जान रहा हूं। उसरूप जाननेकी स्थितिमें किसको ऐसी परख है कि मैं उल्टा जान रहा हूं ? अगर उल्टा जाननेकी परख हो तो उल्टा जानना रहा ही क्या ? तो जो मिथ्यात्वके साथ आस्तिक्य बना हुआ है, स्वानुभूतिसे रहित जिसका आस्तिक्य है वह मिथ्या है, और स्वानुभूतिसहित जिसका आस्तिक्य भाव है उसका वह सम्यक् आस्तिक्य भाव है, उसका वह सम्यक् आस्तिक्य है। प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ऐसे चार सम्यक्त्वके बाह्य लक्षणोंका प्रकरण चल रहा है। यह बात पहिले ही घोषित कर दी गई थी कि ये चार बाह्य लक्षण हैं, पर ये मिथ्यारूप भी कहीं हो सकते है और कहीं सम्यक्त्वरूप भी हो सकते हैं। सम्यक्त्वके साथ रहने वाले ये गुण तो सम्यक्रूप हैं और सम्यक्त्वसे रहित हुए उनका यह गुण आभासरूप होता है। इसी तरह आस्तिक्याभास भी लें। लगता है आस्तिक्य जैसा, पर है नहीं आस्तिक्य, वह तो आस्तिक्याभास कहलाता है।

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेपज्ञानचतुष्टयम् ॥४६०॥
यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत्।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोर्थतः ॥४६१॥

आस्तिक्यके स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वमें शंकाकारकी आशंका—यहाँ शंकाकार कह रहा है कि वास्तवमें प्रत्यक्ष ज्ञान तो एक केवलज्ञान है। अन्य ज्ञान तो प्रत्यक्ष हैं नहीं, वे तो परोक्ष रहा करते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान—इन पाँचों ज्ञानों में केवलज्ञान ही प्रत्यक्षज्ञान है और वस्तुतः शेपके चार गुण प्रत्यक्ष नहीं कहलाते हैं। और कदाचित इस दृष्टिसे देखा जाय कि अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान भी तो इन्द्रिय और मनकी सहायताके बिना जानते हैं, उनके यद्यपि आवरणका क्षयोपशम आदिक पराधीनतायें हैं, इससे केवलज्ञानकी तरह प्रत्यक्षपना इसमें नहीं है, लेकिन इस निगाहमें कि इन्द्रिय और मनका आलम्बन लिए बिना अथवा जैसे चक्षु आदिक इन्द्रियसे हम पदार्थोंको जानते हैं उस तरह इन्द्रियका प्राधान्य लिए बिना जान रहे हैं, इस कारण प्रत्यक्ष है तो है प्रत्यक्ष, किन्तु है वह एकदेशप्रत्यक्ष और उनका विषय है रूपी पदार्थ। अमूर्त आत्मा उनका विपय नहीं है। अब रहे शेपके दो ज्ञान—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो ये परोक्ष हैं। और कदाचित् वहाँ भी ऐसी

जिज्ञासा करें कि हम आँखसे, कानसे जानते हैं वह तो प्रत्यक्ष लग रहा है। आँखोंसे निरख रहे, चौकी, चटाई आदिक तो यह झूठ तो नहीं है, स्पष्ट ज्ञात हो रहे, प्रत्यक्ष लग रहे, वहाँ कह लीजिए कुछ ज्ञानोंका प्रत्यक्ष, किन्तु वह है सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और यहाँ भी अभी अमूर्त पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं होता। अमूर्त पदार्थ अगर प्रत्यक्ष हो सकता है तो केवलज्ञानमें ही हो सकता है। शंकाकारका मूल आशय यह है तो जब वास्तवमें केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है तब यहाँ आस्तिक्यको स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष क्यों कह रहे हो? आस्तिक्यमें जो आत्माका आस्तिक्य ज्ञात हो रहा है उसे सुसम्वेद्य कह दिया है अर्थात् अपने आपके द्वारा उसे जानता है, सुसम्वेदन प्रत्यक्ष है तो उसे सुसम्वेद्य प्रत्यक्ष कैसे कह दिया गया है? अब इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं।

सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ॥४६२॥

मति श्रुत ज्ञानकी परसंवेदनमें परोक्षता व स्वानुभूतिमें प्रत्यक्षता बताकर उक्त शंका का परिहरण—शंकाकारकी उक्त शंका बहुत अंशोंमें ठीक है। जो निर्णय दिया है कि वास्तवमें प्रत्यक्ष ज्ञान तो केवलज्ञान है जो समस्त पदार्थोंको स्वतंत्रतया जान लेता है। इतनी प्रत्यक्षता अन्य ज्ञानोंमें कहाँ रखी हुई है? और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष है तो वह भी सर्वप्रत्यक्ष कहाँ है? अमूर्त पदार्थको नहीं प्रत्यक्ष कर पाते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष कहे ही गये हैं। और जो मतिज्ञान प्रत्यक्ष भी हो रहा है तो वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। वहाँ अमूर्त पदार्थ नहीं प्रत्यक्ष होते। इतनी बात शंकाकारकी ठीक है लेकिन यह बात यहाँ समझनी है कि आदिके जो दो ज्ञान मति और श्रुत परोक्ष कहे गए हैं तो ये परपदार्थ का परिचय करनेमें परोक्ष हैं, लेकिन जब स्वकी अनुभूतिके लिये करें कोई उपाय तो स्वानुभूतिके लिए तो चूंकि दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदिक हो गया है इसलिए प्रत्यक्ष है। दर्शनमोह कहते हैं उसे जो आत्माके शुद्ध स्वरूपका दर्शन न करने दे और जब दर्शनमोह हट गया तो अर्थ क्या बनेगा कि अब यह शुद्ध सहजस्वरूपका दर्शन कर सकता है। तो ऐसे शुद्धस्वरूपका जो दर्शन है वह प्रत्यक्ष है। तो स्वानुभूतिमें यह प्रत्यक्षज्ञान हैं और परके जाननेमें यह परोक्षज्ञान है। लो मतिश्रुतकी यह प्रत्यक्षता अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञानकी प्रत्यक्षतासे कितनी ही बढ़ी चढ़ी हो गई है। अहा अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञानका विषय अमूर्तपदार्थ आत्मा तो हो ही नहीं सकता था, लेकिन इन ज्ञानोंका विषय अमूर्त आत्मतत्त्व भी हो सकता है। तो स्वात्मानुभूतिके कालमें ये दोनों ज्ञान परोक्षज्ञान नहीं रहते, किन्तु प्रत्यक्ष हो जाते हैं। क्योंकि प्रत्यक्षताका बाधक तो दर्शनमोहका उदय था। वह जब न रहा तो स्वानुभूतिका वह साधक बन गया।

स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुण: ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं परत्वत: ॥४६३॥

स्वानुभूतिमात्र आस्तिक्यकी परमगुणता—स्वात्मानुभवस्वरूप जो आस्तिक्य है वही परमगुण है । तो आस्तिक्य परपदार्थके सम्बंधमें भी होता है और स्वपदार्थके सम्बन्धमें भी होता है । ये परपदार्थ जिस स्वरूपमें हैं उसी स्वरूपमें उनका ज्ञान चले, यह भी तो आस्तिक्य की बात है और स्वपदार्थ जिस स्वरूपमें है उस स्वरूपमें इसका परिचय चले, परिज्ञान हो, अनुभूति हो यह भी आस्तिक्य है, किन्तु परपदार्थ तो पर ही कहलाता है । तो परपदार्थके सम्बन्धमें जो आस्तिक्य होता है वह प्रत्यक्ष नहीं है, लेकिन स्वके सम्बन्धमें जो आस्तिक्य हुआ है वह प्रत्यक्ष है । शंकाकार तो परका आस्तिक्य और स्वका आस्तिक्य दोनोंको एक श्रेणीमें रखकर शंका कर रहा था कि आस्तिक्य प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है, लेकिन आस्तिक्य-पने में जो स्वआस्तिक्य है अपने आपके आस्तिक्यका परीक्षण है वह चूंकि स्वानुभूतिपरक है, स्वसम्वेद्य है अतएव वह स्वानुभूतिके कालमें प्रत्यक्षरूप है, तो परके सम्बन्धमें जो आस्तिक्य होता है वह प्रत्यक्ष नहीं होता, लेकिन आत्माके सम्बन्धमें जो आस्तिक्य है वह प्रत्यक्ष होता है । परके विषयमें हुआ आस्तिक्य ज्ञानमात्र रह गया, जान लिया और स्वके विषयमें होने वाला आस्तिक्य अनुभवात्मक हो गया । जैसे कोई पुरुष दूसरेका बुखार थर्मा-मीटरसे नाप रहा है । थर्मामीटरको देखकर उसने बता दिया कि १०३ डिग्री बुखार है तो उसने उसके बुखारका प्रत्यक्ष नहीं किया, किन्तु ज्ञानमात्र किया और जिसको बुखार चढ़ा हुआ है वह तो प्रत्यक्षरूपसे (अनुभवात्मकरूपसे) उसका अनुभव कर रहा है । जो कुछ बुखार में वेदना आदिक हो रही है उसको वह भोग रहा है । तो ज्ञानमात्र होना और अनुभव होना—इन दोनोंमें अंतर है । तो यही बात इस आस्तिक्यके सम्बंधमें है । जब परका आस्तिक्य हो रहा है तो वहाँ परका अनुभव नहीं है, किन्तु ज्ञानमात्र है और जब स्वका आस्तिक्य हो रहा है तो वहाँ ज्ञान हुआ, लेकिन ज्ञानमात्र न रहा, अनुभवात्मक बन गया । तो इस तरह स्वके सम्बन्धमें अनुभवात्मक जो परिचय होता है वह परोक्ष न रहकर प्रत्यक्ष हो जाता है ।

अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्याऽस्ति यथा सम्यग्दृगात्मन: ॥४६४॥

परपदार्थके संवेदनकी परोक्षता होनेपर भी परपदार्थविषयक प्रतीतिकी स्वात्मपरिचय प्रतीतिवत् दृढ़ता—अब यहाँ कोई ऐसा न समझ ले कि इस आस्तिक पुरुषको परपदार्थके सम्बन्धमें जो ज्ञान हो रहा है वह परोक्षज्ञान है, तो ढिलाई वाला ज्ञान हुआ है । उसके सम्बन्धमें उसके पक्की निर्णय वाली बात नहीं पड़ी हुई है । कोई ऐसा न समझ ले, पर पर-पदार्थ जो परोक्षयित रहता है अर्थात् इसका ज्ञान परोक्षरूप बन रहा है तो यह स्वानुभवके

आस्तिक्यके मुकाबलेमें चूँकि यह परत्व है, इस कारण परोक्ष है तो रहे परोक्ष, लेकिन उन परपदार्थोंके सम्बन्धमें भी जो जानकारी हुई है तद्विषयक दृढ़ प्रतीति है। ऐसा नहीं है कि परपदार्थके सम्बन्धमें जो आस्तिक्य होता है वह ढिलाई लिए हुए होता है, कुछ संशयको लिए हुए होता है। वहाँ भी उस परस्वरूपकी गाढ़ प्रतीति है। जैसे अपने आपकी प्रतीति गाढ़ बनी हुई है उसी प्रकार अन्य परोक्ष पदार्थोंमें भी सम्यग्दृष्टि आत्माके दृढ़ प्रतीति बनी हुई है। परोक्षत्व तो परत्वताके कारण है, परन्तु जो ज्ञान हुआ है परपदार्थका वह स्वपदार्थकी भाँति दृढ़ प्रतीतिको लिए हुए है। पुद्गल अचेतन ही है, मेरे चतुष्टयसे भिन्न ही है। इसका परिणमन इसके स्वरूपमें चल रहा है। इसका उत्पादव्ययध्रौव्यमय सत्त्व इसमें ही अनुस्यूत है, मेरा इससे रंच सम्बन्ध नहीं आदिक जो परपदार्थविषयक परिज्ञान होता है वह शिथिल ज्ञान नहीं है, दृढ़ प्रतीतिको लिए हुए ज्ञान है, किन्तु पर होनेके कारण उसका अनुभव नहीं हो पा रहा है। और यह तो वस्तुकी मर्यादा है। आत्मामें जो बात बीत रही है वह आत्माके लिए तो प्रत्यक्ष है। जैसे चौकीका ज्ञान किया। चौकीका ज्ञान है इस अंशमें परोक्ष ज्ञान है। चौकीके भीतर जो ज्ञान है उस ज्ञानके बाबत जो ज्ञान बन रहा है वह प्रत्यक्ष है। इसी तरह यहाँ भी स्वसंवेदनको प्रत्यक्ष और परसंवेदनको परोक्ष कहा गया।

न तथास्ति प्रतीतिर्वा चास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम्।
दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेर्दृङ्मोहतोऽनिशम् ॥४६५॥

दर्शनमोहके कारण मिथ्यादृष्टिके सम्यक् प्रतीतिका अभाव—उक्त श्लोकमें यह बताया था कि जीवादिक परवस्तुवोंके सम्बन्धमें सम्यग्दृष्टि जीवकी वैसी ही दृढ़ प्रतीति होती है जैसी प्रतीति आत्माके विषयमें होती है। अर्थात् यद्यपि आत्माका सम्वेदन प्रत्यक्ष है और परका सम्वेदन परोक्ष है, फिर भी प्रतीति दोनोंकी दृढ़ बनी हुई है। सम्यग्दृष्टि जीवके परवस्तुविषयक जैसी प्रतीति होती है वैसी प्रतीति मिथ्यादृष्टि जीवके नहीं होतीं। स्वसम्वेदन तो हो हीं क्या? इसकी प्रतीतिकी बात ही क्या कहें? सम्यग्दृष्टिकी प्रतीतिकी भाँति मिथ्यादृष्टिके सम्वेदनमें भी प्रतीति नहीं होती। इसका कारण यह है कि मिथ्यादृष्टिके दर्शनमोहका उदय है और दर्शनमोहका उदय होनेसे वहाँ आशय ही विपरीत (मिथ्या) हो गया। वस्तुस्वरूपके विरुद्ध अभिप्राय बन गया तो उस समय जो ज्ञान करेगा वही ज्ञान सही नहीं है, प्रतीतिकी तो बात ही क्या है? दर्शनमोहका अर्थ है कि जैसा पदार्थ है, उस प्रकारके दर्शनमें मोह आ जाना अर्थात् बेहोशी आ जाना, उस तरहका दर्शन न कर सकना, इसको कहते हैं दर्शन मोह अर्थात् सम्यक्त्वके विपरीत अवस्था। तो दर्शनमोहका उदय होने के कारण निरन्तर ही मिथ्यादृष्टिके भ्रान्ति रहा करती है, तब उसकी प्रतीति परसम्बन्धमें भी यथार्थ कैसे हो सकती है?

ततः सिद्धमिदं सम्यक् युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाऽविनाभूतमस्त्यास्तिक्यं गुणो महान् ॥४६६॥

सम्यक्त्वके साथ अविनाभूत आस्तिक्य गुणकी महत्ता व श्रेष्ठता—उक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध हो गई है कि युक्ति, स्वानुभव और आगमसे यह प्रमाणित है कि सम्यक्त्वके साथ अविनाभावी जो आस्तिक्य गुण है वह महान गुण है। यद्यपि पदार्थोंके सम्बन्धमें आस्तिक्यका परिचय प्रायः सभी लोग करते हैं, पर जो आस्तिक्यका परिचय सम्यक्त्वके साथ अविनाभूत है अर्थात् सम्यक्त्व होने पर जिस प्रकारका आस्तिक्य जाना जाता है उस प्रकारसे आस्तिक्यकी समझ हो, यह आस्तिक्य परमगुण है और यही संसारमार्ग और मोक्ष-मार्गकी समस्याका सुलझा लेने का उपाय है। केवल एक आत्माके इस आस्तिक्यभावपर ही संसारका मार्ग चलता है और मुक्तिक मार्ग चलता है। सम्यक्त्वके साथ अविनाभूत होकर जैसे आस्तिक्य होना चाहिए उस आस्तिक्यके बलपर मोक्षमार्ग चलता है, किन्तु सम्यक्त्वरहित अवस्थामें जिस किसी भी प्रकारकी आस्तिक्यबुद्धि हुआ करती है। पर्यायमें आपा माननेसे वस्तुके यथार्थ द्रव्यकी पहिचान नहीं हो सकती और उसके सम्बन्धमें जो बाह्यरूप नजर आता है उसे ही सर्वस्व द्रव्य समझना आदिक बातें और उसमें जो भिन्न था उसे अभिन्न मानना और जो अभिन्न है उसे भिन्न मानना—जिन कारणोंसे वह होता है उन कारणोंकी समझ भी न होना, ऐसे आस्तिक्योंके साथ अर्थात् मिथ्याअस्तित्व बुद्धिके साथ जो आस्तिक्यभाव है वह तो आस्तिक्याभास है। किन्तु सम्यक्त्वके साथ रहने वाला जो आस्तिक्य है वह परमगुण है।

संवेओ णिव्वेओ णिंदणगरिहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा होंति सम्मत्ते ॥
उक्तगाथार्थसूत्रेपि प्रशमादिचतुष्टयम्।
नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥४६७॥

सम्यक्त्वके अन्य ग्रन्थोक्त अष्टगुणोंकी प्रशमादि गुणसे अनतिरिक्तता व सम्यक्त्वकी उपलक्षणता—सम्यक्त्वके लक्षणके सम्बन्धमें अन्य ग्रन्थोंमें ८ लक्षण कहे गए हैं—सम्वेग, निर्वेग, निन्दन, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा। इन ८ गुणोंका लक्षण यहीं आगे बताया जायगा, पर इसके सम्बन्धमें यहाँ यह बताया जा रहा है कि इस गाथामें जो ८ लक्षण कहे गए हैं, सो ये प्रशम आदिक चार लक्षणोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य—इन चार गुणोंसे ये भिन्न नहीं हैं, केवल लक्षण और उपलक्षण बतानेके लिए ये ८ गुण कहे गए हैं। इन ८ गुणोंमें कुछ तो आप यह निरखेंगे कि ये सीधे सम्यक्त्वके बाह्य लक्षण कहे गए हैं और कुछमें यह देखेंगे कि ये सम्यक्त्वके लक्षणोंके लक्षण

हैं। तो लक्षण और उपलक्षण बतानेकी पद्धतिसे ८ गुण बताये गए हैं। कोई यह विरोध न समझे कि इस ग्रंथमें तो चार लक्षण कहे हैं—प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य। और अन्य ग्रन्थोंमें ८ लक्षण बताये गए हैं, इसका कोई विरोध न जानें, इसके लिए इस श्लोकमें यह संकेत किया गया है कि ये ८ गुण उन चार लक्षणोंसे भिन्न नहीं हैं, किन्तु वे सम्यक्त्वके लक्षणके उपलक्षण हैं और कोई लक्षण हैं। तो लक्षण क्या चीज कहलाती है और उपलक्षण क्या होता है ? इसका विवरण अब आगे करते हैं।

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम्।
तत्तथाऽस्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥४६८॥

उपलक्षणका लक्षण—उपलक्षणका लक्षण किया जा रहा है कि जो लक्षणका लक्षण हो उस उपलक्षण कहते हैं। जैसे सम्यक्त्वके लक्षण प्रशम सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य कहे हैं तो प्रशम संवेगके हो जो और लक्षण हैं, जिन चिन्होंसे यह पहिचान होती है कि ये प्रशम आदि गुण हैं, वे कहलाते हैं सम्यक्त्वके लक्षण और प्रशमके परिचयसे जाना जाता है सम्यक्त्व, सो वे निन्दनादिक कहलाते हैं सम्यक्त्वके उपलक्षण। जैसे किसी बहुत बड़ी सभा के बीच कोई सेठ जी बैठे हुए हैं, किसी ने कहा कि भाई तुम अमुक सेठ जी को इस सभासे बुला दो। वह पुरुष बेचारा उस सेठसे अपरिचित था। तो उसे परिचय दिया जाता है कि देखो—जो मोटा है, साँवला है वह है अमुक सेठ, उसे बुला दो। इतने पर भी वह न समझा तो कहते हैं कि देखो जो पेंचदार पगड़ी बांधे बैठा है वह है सेठ तो देखिये उस सेठके परिचयके लिए वे सब उपलक्षण हो गए अथवा यों समझिये कि जैसे जीवका लक्षण क्या है ? तो कहा कि जीवका लक्षण तो चैतन्य है, ज्ञानदर्शन है और ज्ञानदर्शन लक्षण क्या है कि जहाँ समझ होती है, जो विचार किया जाता है, जहाँ चिन्तन होता है। तो चिन्तन होना, विचार करना यह तो हुआ ज्ञान लक्षण और ज्ञान हुआ जीवका लक्षण। जैसे बच्चों को समझाया जाता है कि देखो जो चले फिरे, खाये पिये, आदि उसे जीव कहते हैं तो यह कोई जीवका लक्षण तो नहीं हुआ। यह तो उपलक्षण है, अथवा ऐसी ही अनेक बातें जीवके परिचयके सम्बन्धमें कही जायें तो वे सब उपलक्षण हैं, मुख्य लक्षण नहीं, ऐसे ही समझिये कि जो ये ८ गुण कहे गए हैं उनमें अनेक तो उपलक्षण हैं। लक्षणके लक्षणको उपलक्षण कहते हैं। किसी वस्तुका लक्षण कहा जाय और फिर उस लक्षणका भी लक्षण बताया जाय तो वह अर्थात् जो अन्तिम कथन है वह पूर्व लक्षणका उपलक्षण हो जाया करता है। तो इस प्रकार ये ८ गुण इन चार गुणोंके लक्षण होनेसे सम्यक्त्वके उपलक्षण कहलाते हैं और इन गुणोंमें कोई सीधे बाह्य लक्षण भी हैं। इसी बातको अब प्रकृतमें घटित करते हैं।

यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
स चोपलक्ष्यते भक्तिवात्सल्येनाथवार्हताम् ॥४६६॥

संवेगका लक्षण एवं सम्यक्त्वका उपलक्षण भक्ति तथा वात्सल्य—जैसे सम्यग्दर्शन
का लक्षण सम्वेग बताया गया है वैसे सम्वेगके लक्षण बताये गए हैं भक्ति और वात्सल्य।
यहाँ उपलक्षणको घटित करते हैं कि संवेग तो है सम्यक्त्वका लक्षण जो कि प्रशम आदिक
चतुष्टयमें बताया गया है और संवेगके लक्षण हैं भक्ति और वात्सल्य। वे किस प्रकार हैं सम्य-
क्त्वके उपलक्षण, इसको अगले श्लोकमें स्पष्ट करेंगे, पर सामान्यतया यह जान लें कि यदि
कोई पुरुष अरहंतदेवकी भक्ति करता है अथवा अरहंतके धर्ममें अरहंतकी भक्तिमें वात्सल्य
रखता है तो समझना चाहिए कि उसके सम्वेगगुण प्रकट हुआ है। सम्वेग गुण की जानकारी
से यह जाना जाता है कि इसके सम्यक्त्वगुण प्रकट हुआ है। तो सम्यक्त्वभावका लक्षण
संवेग है और संवेगलक्षणक सम्यक्त्व, भक्ति और वात्सल्यसे उपलक्षित हो जाता है, इस कारण
भक्ति और वात्सल्य सम्यक्त्वके उपलक्षण हैं अर्थात् सम्यक्त्वके लक्षणभूत संवेगके लक्षण हैं।
अब यह बतलाते हैं कि ये दोनों सम्यक्त्वके उपलक्षण किस प्रकार हुए अर्थात् इन दोनोंके
द्वारा सम्यक्त्वका लक्षणभूत सम्वेग किस तरह लक्षित होता है ? यह बात भक्ति और वात्सल्य
का स्वरूप जाननेसे विदित हो जावेगी, अतः इन दोनोंका स्वरूप विश्लेपित करते हैं—

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥४७०॥

भक्ति एवं वात्सल्यका स्वरूपविश्लेषण—मन, वचन, कायकी शान्तिसे उद्धतता
नहीं हो अर्थात् जहाँ मन, वचन कायकी उद्धता शान्त हो गयी हो, ऐसी स्थितिको भक्ति
कहते हैं। किसी पुरुषके प्रति इसकी भक्ति है, यह कैसे जाना जायगा ? उसके प्रति मन,
वचन, काय उद्धत नहीं हों, उसके गुणोंके उन्मुख हो और मन, वचन, काय नम्र हों तब
समझना चाहिए कि इसमें भक्ति गुण है, तो मन, वचन, कायका शमन हो और इस कारण
उन योगोंकी उद्धतता न हो, इसका नाम भक्ति है। तो यह समझ जाइये कि जिसके चित्तमें
ऐसी भक्ति है उसके सम्वेग गुण प्रकट हुआ है। जब तक धर्म और धर्मात्मामें अनुराग न जगे
तब तक इसके मन, वचन और काय अनुद्धत कैसे बन सकते हैं ? तो भक्ति सम्वेगका परि-
चायक है और सम्वेग सम्यक्त्वका परिचायक। इसी प्रकार वात्सल्यका यह अर्थ है कि किसी
के गुणोत्कर्षकी प्राप्तिके लिए चित्तमें उल्लास होना उसे वात्सल्य कहते हैं। वात्सल्यमें दूसरे
के सुखकी वाञ्छा ही तो की जाती है। यह परमार्थ वात्सल्य है कि धर्म और धर्मात्माके
गुणोंमें जो वात्सल्यता हो रही है, उसके लिए मनमें उल्लास जग रहा है। यह भी सम्यक्त्व
गुण हुए बिना नहीं हो सकता। इस कारण यह वात्सल्य भी सम्वेगका लक्षण और सम्यक्त्व

का उपलक्षण है, इसी बातको अगले श्लोकमें स्पष्ट करेंगे ।

भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा ।
स संवेगो दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणम् ।।४७१।।

संवेग और सम्यक्त्वका लक्षण और उपलक्षणपना भक्ति एवं वात्सल्यमें घटित होने का विवरण—उक्त श्लोकमें यह बताया गया था कि भक्ति और वात्सल्यका संवेगमें अन्तर्भाव होता है । ग्रन्थान्तरमें जो सम्यक्त्वके आठ गुण कहे गये हैं बाह्य लक्षण और इस ग्रन्थमें चार लक्षण बताये गए हैं—प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य, सो यहाँ यह देखा जा रहा है कि इन दोनों कथनोंका परस्पर विरोध नहीं है । सम्यक्त्वके बाह्य लक्षण तो ये चार हैं और उन ८ में कुछ तो सम्यक्त्वके सीधे-सीधे लक्षण हैं और कुछ सम्यक्त्वके उपलक्षण हैं, तो भक्ति और वात्सल्य ही सम्वेग द्वारा सम्यक्त्वके उपलक्षण बताये गए हैं । तो उसमें भक्ति और वात्सल्यका लक्षणमात्र बताया गया था । अब इस श्लोकमें कह रहे हैं कि भक्ति और वात्सल्य सम्वेगके बिना नहीं हो सकते, सो सम्वेग तो सम्यग्दर्शनका लक्षण है और भक्ति वात्सल्य सम्यक्त्वके उपलक्षण हैं । जिसका स्पष्ट भाव यह है कि भक्ति और वात्सल्यको देखकर यह जाना जाता है कि इस पुरुषमें सम्वेग गुण प्रकट हुआ है और संवेग गुणको देख कर यह जाना जाता है कि इस पुरुषमें सम्यक्त्व प्रकट हुआ है । तो सम्यक्त्वके लक्षणके लक्षण हैं ये भक्ति और वात्सल्य । जब किसी पुरुषमें निरखा जा रहा है कि मन, वचन, कायका ऊधम नहीं रहा इसका, मन, वचन, कायकी सरलतासे अच्छे कार्यमें प्रवर्तन कर रहा है, यह तो उससे जाहिर होता है कि इसका धर्ममें अनुराग है; संसार, शरीर भोगोंसे वैराग्य है तब तो मन, वचन, कायकी अनुद्धत प्रवृत्ति हो रही है तो इस भक्तिसे संवेग गुण पहिचाना गया । जब वात्सल्य निरखते हैं कि इस पुरुषको किसी गुणवानमें गुण निरखकर उसके उत्कर्षकी भावना इसके जग रही है अर्थात् गुणोंको देख करके हर्ष मान रहा है और उस गुणीके गुणके उत्कर्षकी भावना कर रहा है कि इसके गुण और अधिक प्रकट हों, इस तरहकी जो इनकी वृत्ति देखी जा रही है इससे विदित होता है कि इसके संवेगगुण प्रकट हुआ है । तो भक्ति वात्सल्य हुए संवेगके लक्षण और संवेग हुआ सम्यक्त्वका लक्षण ।

दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।
तत्राभिव्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ।।४७२।।

प्रशम गुणका अभिव्यञ्जक निन्दन और गर्हण—अब निन्दन और गर्हण, इन दो गुणोंके विषयमें कहा जा रहा है कि ये भी सम्यक्त्वके उपलक्षण हैं अर्थात् निन्दन और गर्हण देख करके प्रशम गुणका परिज्ञान होना इसके कितनी बड़ी शान्ति है और दूसरोंके प्रति इसके कषायभाव नहीं जगता है, यह बात निन्दा और गर्हा की प्रवृत्तिसे जानी जाती है और

प्रशम गुणसम्यक्त्वका लक्षण कहा ही गया है। तो यह तो प्रसिद्ध ही है कि प्रशम गुण दर्शन मोहनीयके उदयके न रहनेके कारण होता है। जब दृष्टिमोह समाप्त हो गया उस कालमें जो आत्मामें दर्शन और कषायोंकी मंदता होती है, उसमें जो प्रशम गुण प्रकट हुआ है ऐसा प्रशम गुण मिथ्यात्वमें नहीं रह सकता। तो प्रशम गुण तो हुआ दर्शन मोहनीयके उनुदयमें और ऐसे प्रशम गुणका बाह्य अभिव्यञ्जक है निन्दन और गर्हण। निन्दन और गर्हणका स्वरूप आगेके श्लोकोंमें कहा जायगा। उससे यह प्रकट हो जायगा कि निन्दन और गर्हणका भाव प्रशम गुणका अभिव्यञ्जक है। अभिव्यञ्जकका अर्थ है प्रकट करने वाला। प्रशम गुण इस आत्मामें है—यह बात लोगोंको कैसे विदित हुई, उसका उपाय है निन्दन और गर्हण। अर्थात् निन्दन और गर्हणसे महात्माका प्रशम गुण समझा जाता है। उसी निन्दन और गर्हणके स्वरूपको क्रमशः बतावेंगे।

निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि।
पश्चात्तापकरो बन्धो नाऽपेक्ष्यो नाप्युपेक्षितः ॥४७३॥

निन्दन गुणका स्वरूप—ये रागादिक दुष्ट कर्म जो कठिनतासे दूर किए जा सकते हैं उन रागादिकोंके विषयमें ऐसा विचार करना कि ये रागादिक तो पश्चात्तापके उत्पन्न करने वाले हैं अर्थात् रागादिकका फल बहुत बुरा है। मुझमें जो रागादिक भाव हो रहे हैं—ये दुष्टभाव मेरे शील स्वभावके अनुकूल भाव नहीं हैं, इस तरह अपने रागादिक भावोंको निन्दा के रूपमें देखें तो उसका नाम है निन्दन। कोई अपने अपराध, अपने दोषकी निन्दा कब कर सकता है जब उसमें मंद कषाय हो, प्रशम गुण प्रकट हुआ हो, दर्शनमोहका अनुदय रहनेके कारण भीतरमें एक स्वच्छता प्रकट हुई हो वहाँ ही यह झाँकी आ सकती है और वहाँ ये अपने दोष नजरमें आ सकते हैं। जब बहुत ही गंदा कीचड़ वाला पानी होता है तो उस पानी में कीचड़ भी नजर नहीं आता। पानी व कीचड़ सब एकरस याने एकमेक दृष्टिगत होते हैं। कीचड़ नजर तब आये जब कि अगल-बगलका पानी साफ हो और कीचड़में कीचड़का अंश है, पानीमें पानीका अंश है, यह दीखे। जो कीचड़ पानीमें एकमेक हो गया तो फिर उस कीचड़का कहाँसे दर्शन हो? तो कीचड़का पता उस जलसे पड़ेगा जो जल स्वच्छ है, शान्त है, प्रशम है और फिर भी क्वचित् थोड़ी गंदगी हो तो वहाँ गंदगीके दर्शन किए जा सकते हैं। ऐसे ही समझिये कि जहाँ दर्शनमोहका उदय चल रहा है, सारा ही आत्मा गंदा हो रहा है वह आत्मा अपनेमें दोषोंकी परख कैसे कर सकता है? वह तो दोषात्मक ही अपनेको ग्रहण कर रहा है। जैसे कि पूरे मलिन पानीको लोग कीचड़रूप ही निरखा करते हैं, वहाँ कीचड़का अलग दर्शन कहाँ हो सकता है? किन्तु जिसके दर्शनमोहका अनुदय है, स्वच्छता प्रकट हुई है, अतः प्रशम गुण प्रकट हुआ है, अपने स्वरूपको निरखनेके अभ्याससे जिसके गुणोत्कर्ष हुआ है, ऐसा पुरुष

ही तो अपने आपमें रहे सहे दोषोंकी निन्दाका भाव करता है। तो इन दुर्वार रागादिकमें जो कि दुष्टकर्म रूप हैं उनमें यह विचार करना कि ये तो बन्धके कारण हैं। ये महान् संतापको उत्पन्न करने वाले हैं, साक्षात ये संतापस्वरूप हैं, ऐसे अपने दोषोंको निरखना सो निन्दन नामका गुण है। ऐसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषके लिए ये रागादिक भाव न तो अपेक्ष्य हैं और न उपेक्षित होना चाहिए अर्थात् ये रागादिक भाव अपेक्षित नहीं हैं। इनकी अपेक्षा न करना चाहिए, इनका लगाव न रखना चाहिए और ये रागादिक भाव उपेक्षाके योग्य भी नहीं हैं कि ये रागादिक हो रहे हैं तो होने दो, इन समस्त रागादिक भावोंको तो उस तरहसे खोज-खोजकर धुन देना चाहिए जिस तरहसे धुनिया रुईको धुन देता है। धुनिया जब रुई धुनता है तो वह उसके अंदर पड़ी हुई एक-एक फुटकीको छाँट छाँटकर, खोज खोजकर धुन डालता है। इसी तरहसे इन रागादिक भावोंको तो खोज-खोजकर धुन देना चाहिए। इनकी अपेक्षा करना योग्य नहीं है कि हो रहा है तो होने दो। इस तरह ज्ञानीके आत्मदोषके प्रति जो निन्दनका भाव है वह सम्यक्त्वका उपलक्षण है अर्थात् निन्दन वृत्ति द्वारा जाना जाता है कि यहाँ प्रशम गुण प्रकट हुआ है और प्रशमगुणकी व्यक्तिसे ज्ञात होता है कि सम्यक्त्व प्रकट हो गया है। प्रशम गुणका ऐसा भाव समझिये कि जैसे बरसातमें पानी जगह जगह इकट्ठा हो जाता है और जब असौजका महीना पूर्ण होनेको होता है, जब शरदऋतुकी जवानी होती है उस समय पोखरे शान्त हो जाते हैं, उनका कीचड़ नीचे बैठ जाता है, स्वच्छ जल दिखने लगता है। ऐसे ही प्रशमगुणका आत्मामें भी प्रभाव होता है कि जब इस तत्त्वदर्शनरूप शरदऋतुकी जवानी आती है तो यहाँका वह सब गंदा उपयोग जो पहिले हो रहा था रागादिककी बरसात में तो वह सब उपयोग ऐसा शान्त हो जाता है कि मंदकषाय होना, ठीक वृत्ति होना, सही उपयोग चलने लगना—ये सब अच्छाइयाँ प्रकट हो जाती हैं। ऐसे प्रशम गुणके समय कदाचित् कहीं छिटकी रह गई हो थोड़ा कारण पाकर, जैसे कि कुछ वहाँ कीचड़का कहीं उठान हो गया हो तो वह भी दिख जाता है, उस समयमें इसके उसके उसके प्रति निन्दाका भाव रहता है। क्योंकि यह संतापस्वरूप उत्पन्न होता है, ऐसी निन्दा प्रशमगुणका अभिव्यञ्जक है।

गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥४७४॥

गर्हण गुणका स्वरूप—इस श्लोकमें गर्हणका स्वरूप कहा गया है। गर्हण सम्यक्त्वका उपलक्षण है। पंचगुरुवोंकी साक्षीसे और अपने आपकी साक्षीसे मानो स्वयं ही यह निर्णायक है, स्वयं ही बड़ा अधिकारी यह परमशरण है, इसको मैं सुनाऊँ, इस तरहके भावों से और बाह्यमें पञ्चगुरुवोंके साक्षीसे कर्मोंका नाश करनेके लिए जो शक्त्यनुसार प्रमादरहित होकर रागका त्याग करना होता है उसे गर्हण कहते हैं। शक्तिके अनुसार राग त्यागका

करना चाहिये। यह यहाँ एक संकेत दिया है। इसका अर्थ यह न लगाना कि जैसे कि प्रमादी जन शक्तितः त्याग और शक्तितः तपका अर्थ लगाया करते हैं। देखो शक्तिके अनुसार त्याग करियें—शक्तिसे ज्यादह त्याग न कर बैठना। शक्तितः त्याग क्या ऐसी नियमितताको जाहिर कर रहा है अथवा कायरता की ओर प्रेरणा दे रहा है कि देखो शक्तिसे अधिक आचरण न करना चाहिए, चाहे कम हो जाय सो भैया! यह भाव नहीं है शक्तितः त्यागका, किन्तु हममें जितनी शक्ति पायी जा रही है सब शक्ति लगाकर पूर्ण रूपसे शक्तिका उपयोग करके दोषोंका त्याग करें। तो इसी तरह कह रहे हैं कि शक्तिपूर्वक उस कर्महानिके लिए रागादिकभावोंका त्याग करें पंचगुरुवोंकी साक्षीपूर्वक, इसे कहते गर्हा। अब आप अंदाज करलो कि इस ज्ञानमें कैसा उत्कृष्ट प्रशम गुण प्राप्त हुआ है? एक तो अपनी निन्दाकी बात कहना इस लोकमें बड़ा दुस्तर मालूम होता है और फिर किसी धर्मात्माके समक्ष अपने दोषोंकी बात कहना यह कितना आत्मवीरताका काम है? तो इतनी वीरता प्रशम गुणके बिना कैसे प्रकट हो सकती है? तो पंचगुरुवों की साक्षीपूर्वक तथा उनके साथ ही साथ अपने किए हुए दोषोंकी निन्दा करना, उसके साथ-साथ अपने आत्माकी साक्षी रखते हुए निन्दा करना इसका नाम है गर्हा। ऐसा गर्हण नामका गुण प्रशमका सूचक है। अतः यह गर्हण भी सम्यक्त्वका उपलक्षण है।

अर्थादेतद्द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम्।
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाऽविशेषतः ॥४७५॥

प्रशमगुणगर्भित सम्यक्त्वका उपलक्षण निन्दन और गर्हण—उक्त प्रसंगके निष्कर्षमें कहा जा रहा है कि कषायोंका वेग न होनेके कारण, उदयमें रहनेके कारण जो प्रशम गुण प्रकट हुआ है, ऐसे प्रशमगुणके धारक सम्यग्दृष्टिके निन्दन गर्हण भी प्रकट होता है। तो ये निन्दन और गर्हण सम्यक्त्वके उपलक्षण हैं, अर्थात् सम्यक्त्वका लक्षण तो प्रशम है और प्रशमके लक्षण निन्दन और गर्हण गुण हैं। सो सम्यक्त्वका उपलक्षण निन्दन गर्हण सिद्ध हुआ, क्योंकि उस प्रशमी पुरुषके कषायोंका बेग नहीं पाया जा रहा है और कषायोंका जब उदय न हो तब ही निन्दन और गर्हणकी वृत्ति बन सकती है। साधुजन निःसंकोच होकर अपने हितैषी गुरुवोंसे, अपने समस्त दोषोंकी आलोचना करते हैं तो वे अपने आपपर बड़ी दया रख रहे हैं। इन साधुवोंका यह परिणाम होता है कि अपने किए हुए दोषोंको जब उगल दे, गुरुके सम्मुख रख दें तो इस उगलनेके साथ ही उन दोषोंका भार कम हो जाता है और फिर उसके प्रति आचार्य जो प्रायश्चित दे उसे करनेमें वे अपनेको बड़ा धन्य मानते हैं और इसमें गुरुकी बड़ी कृपा अपने आप ,पर समझते हैं कि जो मुझे इस प्रकार प्रायश्चित्त देनेकी करुणा की है, ऐसी भीतरमें अभिरुचि, इस प्रकारका हर्ष इन साधुवोंको क्यों हुआ?

इस कारण हुआ कि उन्हें मुक्तिकी वाञ्छा है, शरीरके संकटोंसे कर्मोंसे निवृत्त होनेकी उनके मनमें अभिलाषा है। तो इतने बड़े भारी कामके लिए जो उपाय बताये गए हैं उनको वे निःसंकोच करते हैं। उन्हें दुनियाका संकोच नहीं रहता। किसीने मेरे दोषोंको सुन लिया तो उससे मेरा क्या बिगाड़ हुआ, ये दोष मेरे आत्मासे निकल जाते हैं और मैं अपनेको निर्दोष पा लेता हूं तो वह तो मेरे लिए ऋद्धि सिद्धि मिल गई है। तो इस तरह अपने दोषोंको निन्दन और गर्हणका जो कार्य है वह यों ही यथा तथा साधुजनोंसे अशक्य है जो वास्तविक स्वानुभवसे हीन है, परन्तु ऐसा साधु निन्दन गर्हण कर पाता है जो स्वानुभूतिसनाथ है। तो यह निन्दन और गर्हण प्रशम गुणका सूचक है और प्रशम सम्यक्त्वका सूचक है। इस तरह ये निन्दन गर्हण जो ग्रन्थान्तरमें बताये गये हैं ये सब सम्यक्त्वके उपलक्षण हैं और कुछ इसमें सम्यक्त्वके साक्षात् लक्षण हैं—जैसे उपशम जो प्रशमका ही नामान्तर है, अनुकम्पा सम्वेग ये तो सीधे सम्यक्त्वके लक्षण हैं ही। और निन्दन, गर्हण, भक्ति, वात्सल्य—ये सब सम्यक्त्वके उपलक्षण कहे गए हैं।

शेषमुक्तं यथाम्नायात् ज्ञातव्यं परमागमात्।
आगमाब्धेः परं पारं माहग्गन्तुं क्षमः कथम् ॥४७६॥

सम्यक्त्वगुणोंके सम्बन्धमें शेष कथनकी यथाम्नाय परमागमसे ज्ञातव्यताका निर्देश एवं ग्रन्थकार द्वारा अपना लघुत्वकथन—अब इस प्रसंगमें उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार अपने विनयका प्रकाशन कर रहे हैं। सम्यक्त्वके लक्षणके वर्णनके प्रसंगमें कुछ वर्णन किया है और अन्य शास्त्रमें कहे गए ८ गुणोंके उनका उपलक्षणपना बताया गया है उसी प्रकारसे शेष जो कथन है वह भी आम्नायके अनुसार परमागमसे जान लेना चाहिए। यह परमागम सर्वज्ञ देवकी मूल परंपरासे चला आया है, ऐसे परमागमसे शेष वर्णनको समझ लेना चाहिए। ग्रंथकार कहते हैं—हम जैसे अल्पबुद्धिजन आगमरूपी समुद्रके उत्कृष्ट पारको पानेके लिए कैसे समर्थ हो सकते हैं? देखिये—ग्रन्थकारके द्वारा वर्णित किए गए इन सब विषयोंको सुना ही है। कितना अपूर्व विषय है और कितना सम्यग्दृष्टिके अन्तस्तत्त्वका स्पर्श कराया है? इतना सब विशिष्ट वर्णन करनेके बाद ग्रंथकार कहते हैं कि हम जैसे जन उस आगमसमुद्रका पार पानेके लिए समर्थ नहीं हैं। जिनके इतनी तीव्र भक्ति हो, विनय हो, नम्रता हो अर्थात् लघुता प्रकाशन करना हो, ऐसे पुरुषोंके कथनमें कोई कमी आयी है या जानकर कोई त्रुटि की हो, कुछ इसमें त्रुटि हुई हो, ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता है। और भले ही अज्ञानी जन किसी बातका समन्वय न कर सकें, आगममें अनेक दृष्टियोंसे अनेक तरह कथन भी आ सकता है, उनका समन्वय न कर सकें और समन्वय दृष्टि भी न रखें, केवल एक दोषदर्शनका ही भाव रखें तो यह उनकी बात है। प्रभाचन्द्राचार्यने प्रमेयकमल मार्तण्डके प्रारम्भमें कहा है कि

जो दोष देखने वाले लोग हैं उनके लिए मेरे इस ग्रन्थका उपक्रम नहीं है, मैं उनको नहीं रच रहा हूं, किन्तु मैं अपने उपयोगकी शुद्धिके लिए और जो हित चाहने वाले लोग हैं उनके कुछ सहयोगके लिए हमारा यह प्रयत्न हो रहा है। सो ग्रन्थकारका जो भी यत्न होता है वह अपने और दूसरोंके कल्याणके लिए होता है। हमें उसका विधिपूर्वक अर्थ समझना चाहिए और उसमें दोषका दर्शन न करना चाहिए।

ननु तद्दर्शनस्यैतल्लक्ष्यस्य स्यादशेषतः।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्यनः ॥४७७॥

तत्त्वरुचिक जिज्ञासुकी सम्यक्त्वके अन्य लक्षणोंकी जिज्ञासा—सम्यग्दर्शनके स्वरूपके विषयमें और उनके चिन्होंके परिचयके सम्बन्धमें यहाँ जिज्ञासु अपनी जिज्ञासा प्रकट कर रहा है कि प्रभो! सम्यग्दर्शनके सम्बन्धमें जो अब तक कहा गया है, क्या इसका लक्षण इतना ही है या अन्य कुछ भी लक्षण है? अब तक सम्यक्त्वके लक्षणोंमें श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, आचरण, प्रशम सम्वेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, निर्वेग, भक्ति, वात्सल्य, निन्दन और गर्हण इतने लक्षण बताये हैं, और उन लक्षणोंमें यह भी स्पष्ट किया गया कि ये सभीके सभी यदि सम्यक्त्वके साथ हैं तो सम्यक् हैं और मिथ्यात्वसे रहित है, स्वानुभूतिके बिना हैं तो वे सब आभास हैं। तो ये लक्षण बताये गए सम्यक्त्वके तो उनको सुनकर जिज्ञासुके यह जिज्ञासा हुई है कि क्या इतने मात्र ही सम्यक्त्वके लक्षण हैं या अन्य कुछ भी हैं। यदि अन्य कोई लक्षण हैं तब फिर इसको आज बताओ। आज ही क्या, अभी बताओ। यहाँ जो अद्य शब्द दिया है जिसका आज भी अर्थ होता है और अभी भी अर्थ होता है। इस जिज्ञासुको इतनी उत्सुकता हुई है सम्यक्त्वका स्वरूप जाननेकी कि उसे इतना धैर्य नहीं है कि कल सुनाओ तो मैं सुनानेको राजी हूं। जो बात मुक्तिके लिए है, आनन्दके लिए है और स्वाधीन है, अपने आपके स्वरूपसे सम्बंधित नहीं है उसके लिए देर क्यों होना चाहिए? वह तो एक अपने कल्याणस्वरूप है। तो जिज्ञासु सम्यग्दर्शनके अन्य लक्षणोंके जाननेकी इच्छा प्रकट कर रहा है।

सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये।
लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकः ॥४७८॥

सम्यग्दर्शनके अष्ट अङ्गोंकी सूचना—उक्त जिज्ञासाके समाधानमें कह रहे हैं कि सम्यग्दर्शन अष्ट अंगसहित प्रसिद्ध है और अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन है। यह बात तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। तीनों लोकोंमें कौन-कौन प्रसिद्ध कर रहा होगा इस सम्यग्दर्शनको तो अंदाज करो कि स्वर्गोंमें देव इन्द्र वगैरह तो बड़े-बड़े विवेचनोंके साथ वर्णन करते ही है, वहाँ पर भी चर्चा चलती है धर्मकी। मध्यलोकमें चर्चा स्पष्ट हो ही रही। उनका प्रयोगरूप भी हो

रहा कि सम्यक्चारित्र तक प्राप्त कर लेते हैं और अधोलोकमें जो भवनवासी व्यन्तर रहते हैं वे यद्यपि सम्यक्त्वसहित उत्पन्न नहीं होते, लेकिन पर्याप्त होनेके बाद उनके योग्यता तो है कि वे सम्यक्त्व पैदा कर सकें। और वहाँ चर्चायें भी होती होंगी, तो यह सम्यग्दर्शन अष्टांग सहित है, ऐसा तीन लोकमें प्रसिद्ध है। इन आठोंको अङ्ग कहा है। इनका जब स्वरूप आयगा, निश्चयवृष्टिसे और व्यवहारदृष्टिसे जो वर्णन होगा, उससे जानेंगे कि सचमुचमें ये सम्यग्दर्शनके अङ्गकी तरह आचरण कर रहे हैं। जैसे अङ्गके समूहका नाम अङ्गी है और अङ्गोंमें से कोई अङ्ग कट जाय, गिर जाय तो जो दशा उस अङ्गीकी होती है समझिये कि उस प्रकारसे सम्यक्त्वकी बात होगी। तो ये जो ८ अङ्ग बताये जायेंगे उनको सम्यक्त्वके अङ्ग रूपसे बताया है। पहिले जो कुछ कहा गया था उसको तो लक्षण शब्दसे कहा। यद्यपि लक्षण, गुण और अङ्ग ये सब एकार्थवाचक हैं, फिर भी इनकी जो पद्धति है उसके अनुसार इनमें परस्पर भेद सिद्ध होता है। इन्हें अङ्ग इस कारण भी कहा है कि जैसे शरीरके अङ्ग शरीरसम्बन्धित और व्यवहृत भिन्न-भिन्न कामोंमें आते हैं और भिन्न-भिन्न स्थितियोंकी सूचना देते हैं, इसी प्रकार ये अङ्ग भी सम्यग्दर्शनके होने वाले कार्योंकी सूचना देते हैं। इसके नाम स्वयं अङ्ग कहे जा रहे हैं और उन नामोंके संक्षिप्त स्वरूपके साथ वहाँ यह भी जानने में आयगा कि ये शरीरके अङ्गोंकी तरह किस तरह काम करते हैं?

> निःशङ्कितं यथा नाम निष्कांक्षितमतः परम्।
> विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढ़ता ॥४७९॥
> उपवृंहणनामा च सुस्थितीकरणं तथा।
> वात्सल्यं च यथाम्नायाद् गुणोप्यस्ति प्रभावना ॥४८०॥

सम्यग्दर्शनके अष्ट अङ्गोंका नामनिर्देश—८ अङ्गोंके ये नाम हैं—निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपवृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। निःशंकितका अर्थ है शंका न करना। जिनेन्द्रभगवानके बारेमें आत्माके स्वरूपमें, वस्तुके स्वरूप में किसी भी प्रकारकी शंका न होना सो निःशंकित अङ्ग है। निःकांक्षित वाञ्छा न रहना, भोगोपभोगकी इच्छा न होना, अभिलाषा न जगना इसका नाम है निःकांक्षित। दर्शनमोहके उदयमें जिनके अभिलाषा होती है उनके अभिलाषायें न रहना उसे कहते हैं निःकांक्षित अङ्ग। निर्विचिकित्सा धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवा करते हुए ग्लानि न आना और अपना जो विभाव उत्पन्न हुआ, क्षुधा आदिक वेदनायें हुई उन वेदनाओंमें म्लान न होना, जैसे कि वेदना आने पर लोग उसे असह्य अनुभव करते हैं और दुःखी होते हैं ऐसी ग्लानि न करना, किन्तु उसका भी ज्ञाता द्रष्टा रहना, यह पीड़ा आयी है सो जायगी, उसकी उपेक्षा रखना और अपने धर्मलक्ष्यमें ही दृढ़ रहना सो निर्विचिकित्सा है। अमूढ़दृष्टि—कुपथ, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुमें

जो दोप देखने वाले लोग हैं उनके लिए मेरे इस ग्रन्थका उपक्रम नहीं है, मैं उनको नहीं
रच रहा हूं, किन्तु मैं अपने उपयोगकी शुद्धिके लिए और जो हित चाहने वाले लोग हैं उनके
कुछ सहयोगके लिए हमारा यह प्रयत्न हो रहा है। सो ग्रन्थकारका जो भी यत्न होता है
वह अपने और दूसरोंके कल्याणके लिए होता है। हमें उसका विधिपूर्वक अर्थ समझना
चाहिए और उसमें दोपका दर्शन न करना चाहिए।

ननु तद्दर्शनस्यैतल्लक्ष्यस्य स्यादशेपतः।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्यनः ।।४७७।।

तत्त्वरुचिक जिज्ञासुकी सम्यक्त्वके अन्य लक्षणोंकी जिज्ञासा—सम्यग्दर्शनके स्वरूपके
विषयमें और उनके चिन्होंके परिचयके सम्बन्धमें यहाँ जिज्ञासु अपनी जिज्ञासा प्रकट कर
रहा है कि प्रभो! सम्यग्दर्शनके सम्बन्धमें जो अब तक कहा गया है, क्या इसका लक्षण
इतना ही है या अन्य कुछ भी लक्षण है? अब तक सम्यक्त्वके लक्षणोंमें श्रद्धा, रुचि, प्रतीति,
आचरण, प्रशम सम्वेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, निर्वेग, भक्ति, वात्सल्य, निन्दन और गर्हण
इतने लक्षण बताये हैं, और उन लक्षणोंमें यह भी स्पष्ट किया गया कि ये सभीके सभी यदि
सम्यक्त्वके साथ हैं तो सम्यक् है और मिथ्यात्वसे रहित है, स्वानुभूतिके बिना हैं तो वे सब
आभास हैं। तो ये लक्षण बताये गए सम्यक्त्वके तो उनको सुनकर जिज्ञासुके यह जिज्ञासा
हुई है कि क्या इतने मात्र ही सम्यक्त्वके लक्षण हैं या अन्य कुछ भी हैं। यदि अन्य कोई
लक्षण हैं तब फिर इसको आज बताओ। आज ही क्या, अभी बताओ। यहाँ जो अद्य शब्द
दिया है जिसका आज भी अर्थ होता है और अभी भी अर्थ होता है। इस जिज्ञासुको इतनी
उत्सुकता हुई है सम्यक्त्वका स्वरूप जाननेकी कि उसे इतना धैर्य नहीं है कि कल सुनाओ तो
मैं सुनानेको राजी हूं। जो बात मुक्तिके लिए है, आनन्दके लिए है और स्वाधीन है, अपने
आपके स्वरूपसे सम्बंधित नहीं है उसके लिए देर क्यों होना चाहिए? वह तो एक अपने
कल्याणस्वरूप है। तो जिज्ञासु सम्यग्दर्शनके अन्य लक्षणोंके जाननेकी इच्छा प्रकट कर
रहा है।

सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्रये।
लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकः ।।४७८।।

सम्यग्दर्शनके अष्ट अङ्गोंकी सूचना—उक्त जिज्ञासाके समाधानमें कह रहे हैं कि
सम्यग्दर्शन अष्ट अंगसहित प्रसिद्ध है और अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन है। यह बात तीनों लोकोंमें
प्रसिद्ध है। तीनों लोकोंमें कौन-कौन प्रसिद्ध कर रहा होगा इस सम्यग्दर्शनको तो अंदाज
करो कि स्वर्गोंमें देव इन्द्र वगैरह तो बड़े-बड़े विवेचनोंके साथ वर्णन करते ही हैं, वहाँ पर
भी चर्चा चलती है धर्मकी। मध्यलोकमें चर्चा स्पष्ट हो ही रही। उनका प्रयोगरूप भी हो

रहा कि सम्यक्‌चारित्र तक प्राप्त कर लेते हैं और अधोलोकमें जो भवनवासी व्यन्तर रहते हैं वे यद्यपि सम्यक्त्वसहित उत्पन्न नहीं होते, लेकिन पर्याप्त होनेके बाद उनके योग्यता तो है कि वे सम्यक्त्व पैदा कर सकें। और वहाँ चर्चायें भी होती होंगी, तो यह सम्यग्दर्शन अष्टांग सहित है, ऐसा तीन लोकमें प्रसिद्ध है। इन आठोंको अङ्ग कहा है। इनका जब स्वरूप आयगा, निश्चयवृष्टिसे और व्यवहारदृष्टिसे जो वर्णन होगा, उससे जानेंगे कि सचमुचमें ये सम्यग्दर्शनके अङ्गकी तरह आचरण कर रहे हैं। जैसे अङ्गके समूहका नाम अङ्गी है और अङ्गोंमें से कोई अङ्ग कट जाय, गिर जाय तो जो दशा उस अङ्गीकी होती है समझिये कि उस प्रकारसे सम्यक्त्वकी बात होगी। तो ये जो ८ अङ्ग बताये जायेंगे उनको सम्यक्त्वके अङ्ग रूपसे बताया है। पहिले जो कुछ कहा गया था उसको तो लक्षण शब्दसे कहा। यद्यपि लक्षण, गुण और अङ्ग ये सब एकार्थवाचक हैं, फिर भी इनकी जो पद्धति है उसके अनुसार इनमें परस्पर भेद सिद्ध होता है। इन्हें अङ्ग इस कारण भी कहा है कि जैसे शरीरके अङ्ग शरीरसम्बन्धित और व्यवहृत भिन्न-भिन्न कामोमें आते हैं और भिन्न-भिन्न स्थितियोंकी सूचना देते हैं, इसी प्रकार ये अङ्ग भी सम्यग्दर्शनके होने वाले कार्योंकी सूचना देते हैं। इसके नाम स्वयं अङ्ग कहे जा रहे हैं और उन नामोंके संक्षिप्त स्वरूपके साथ वहाँ यह भी जानने में आयगा कि ये शरीरके अङ्गोंकी तरह किस तरह काम करते हैं ?

निःशङ्कितं यथा नाम निष्कांक्षितमतः परम् ।
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढ़ता ॥४७९॥
उपवृंहणनामा च सुस्थितीकरणं तथा ।
वात्सल्यं च यथाम्नायाद् गुणोप्यस्ति प्रभावना ॥४८०॥

सम्यग्दर्शनके अष्ट अङ्गोंका नामनिर्देश—८ अङ्गोंके ये नाम हैं—निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपवृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। निःशंकितका अर्थ है शंका न करना। जिनेन्द्रभगवानके बारेमें आत्माके स्वरूपमें, वस्तुके स्वरूप में किसी भी प्रकारकी शंका न होना सो निःशंकित अङ्ग है। निःकांक्षित वाञ्छा न रहना, भोगोपभोगकी इच्छा न होना, अभिलाषा न जगना इसका नाम है निःकांक्षित। दर्शनमोहके उदयमें जिनके अभिलाषा होती है उनके अभिलाषायें न रहना उसे कहते हैं निःकांक्षित अङ्ग। निर्विचिकित्सा धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवा करते हुए ग्लानि न आना और अपना जो विभाव उत्पन्न हुआ, क्षुधा आदिक वेदनायें हुईं उन वेदनाओंमें म्लान न होना, जैसे कि वेदना आने पर लोग उसे असह्य अनुभव करते हैं और दुःखी होते हैं ऐसी ग्लानि न करना, किन्तु उसका भी ज्ञाता द्रष्टा रहना, यह पीड़ा आयी है सो जायगी, उसकी उपेक्षा रखना और अपने धर्मलक्ष्यमें ही दृढ़ रहना सो निर्विचिकित्सा है। अमूढ़दृष्टि—कुपथ, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुमें

हितबुद्धि न होना, यहाँ हमारा कौन शरण है, इनके सम्बन्धमें मेरा लाभ है—ये सब तरंग न रहना, इसका नाम है अमूढ़दृष्टि। उपबृंहण (उपगूहन) अपने दर्शन ज्ञान चारित्रमें वृद्धि रखना, दूसरेके दोषोंको प्रकट न करना यह है उपगूहन। स्थितिकरण—स्वयं धर्मसे कभी चलित हो रहे हों अथवा दूसरे धर्मात्मा किसी कारण धर्मसे चलित हो रहे हों तो उनके योग्य वचनालाप करके उन्हें धर्ममें स्थिर कर देना इसका नाम है स्थितिकरण। वात्सल्य—धर्मात्मा पुरुषोंमें निष्कपट प्रेम होना इसे कहते हैं वात्सल्य। प्रभावना—आचरणके द्वारा इस धर्मकी महिमा प्रकट करना और अपने आपको अपनेमें प्रभावित करना सो प्रभावना है।

शरीरके अष्टअङ्गोंके दृष्टान्तपूर्वक सम्यक्त्वके अष्टअङ्गोंका विवरण— इन ८ अङ्गों का स्वरूप किस पद्धतिसे है? इसका संकेत शरीरके ८ अङ्ग करते हैं। शरीरके ८ अङ्ग हैं— दो पैर, दो हाथ, मस्तक, छाती, पीठ और नितम्ब। जैसे जब कोई चलता है, कदम बढ़ाता है तो मानो वह दाहिना पैर आगे रखने को है तो कितनी निःशंकताके साथ वह अपने पैर आगे रखता है? यदि शंका हो तो वह चल ही नहीं सकता। तो जैसे वह कदम बढ़ाता है तो जो पैर आगे रखता है उसमें निःशंकता झलकती है और जो पैर पीछे रहता है उसमें निःकांक्षता झलकती है। देखिये—पीछेके पैरको उठानेमें उस भूभागकी कितनी उपेक्षा बुद्धि रहती है? उसे ऐसी अभिलाषा नहीं है कि मैं अपना पैर यहाँ रहने दूँ। उसकी तो दृष्टि ही उससे विमुख हो गयी है। इसी तरह निःकांक्षित अङ्गमें यह सम्यग्दृष्टि पुरुष भोगोंकी उपेक्षा कर देता है। उन भोगोंसे वह इस तरह कदम हटा रहा है जैसे कि दौड़ते हुएमें पीछेका पैर। यह है निःकांक्षित अङ्ग। अब देखिये निर्विचिकित्सा अङ्गकी बात। शौच शुद्धिके काम आया करता है बायाँ हाथ। हर एक मनुष्य शौच करके जब शुद्धि बायें हाथसे करते हैं तो यह रोजका काम है इस बायें हाथका, लेकिन रोज काम होने पर भी कोई उस बायें हाथसे ग्लानि तो नहीं करता, उस बायें हाथको कोई अछूत तो नहीं समझता, उसे कोई ग्लानिकी दृष्टिसे तो नहीं देखता। कभी इस बायें हाथमें फोड़ा फुंसी हो जाय तो लोग कितना उसकी खुशामद करते हैं, तो इसी तरह निर्विचिकित्सा अङ्गमें धर्मात्माजनों की सेवा करते हुए, उनके मलमूत्रादि उठाने की सेवा करते हुए या रोगादिकमें सेवा करते हुए उनमें ग्लानि नहीं करते ये ज्ञानी जीव। अमूढ़दृष्टि—जैसे दाहिना हाथ एक निर्णयका संकेत करनेमें कुशल है, किसीको किसी बातका निर्णय देना है तो वह दाहिने हाथकी अंगुली उठाकर निर्णय देता है कि यह तत्त्व इसी प्रकार है, अन्य प्रकार हो ही नहीं सकता। ऐसी अमूढ़दृष्टि अङ्गमें, तत्त्वनिर्णयमें दृढ़ता है और अतत्त्वकी ओर, वस्तुके मिथ्यास्वरूपकी ओर उसका निषेध है। उपगूहन अङ्ग—जैसे इन ८ अङ्गोंमें नितम्ब नामक अङ्ग हर एक कोई ढकते हैं, धोती पहिनते अथवा कोई साफी, तौलिया वगैरह बांध लेते। जैसे नितम्ब अङ्ग ढका जाता है इसी तरह

उपगूहन अङ्गमें धर्मात्मा जनोंमें कोई दोष हुआ हो तो उसे भी ढकते हैं, उसे समाजमें प्रकट नहीं करते हैं, हाँ उसे समझायेंगे मगर समाजमें दोष प्रकट करनेसे लोगोंकी इस धर्ममें ही अश्रद्धा हो जायगी कि यहाँ तो इस ही प्रकारके लोग रहा करते हैं। अतः दोषका उपगूहन किया जाता है। स्थितिकरण—जैसे शरीरके अङ्गोंमें पीठ एक अङ्ग है, इसपर बोझ रख लीजिए। बहुत बड़ा बोझ कोई ले जाना चाहता हो तो वह पीठपर लादकर ही ले जाता है। इसी प्रकार धर्मात्मा जनोंको धर्ममें स्थिर करनेका काम इस स्थितिकरणका है। वात्सल्य—जैसे लोग अपने बड़े साथियोंके प्रति वात्सल्यसे भरे हुए रहते हैं, दया वही, प्रेम वही, इसी तरह वात्सल्य अङ्गमें ज्ञानी जन धर्मात्माओंके प्रति निष्कपट वात्सल्यसे निष्कपट प्रीतिसे भरे हुए होते हैं। वात्सल्यमें की बात बतायी गई है। प्रभावना अङ्ग—जैसे शरीरके अंगोंमें मस्तक अंग एक प्रभावनाकारक होता है, दूसरोंपर प्रभाव पड़ता है तो उसका मस्तक, मुद्रा आदिक निरखकर इसी तरह प्रभावना अंगमें धर्मकी प्रभावनाकी बात कही गई है। इन ८ अङ्गोंका क्रमशः वर्णन होगा, उनमें सर्वप्रथम निःशंकित अङ्गका लक्षण कह रहे हैं।

शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी।
तस्य निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोऽर्थतः ॥४८१॥

निःशङ्कित गुणका स्वरूप—शंका, भी, साध्वस, भीति, भय ये सब शब्द उस एक अर्थके ही कहने वाले हैं। जिस अर्थको इनमेंसे कोई शब्द भी जाहिर करता है, ऐसी शंका अथवा भयसे रहित जो आत्माका परिणाम है वही वास्तवमें निःशंङ्कित अङ्ग कहलाता है। निःशंकित अङ्गका विस्तृत वर्णन होगा, उसमें यह पायेंगे कि इस सम्यग्दृष्टि जीवको अब किसी भी प्रकारकी शल्य नहीं रही। कोई कभी अपनेमें शंका और डर नहीं रहा। शंका और डर तब हुआ करता है जब यह जीव बाहरसे कुछ चाहे और बाहरमें कुछ प्रीति रखे तब उसमें जो बाधायें सम्भावित होती हैं या अपनी कल्पनामें बाधाओंको समझता है तो उससे वह डरने लगता है। तो डर इस जीवको तब तक है जब तक कि निज एकत्वगत अपने स्वरूपको न समझे। किसी भी समय कुछ भी स्थिति हो, यह मैं तो स्वयं सहज चैतन्यस्वरूपमात्र हूं और जो कुछ मुझमें होता है वह इस मेरेमें यहाँ ही होता है, इसके बाहर इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, जब यह परसे सम्बन्ध हटाकर अपने आपमें अपने स्वरूपको सम्बन्धित करता है, उपयोगमें लेता है उस समय इसके किसकी शल्य, किसकी शंका, किसका भय ? तो भयका आधार है मिथ्यात्व, बाह्य पदार्थोंसे अपना हित माननेकी श्रद्धा। जहाँ यह मिथ्यात्व दूर हो गया है वहाँ निःशंकित भाव प्रकट हो गया है। तो वह निःशंकित भाव सम्यग्दृष्टि जीवके सदा रहता है। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि या गृहस्थ ज्ञानी पुरुष कुछ ऐसी घटनाओंमें भी है कि जहाँ उसे कभी थोड़ा भय करना पड़ता है। यों तो भय ८वें गुणस्थान तक कहा गया है, लेकिन वह

भय प्रकृति नामके उदयसे होने वाला कोई अबुद्धिपूर्वक परिणाम है। कदाचित् प्रमत्त दशामें कुछ ज्ञानमें आये ऐसा भय भी होता है लेकिन वह भय आत्मा सम्बन्धित नहीं है, मौलिक-भय नहीं है, इस कारण उस भयकी यहाँ चर्चा नहीं की जा रही है, किन्तु अपने स्वरूपमें, वस्तुवोंके स्वरूपके परिचयमें और जो कुछ जिनेन्द्रदेवके शासनमें बताया गया है उसमें इसके शंका नहीं रहती है। अतएव यह निःशंक रहता है। शल्य तो भीतरसे हुआ करता है। बाहरमें कोई उपद्रव आ गया और थोड़ा उसका प्रतिकार हो गया तो वह शल्य नहीं रहता। शल्य मिथ्यात्वसे सम्बन्धित होता है। दर्शन मोहका उदय होनेसे इस ज्ञानी जीवके निःशंकित गुण प्रकट हुआ है। उसी निःशंकित गुणका स्वरूप विस्तारपूर्वक आगे बताया जायगा।

अर्थवशादत्र सूत्रे शंका न स्यान्मनीषिणाम्।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचरः ॥४८२॥

सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञानमें सूक्ष्मान्तरितदूरार्थोंकी आस्तिक्यगोचरता—निःशंकित अंगके लक्षणमें यह कह रहे हैं कि प्रयोजनके वश जैनसिद्धान्तके सूत्रमें किसी प्रकारकी शंका न करना चाहिए। जैनसिद्धान्तमें जो आम्नायसे परमागममें कहा गया है उसमें कोई कोई बुद्धि रखने वाले पुरुष कभी शंका करते हैं तो उन्हें उसमें कुछ प्रयोजन है। प्रयोजन क्या होता है? यद्यपि वह प्रयोजन अभक्ष्य सेवनके लिए नहीं होता, किन्तु जो विषय उन्होंने जाना है वह अर्थ यहाँसे निकालना चाहिए। ऐसा उनका प्रयोजन रहता है और उस प्रयोजनसे फिर उन्हें सूत्रमें शंका होने लगती है कि यह इस तरह कहा क्यों गया? तो ऐसे प्रयोजनवशसे यहाँ सूत्रमें शंका न करनी चाहिए। देखिये जो सूक्ष्म अन्तरित दूरवर्ती पदार्थ हैं वे तो इन्द्रिय द्वारा अनुपलभ्यमान हैं, फिर भी जो तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं उनके लिए ये सब आस्तिक्यके विषयभूत होते हैं। सूक्ष्म अन्तरित दूरवर्ती पदार्थोंके सम्बन्धमें चूंकि कोई विशेष प्रत्यक्षगोचर यहाँ नहीं है तथापि उनके आस्तिक्यमें ज्ञानियोंको सन्देह नहीं रहता। वे कौनसे सूक्ष्म पदार्थ है, कौन अंतरित हैं, कौन दूरवर्ती हैं? इन सबका विवेचन आगे दो श्लोकोंमें किया जायगा। इस श्लोकसे हमें यह शिक्षा लेनी है कि जो पदार्थ हमारे सामने नहीं हैं उन पदार्थोंके सम्बन्ध में सिद्धान्तमें जो वर्णन आया है उस वर्णनमें अल्पज्ञताके कारण अल्पज्ञोंको शंकायें हो सकती हैं, किन्तु अल्पज्ञता भी रहने दो जब तक है, पर श्रद्धानसे मत चूको। उन पदार्थोंका भी जिस आगममें वर्णन है उस प्रकारकी श्रद्धा करनी ही चाहिए। जो मनचले लोग हैं, अपने मनको स्वच्छन्द रखने वाले हैं तथा अपनी बुद्धिपर अभिमान भी है ऐसे पुरुष सिद्धान्त कल्पित नरक स्वर्गोंकी बात सुनकर शंका करें यह तो उनके लिए एक खेल बना हुआ है; और तो क्या वे इतना भी साहस कर देते हैं कि सूत्रमें से आगममें से यह परिच्छेद हटाकर

अलग कर देना चाहिए तो ऐसी शंकायें और ऐसी मनचली बातें उनके खुदके अनर्थके लिए ही होती हैं। ऐसा सोचने वाले अथवा अपने प्रयोजनके वश वाक्योंसे कोई भिन्न अर्थ लगाने वाले या शंका करने वाले ये खुदको भी ठगते हैं और दूसरोंको भी हानि पहुंचाते हैं। हमारा कर्तव्य है कि जो जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कथित सूक्ष्म पदार्थ हैं, जो हेतुवों द्वारा खण्डित नहीं होते, यदि कोई इन्द्रियगोचर बाह्य चिन्ह नहीं है कि जिससे समर्थन हो तो कोई बाह्य चिन्ह ऐसा भी तो नहीं है कि जिससे खण्डित हो बल्कि युक्तियाँ उन्हें सिद्ध भी करती हैं। ऐसे सूक्ष्म पदार्थोंको आज्ञा प्रमाण मानना चाहिए। उनकी मान्यतामें आज्ञा प्रधान है। जैसे कोई पुरुष बुजुर्गोंकी कही हुई बातको प्रमाण मानता है, तर्कवितर्क नहीं करता, ऐसे ही वीतराग सर्वज्ञदेवके आगममें कही हुई बातमें तर्कवितर्क न करना चाहिए, क्योंकि जिनेन्द्रदेव अन्यथा-वादी नहीं होते। अब यहाँ बतावेंगे कि सूक्ष्मपदार्थ वे कौन हैं जिनके सम्बन्धमें कुछ शंका न रखना चाहिए।

तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः।
अस्ति सूक्ष्मत्त्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ॥४८३॥

ज्ञानियोंके आस्तिक्यगोचर सूक्ष्म पदार्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, काल-द्रव्य—ये सूक्ष्मपदार्थ कहलाते हैं। आत्मा भी सूक्ष्म पदार्थ है, अणु भी सूक्ष्म पदार्थ है। इसके सम्बन्धमें ज्ञानी जन इसके विवेचनमें सन्देह नहीं करते हैं, ये सूक्ष्म हैं क्योंकि इनको इन्द्रिय द्वारा हम जान नहीं सकते। इनके कोई चिन्ह ऐसे व्यक्त नहीं हैं जो इन्द्रियसे पहिचानकर उसे सिद्ध कर दें, किन्तु इन्हें युक्तियोंसे सोचिये, कुछ अनुभूतिसे भी सोचिये, जानिये और प्रधानतया जिनेन्द्रभगवानकी आज्ञा प्रमाणसे निरखिये—ये सब तत्त्व वास्तविक हैं। जो कुछ दिखती हैं ये बहुत मोटी चीजें हैं। इनके क्या दो टुकड़े नहीं होते ? हो जाते हैं। फिर उनमेंसे किसी एक टुकड़ेके क्या दूसरे टुकड़े नहीं होते ? हो जाते हैं। यों ऐसे टुकड़े करते जाइये, अब अन्तमें कोई ऐसा भी टुकड़ा बनेगा जिसका दूसरा टुकड़ा हाथसे नहीं किया जा सकता। तो भले ही आसक्तिके कारण उसके टुकड़े हाथ द्वारा न किए जा सकें, फिर भी उसमें ऐसी सम्भावना है कि और भी टुकड़े हो सकते हैं और फिर टुकड़े हो होकर कोई एक आखिरी अविभागी अंश जो कुछ रह जाय वह कुछ है कि नहीं ? यदि नहीं है तो ऐसे अंशोंके पिण्ड होने पर भी ये पदार्थ बन न सकेंगे। युक्तियाँ अणुकी सिद्धि करती हैं, ऐसे ही धर्मादिक पदार्थोंकी भी सिद्धि होती हैं। फिर भी इसकी प्रमाणतामें आगम मुख्य प्रमाण है। और जिसको आगमकथित ७ तत्त्वोंमें सन्देह न रहा, क्योंकि उन्होंने अपने आपपर घटित किया, अपनेपर बात बितायी, समझा, अनुभूति हुई तो जिसकी परीक्षा पूर्णरूपसे की जा सकती है ऐसा तत्त्व जब असत्य नजर न आया तो ऐसे तत्त्वोंका मार्गदर्शन करने वाले आप्तके प्रति

इस दृष्टिमें इतनी तीव्र भक्ति होती है कि उनके कथित सूक्ष्म अांतरित दूरवर्ती पदार्थोंके सम्बन्धमें कभी शंका ही नही होती। तो ये सूक्ष्म पदार्थ है धर्मादिक, क्योंकि इनके चिन्ह आँखों द्वारा नजरमें नहीं आते। ऐसे सूक्ष्म हैं फिर भी तत्त्वज्ञानीके आस्तिक्यके विषयभूत हो है।

अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः।
दूरार्था भाविनोतीता रामरावणचक्रिणः ॥४८४॥

ज्ञानियोंके ज्ञानमें आस्तिक्यगोचर अन्तरित व दूरवर्ती पदार्थ— अन्तरित पदार्थ क्या होता है? वह पदार्थ जिसका बहुत बड़ा भारी अन्तर है? जिस अन्तरके कारण उनका आँखोंसे प्रत्यक्ष नही होता है, जैसे द्वीप, नदियाँ, पर्वत आदिक पदार्थ। जो परमागममें धातकी खण्डादिक द्वीप बताये गए—गंगा, सिन्धु आदिक नदियाँ, हिमवान आदिक पर्वत बताये गए। जो भी रचना कही गई यह आँखों कहाँ दिखती? क्योकि ये अन्तरित है, हजारों लाखों योजन दूर हैं, तो ऐसे पदार्थ जिनका कि क्षेत्रकृत अन्तर है, जो आँखों नहीं दिखते, लेकिन तत्त्वज्ञ पुरुषोंको, श्रद्धानी पुरुषोंको परमागमकथित इसमें सन्देह नहीं होता। ये अन्तरित

का स्वार्थ न था। उनके बारेमें असत्यताको बात कैसे सम्भव हो सकती है ?

न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषाँ क्वाथसंशयम् ।
संशयस्यादिहेतोर्वै दृङ्मोहस्योदयात्सत: ॥४८५॥

दर्शनमोहका उदय होनेसे मिथ्यादृष्टिके सूक्ष्मान्तरितदूरार्थविषयक असंशय ज्ञानकी असंभवता—इन विप्रकृष्ट पदार्थोंके सम्बन्धमें सम्यग्दृष्टियोंका नि:संशय ज्ञान हो नहीं सकता। उसका कारण है संशयज्ञानका हेतुभूत दर्शनमोहका उनके उदय पाया जा रहा है। दृष्टिव्यामोहका प्रताप यहींसे समझ लीजिए कि ज्ञानस्वरूप आनन्दधाम यह आत्मा स्वयं एक परिनिष्ठित पदार्थ है, स्वयं है, किन्तु लोगोंके कैसा वह बीचका पर्दा पड़ा हुआ है ? उपयोग और आत्मस्वरूप, इनके बीच कौनसा वह पर्दा पड़ा हुआ है कि यह उपयोग उस आत्मस्वरूपमें नहीं देख पा रहा है। वह पर्दा भी बड़ा विचित्र है। जीव है वही एक उसही में अंतस्तत्व है। जिसका ध्यान करके योगीजन अपना कल्याण पा जाते हैं। ऐसा स्वरूप है उसमें समझने वाला भी वहीं है और वहाँ द्वैत तो कुछ है ही नहीं। वही ज्ञानमय पदार्थ है, किन्तु उनका उपयोग अपने आपमें बसे हुए अंतस्तत्त्वकी ओर नहीं जाता, ऐसा होनेमें बीचमें कौनसी रुकावट है ? वह रुकावट है दर्शन मोह, विभ्रम, पर्यायबुद्धि। जो पर्यायपायी है जीवने द्रव्यव्यञ्जन पर्याय अथवा गुणपर्याय, उस ही पर्यायमें यह अपनेको अहंरूप अनुभूत कर रहा है। यह एक ऐसा विचित्र आवरण है कि जिस आवरणके होनेपर इसका उपयोग आनन्दधाम परमशरण निजमें बसे हुए इस परमतत्त्वका दर्शन नहीं कर पाता है। तो ऐसे दर्शनमोहका उदय जिनके पाया जा रहा है उनको स्व और परपदार्थोंके सम्बन्धमें नि:संशयज्ञान कैसे हो सकता हैं और व्यवहारमें जितना जो कुछ ज्ञान कर रहे हैं ये मिथ्यादृष्टिजन वह क्या ज्ञानमें ज्ञान है ? जैसे कहावतमें है कि चोर चोर मौसेरे भाई। चोर-चोर कोई हों तो वे सब भाई बन्धु हैं और उनकी जब परस्पर कथा चलती है तो सबको यों लगता है कि यह बुद्धिमानीका काम करता है, यह ज्यादह कुशल है। हम बिल्कुल चतुराईका काम करते हैं। वहाँ किसीको अपनी गल्ती भी नजर नहीं आती तो ऐसे ही यहाँ अज्ञानी अज्ञानियोंका झुण्ड जुड़ा हुआ है। ज्ञानी पुरुष तो विरले होते हैं। तो इन अज्ञानियोंको जो कुछ दिख रहा है, घर है, भाई है, सम्पदा है आदिक सारी बातें दिखती हैं, इन सबका व्यवहार भी चल रहा है। तो ऐसा ही सबका व्यवहार है। तो किसीको भी न अपनी गल्ती मालूम होती है, न दूसरेकी गल्ती मालूम होती है, ठीक ही तो है। यही तो घर है। यही तो हमारा धाम है, यही मेरा प्रयोजन है, यह ही शरण है। इस प्रकारका यहाँ ही विश्वासको लिए हुए हैं, इस तरहका ज्ञान कर रहा है। यह क्या ज्ञान है ? ज्ञान तो उसका नाम है जो ज्ञानीका उद्धार कर दे, अहितसे छुटाकर हितमें पहुंचा दे, उसे कहते हैं, ज्ञान। दर्शन शास्त्रमें ज्ञानकी परिभाषा एक साधारण रूपसे

किया है कि जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार कराये, करनेमें समर्थ हो उसे ज्ञान कहते हैं। दार्शनिक परिभाषा पा लिया। इसमें कितना मर्म भरा हुआ है? लौकिक पुरुषोंको हित अहित समझते हुए जो समर्थ ज्ञान है वह उनका ज्ञान है। सम्यक्ज्ञान है या मिथ्याज्ञान है। इसका विचार तो दृष्टिमोहके होने या न होनेके आधारपर होगा। लेकिन लोकमें उनका भी ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। तो उसमें भी वही तारीफ बसी हुई है कि हित की प्राप्ति कराये, अहितका परिहार कर दे। जैसे साँपको जान लिया कि यह साँप है तो लो उसका सम्यग्ज्ञान हो गया, क्योंकि बाधारहित स्थानपर यह पहुंच जायगा और बाधा वाले उस स्थानको छोड़ देगा, उस साँपसे दूर हट जायेंगे तो उसे हितकी प्राप्ति और अहित का परिहार मिलेगा, लेकिन परमार्थ तत्त्वमें यह कहा है कि इसका यह ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान नहीं। जाननेको तो जान गए कि यह साँप है, पर वहाँ बुद्धिमें यह निश्चय नहीं बसा है कि यह मायामयी साँप है या असमानजातीय द्रव्यपर्याय है…। इसमें चेतनतत्त्व क्या है, अचेतन तत्त्व क्या है? इसकी तो कुछ सुध ही नहीं है। तो दृष्टिमोहके भाव अभावके आधारपर चाहे सम्यग्ज्ञान हो, चाहे मिथ्याज्ञान हो, लेकिन यह सामान्य लक्षण दार्शनिकशास्त्रमें कितना सुन्दर कहा गया कि जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें समर्थ हो वह ज्ञान है और फिर उसी सूत्रमें बताया है कि ऐसा ज्ञान ही प्रमाण होता है। तब यहाँ भी अपने को घटित कीजिए। मेरेमें वह ज्ञान बने जो मेरा वास्तविक हित कर दे और अहितसे दूर करदे। अहित हैं विषय और कषाय। जिन विकल्पोंमें हम विश्वास बनाये हैं, जिन विकल्पों के आधारपर हम कुछ उद्धतता मचा देते हैं, ये सह विकल्प इसके अहितरूप हैं। विकल्पमात्र में अहितका विश्वास न करना चाहिए और जो हितरूप है वह है निर्विकल्प स्व स्वरूप। उसकी दृष्टि हो, उपयोग हो, आश्रय हो तो वही मेरे लिए हितरूप बनेगा। ऐसे हितकी प्राप्तिमें लगा दे और अहितका परिहार करा दे, ऐसे ही ज्ञानपर बलि-बलि जाना चाहिए। उसपर हमें न्योछावर होना चाहिए। अपने आपका वह सर्वस्व जो अनादिसे माना जा रहा हैं उसका विस्मरण कर देना चाहिए। मैं आत्मा तो अकिञ्चन हूं, और यदि कुछ हो तो उस सबको स्वाहा करना चाहिये। स्वाहा करनेका अर्थ है त्याग करना। तो ऐसे उस ज्ञान की पूजाके लिए हमें क्या करना चाहिए? इस ज्ञानके जो शत्रु हैं विषय कषाय, इन विकल्पों को स्वाहा करना चाहिए। ऐसा किए जानेसे ही आत्माके उद्धारकी सम्भावना है। और विषय कषायोंके विकल्पोंसे आत्मउद्धारकी सम्भावना नहीं है। ऐसा सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो। उसके एवजमें हम क्या काम करें कि उसका बदला चुका सकें। ऐसा कुछ भी उपाय नहीं है। तभी तो देव शास्त्र गुरुके द्वारा जो उपकार होता है उसका बदला चुकाने लायक लोकमें कुछ भी चीज नहीं है। क्या उन्हें समर्पित किया जाय कि हम ऋणसे मुक्त हो सकें? उनके

ऋणकी मुक्ति तो व्यावहारिक किसी भी बातसे नहीं हो सकती है। हमें वह भान ही न रहे, उसके साथ ही जगतका कुछ भी भान न रहे ऐसी मग्नता हो तो वहाँ ऋण चुकानेका विकल्प न रहेगा। इस तरहसे तो चुकाया जा सकेगा, पर अन्य कोई वृत्ति ऐसी नहीं है कि जिसको समर्पण करके हम इस उपकारका बदला चुका सकें। भला बतलावो—जहाँ ऐसी दृष्टि हो गयी हो कि जिसके द्वारा हमारी शुद्ध आनन्दधाममें पहुंच हो, तृप्ति हो, सर्वसंकटोंसे सदाके लिए मुक्ति होती हो। उसकी उपलब्धिके बराबर जगतमें और वैभव ही क्या है?

नचाशङ्क्यं परोक्षास्ते सद्दृष्टेर्गोचरा: कुत:।
तै: सह सन्निकर्षस्य साक्षकस्याप्यसंभवात् ॥४८६॥

सम्यग्दृष्टिके परोक्ष पदार्थोंकी ज्ञानगोचरतामें शंकाकारकी आशंका—उक्त शंकाके समाधानमें यह कहा गया है कि सूक्ष्म अंतरित और दूरवर्ती पदार्थ ये सम्यग्दृष्टिके आस्तिक्यके विषयभूत हैं अर्थात् ये सब पदार्थ हैं, इनमें सम्यग्दृष्टिको संशय नहीं रहता। सो यह बात सुनकर शंकाकार यह कह रहा है कि ये सब तो परोक्ष पदार्थ हैं, इनका इन्द्रियके साथ सम्बन्ध होना ही असम्भव है। फिर ये पदार्थ सम्यग्दृष्टिके विषय कैसे हो जाते हैं? सम्यग्दृष्टि हो तो आत्माका ज्ञान हो। आत्माको जानता रहे लेकिन मेरु परमाणु, राम, रावण, परमाणु आदिक जो पदार्थ विप्रकृष्ट हैं उनको यह सम्यग्दृष्टि कैसे जान जायगा? अब इस शंकाका समाधान करते हैं।

अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं दृश्यते महत्।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥४८७॥

सम्यक्त्वमाहात्म्यमें लोकज्ञानकी आस्तिक्यपुर:सरताका वर्णन करते हुए उक्त शंका का समाधान—उक्त शंकाके समाधानमें कह रहे हैं कि सम्यग्दृष्टिके जो सम्यक्त्वरूप महारत्न उत्पन्न हुआ है उसका ऐसा परमप्रताप है कि परोक्ष पदार्थके बोध करनेमें भी इस सम्यग्दृष्टि को एक सहज आस्तिक्यपूर्वक बोध होता है। इस जगतका ज्ञान सम्यग्दृष्टिको आस्तिक्यबुद्धि पूर्वक हो रहा है। जहाँ विपरीत अभिप्राय नहीं रहता, किसी बाह्य पदार्थमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि का विकल्प नहीं रहता, उसकी ऐसी स्थितिमें सम्यग्दृष्टिका परविषय कभी जो ज्ञान होगा वह आस्तिक्यपुरस्सर होगा, इस बातको कोई दूसरा नहीं परख सकता है, अर्थात् अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जन सम्यग्दृष्टिके परविषयक आस्तिक्यकी बातको नहीं जान सकता है। इसी बात को स्पष्टतया आगेके श्लोकमें कह रहे हैं।

नासंभवमिदं यस्मात् स्वभावोऽतर्कगोचर:।
अतिवागतिशय: सर्व योगिनां योगशक्तिवत् ॥४८८॥

सम्यग्दृष्टियोंके आस्तिक्यपुर:सर लोकज्ञान होनेके अतिशयकी योगशक्तिवत् अतर्क-

गोचरता—सम्यग्दृष्टि पुरुष आस्तिक्य बुद्धि करके जगत भरका ज्ञान कर लेता है। यह बात असम्भव नहीं है। सम्यग्दर्शनका अद्भुत माहात्म्य है कि यह आत्माका प्रत्यक्ष किया सो तो विषय है ही। किन्तु सम्यग्दर्शनके होने पर दूरवर्ती पदार्थ, अतीत भावी पदार्थ, जिनके विषयमें वीतराग सर्वज्ञदेवका आगममें कथन है, उस सबको आस्तिक्यपूर्वक वह जानता है, यह भी एक सम्यक्त्वका प्रताप होनेकी एक कला है, लीला है। स्वभावमें तर्क नहीं किया जा सकता। सम्यग्दर्शनके होने पर ऐसा ही स्वभाव व्यक्त होता है कि वहाँ स्वविषयक यथार्थ प्रत्यक्ष तो होता ही है, किन्तु परविषयक परोक्ष पदार्थ विषयक भी ज्ञान उसके आस्तिक्य पुरस्सर होता है। जैसे कि योगियोंकी योगशक्तिका दूसरे लोग भान नहीं कर सकते। क्यों ऐसा हो गया? योगशक्तिका कितना सामर्थ्य है? इसे अन्य कोई क्या जाने? जैसे जब ऋषियोंका वर्णन आता है कि किसी ऋषिके अक्षीणमहारस ऋद्धि है तो वह जिस चौकेमें भोजन कर जाय उसमें इतना भोजन बढ़ जाता है कि चाहे चक्रवर्तियोंका कटक भी उसमें भोजन कर जाय फिर भी वह कम नहीं पड़ता। अथवा जिस स्थानपर अक्षीण संवास ऋद्धिधारी मुनि ठहर जाय वह स्थान चाहे कितना ही छोटा हो पर उसमें चक्रवर्तिका कटक भी आ जाय तो वह भी समा जाय। यह माहात्म्य किस बातका है? उस ऋद्धिका है। इस बातको सुनकर लौकिक जन तो एक गप्प जैसी मान लेंगे। तो योगियोंके योगका माहात्म्य क्या अज्ञानियोंके ज्ञानके गोचर होगा? नहीं होगा। तो इसी तरह समझिये कि सम्यग्दर्शन होने पर, विपरीत अभिप्रायके समाप्त होनेपर आत्मामें कैसा एक सहज विलास चलता है कि वहाँ स्वविषयक दृढ़ प्रत्यय है सो तो है ही, किन्तु आगम कथित परोक्ष पदार्थके विषयमें भी उसके आस्तिक्यपूर्वक प्रत्यय हो रहा है।

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥४८९॥

सम्यग्दृष्टिके स्वसंवेदनकी शुद्धता—जब मोह विपरीत भाव, परपदार्थोंमें आत्मत्व की बुद्धि, मिथ्यात्वभाव दूर हो जाता है तो विपरीत आशयके दूर होनेपर स्वयं ही ऐसा सहज विकास उत्पन्न होता है कि जिसका मेल आगमकथित घटनाओंसे हो जाता है। आत्मा के सम्बन्धमें परमागममें जो कुछ भी वर्णन किया गया है वह तो वहाँ वर्णनरूप है, किन्तु सम्यग्दर्शनके होने पर वह सबका सब वहाँ साक्षात् उतर जाता है। सम्यग्दृष्टि पुरुषका ज्ञान आत्माका अनुभव करने वाला है। शास्त्रोंमें भी यही शब्द बताया गया है कि सम्यग्दृष्टिके स्वानुभव होता है, किन्तु वह स्वानुभव क्या है? इसको व्यावहारिक रूप कर लिया है सम्यग्दृष्टि जीवने। जो आगममें लिखा है वही यहाँ हुआ है, ऐसे सम्यग्दृष्टिका स्वसम्वेदन ज्ञान प्रत्यक्ष है और शुद्ध है, निःसन्देह है तथा सिद्धपदकी उपमा वाला है। सिद्ध प्रभुके भी

सम्यक्त्व है तो उस सम्यक्त्वका क्या प्रताप है ? समस्त विपरीत अभिप्राय दूर हो गया है अथवा सम्यक्त्वका शब्दार्थ देखें तो उसका अर्थ है सम्यकपना, स्वच्छता । तो ऐसा सम्यक्पना सिद्धमें प्रकट है । स्वच्छतामें दर्शनमोहकृत कलमषतायें नहीं हैं । तो ये दर्शनमोहकृत कलमषतायें नहीं रहतीं तो यहां भी वह सम्यक्पना प्रकट होता है ।

यत्रानुभूयमानेपि सर्वैरावलमात्मनि ।
मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ।।४६०।।

सब ही जीवोंमें शुद्धात्मानुभवकी योग्यता होनेपर भी मिथ्यात्वकर्मके उदयमें जीवोंके स्वानुभवका अभाव—यद्यपि वह स्व, वह चैतन्यभाव आबालगोपाल सभीके अन्तःप्रकाशमान है और सभीमें उस शुद्ध आत्माका अनुभव हो सकता है, परन्तु मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जीवों को उसका अनुभव नहीं होता । क्यों नहीं होता कि वहां मिथ्यातबकर्मके उदयसे विपरीत अभिप्राय बन गए । क्यों विपरीत अभिप्राय बन गए कि वहां पर्यायबुद्धि उत्पन्न हुई । जिसको अपने अध्रुव असार विकार रूप पर्यायोंसे आत्मीयता जग गयी है उसको तो सारी बातें ही उल्टी बन गईं, क्योंकि मूलमें जिस ज्ञानपर यह जीव अपने व्यवहारको निर्भर बना रहा है वह ज्ञान ही विपरीत बन गया है । तो शुद्ध आत्मवेदनशक्ति सभी आत्माओंमें अनुभूत होने योग्य है, सब पा सकते हैं । जीव सब चिदात्मक हैं, उनके स्वरूपमें चित्प्रतिभासको छोड़कर और है क्या ? वहां पिण्ड है नहीं । वहां रूप, रस, गंध, स्पर्श है नहीं । आत्मामें अन्य कुछ मिलता ही क्या है ? सिवाय चित्प्रतिभासके । वह प्रतिभासमय है, उसमें चेतना पायी जा रही है । तो जब उस चेतनके सिवाय और कोई स्वरूप वहां नहीं है तो क्या ये सब उस स्वरूपमें रहते हुए भी अपने स्वरूपका अनुभव न कर सकेंगे ? सब कर सकते हैं । और इतना ही क्या ? जो अभव्य आतमा है वह भी चित्प्रतिभास स्वरूप है । उस ही स्वरूपमय उसका अस्तित्व है । तो जब स्वरूप ही सबका वही है तो क्या वह अनुभव न किया जा सकेगा ? अनुभव करनेकी योग्यता द्रव्यरूपमें तो सबकी हो सकेगी । अभव्यका आत्मा भी सब आत्माओंके समान है । यदि अभव्यके सम्यक्त्वगुण न हो और भी उसमें गुण पाये जाते न हों तो उनके आवरणभूत कर्मोंके आनेकी क्या आवश्यकता थी ? भीतके तो दर्शनमोह कर्म नहीं चिपका है । जो जीव पदार्थ हैं उनमें ही तो केवल ज्ञानावरण आदि आते हैं । क्या अभव्य जीवके केवल ज्ञानावरणका बंध नहीं है ? यदि नहीं है तो उसका अर्थ है कि यह जो केवलज्ञानशक्ति है उस शक्तिका आवरण है । भले ही उसके विकास करनेकी इसमें योग्यता नहीं है । और कभी भी विकास न होगा लेकिन जब हम द्रव्यसामान्यकी दृष्टिसे निरखते हैं, स्वभावको परखते हैं, तो वहां सब जीवोंमें साम्य है । भव्य हो, अभव्य हो, सिद्ध हो, सभी जीवोंमें वह स्वरूप साम्य पाया जाता है । तो यहाँ चर्चा ले लीजिए भव्योंकी ही । क्या ये

भव्य जीव अपनी इस शुद्ध आत्मवेदन शक्तिको प्रकट न कर सकेंगे ? कर सकते हैं, लेकिन मिथ्यात्वका ऐसा उदय है कि स्वच्छताका, उस सामान्यपनेका अनुभव नहीं हो सकता । इसमें मिथ्यात्व कर्मका उदय बाधक है । अर्थात् मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो विपरीत आशय है वह विपरीत आश्रय इसका बाधक है ।

सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि ।
न तत्र वास्तवो भेदो, वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ।।४६१।।

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टिके आत्मामें शक्तिकी अपेक्षासे भेदका अभाव—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवोंके वर्तमान पर्यायमें स्वादभेद तो है पर दोनोंके स्वरूपमें वास्तविक कुछ भी भेद नहीं है, क्योंकि आत्मा दोनोंमें समान है । वह मूलद्रव्य जिस स्वरूपको लिए हुए है उसमें जो गुण शक्तियाँ पायी जाती हैं उनको निरखकर देखें तो सभी एक समान हैं । द्रव्य ६ बताये गए हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल । उन द्रव्योंके विवेचनके प्रसङ्ग में न तो ७ द्रव्य कहे हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव, मिथ्यादृष्टि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, न भव्य अभव्यका भेद करके ७ भेद कहे गए हैं । तो इन भेदोंसे भी यह सिद्ध होता है कि मूलतः जीव जीव सब समान हैं । जैसे पुद्गल अणु पुद्गल अणु मूलतः सब समान हैं । भले ही उन अणुवोंमें यह भेद हो गया है कि ये आहारवर्गणाओंके परमाणु हैं । ये कार्माण-वर्गणाओंके परमाणु हैं । और उनमें परस्पर एक दूसरे रूपसे बदल जानेकी योग्यता निकट कालमें नहीं बन पाती है । फिर भी है तो सब समान ही । अणुका जो स्वरूप है उस स्वरूप दृष्टिसे वे सब एक समान हैं । ऐसे ही जितने भी जीव हैं वे सब स्वरूपदृष्टिसे समान हैं । सम्यग्दृष्टि वस्तुको जानता है, मिथ्यादृष्टि वस्तुको जानता है, लेकिन मिथ्यादृष्टि पुरुषने वस्तुको जानकर स्वरूप तो सही नही जाना, पर वस्तुको तो जाना ही है, किसी रूपसे जाना हो । वहाँ मिथ्यादर्शनके उदयसे यह इष्ट और अनिष्ट बुद्धि करता है । ज्ञानी पुरुषको परि-वार जन भी जिस स्वरूपमें हैं उसके स्वरूपसे ज्ञात होते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष उन परि-वारजनोंमें ऐसी इष्ट अनिष्ट बुद्धि करता है कि इससे ही मेरा जीवन है अथवा इनसे ही मेरा बिगाड़ होता है । तो मिथ्यादृष्टिको इष्ट अनिष्ट बुद्धि होती है और इष्ट अनिष्ट बुद्धि ही हो, इतनी ही बात नहीं, किन्तु उल्टा ज्ञान भी होता है । इष्ट अनिष्ट बुद्धिका आशय होने से उल्टा ज्ञान चलता है और मिथ्यात्वके उदयमें उल्टा ज्ञान चलता है । तो उसमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि होनेकी गुञ्जाइस रहती है । जैसे विषयोंकी अरुचि और तत्त्वज्ञानका उदय, इनमें परस्पर सहयोग भाव है कि जैसे जैसे विषय अरुचिकर होता जायगा वैसे ही वैसे तत्त्वज्ञान बढ़ता जायगा और जैसे-जैसे तत्त्वज्ञान बढ़ेगा वैसे ही वैसे विषयोंकी अरुचि भी वृद्धिगत होगी परस्परका सहयोग है, अथवा वास्तविक आत्माका आचरण द्रव्यदृष्टिपर निर्भर है और द्रव्यके

अनुकूल आचरण द्रव्यदृष्टिका पोषक है। जैसे यहाँ परस्पर सहयोग है ऐसे ही यहाँ भी जानना चाहिए कि मिथ्यादृष्टिके इष्ट अनिष्ट बुद्धि होना यह पदार्थविषयक विपरीत ज्ञान का उत्पादक है और पदार्थविषयक विपरीत ज्ञान होना इष्ट अनिष्ट बुद्धिका उत्पादक है। इस तरह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिका वस्तुके स्वादमें भेद है। वस्तुको जानकर सम्यग्दृष्टि अपनेमें शुद्ध प्रभाव लाता है और मिथ्यादृष्टि अपनेमें अशुद्ध असर उत्पन्न करता है। इतने पर भी वास्तवमें इन दोनों आत्मावोंके स्वरूपमें भेद नहीं है। क्योंकि जैसे अनन्त गुण स्वरूप सम्यग्दृष्टिका आत्मा है उसी प्रकार अनन्तगुण स्वरूप मिथ्यादृष्टिका आत्मा है। उस आत्मामें जो स्वरूप-साम्य पाया जाता है उसका परिज्ञान सम्यग्दृष्टिको होता है, अज्ञानी जन नहीं कर सकते।

अत्र तात्पर्यमेवेतत्तत्त्वैकत्वेपि यो भ्रमः।
शङ्कायाः सोऽपराधोस्ति सातु मिथ्योपजीविनी ॥४९२॥

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनोंके आत्मशक्तिसाम्य होनेपर भी मिथ्यादृष्टिके होने वाले भ्रमकी शङ्कापराधता—उक्त विवेचनका तात्पर्य यह जानना कि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों आत्माओंके समान होनेपर भी तथा विषयभूत पदार्थ एक होनेपर भी अर्थात् जिस पदार्थको सम्यग्दृष्टि जान रहा है उसे मिथ्यादृष्टि भी जान रहा है। इस तरहसे विषयभूत पदार्थ भी एक हुआ, लेकिन मिथ्यादृष्टिको तो वहाँ भ्रम होता है और सम्यग्दृष्टिको वहाँ शंका नहीं रहती है। तो मिथ्यादृष्टिको जो भ्रम हो रहा है वह उसकी शंकाका अपराध है और वह शंका मिथ्यात्वसे हुआ करती है। जब जीवका अभिप्राय विपरीत हो गया, शरीर को उसने आत्मा मान लिया तो अब शरीरपर ही तो पोषणकी दृष्टि होगी और उसके पोषणके उपाय बाहरमें ये नाना प्रकारके निरखे गए। सो उनके पाने भोगनेके लिए ये उद्यम भी करेंगे। तो बाह्यपदार्थोंसे जो अपनी कोई व्यवस्था बनानेका भाव रख रहा है उसे जगह जगह शंका और जगह जगह भय पड़ा हुआ है। एक स्वाधीन काम ही ऐसा है कि जिसमें शंकाका अवकाश नहीं है, कोई भय ही नहीं है। जैसे मानो आप अपने समाधिभावको सिद्ध करनेके लिए उतारू हो रहे हैं, मेरेमें वह समाधि भाव प्रकट हो, स्वानुभव, निर्विकल्प स्थिति इसके अतिरिक्त और कुछ वाञ्छा नहीं है, ऐसी एक निजस्वकी अनुभूतिकी ओर हो, आपकी तैयारी बन गई हो तो उस भावमें अब क्या उलझन है? क्या शंका है? क्या गम है? कोई शंका नहीं कर सकता है। अब कोई ऐसी निःशङ्कता नहीं कर सकता है तो उसमें कोई निज के भीतर बसे हुए दोषका ही प्रभाव है। वहाँ कोई बाहरी पदार्थ बाधक नहीं बन रहा है। और इस स्वानुभूति तैयारी वाले पुरुषके चित्तमें भी कोई बाहरी पदार्थ बाधक नहीं बन रहा है। आरब्धयोगीके ऐसा ही कर्मविपाक है कि जिससे सामने दृष्टिमें लक्ष्यमें होता हुआ भी

उसकी भेंट, उसका मिलन, उसमें मग्नता नहीं हो पाती है। जैसे कभी स्वप्नमें देखा हो कि निकट ही कोई उपादेय वस्तु पड़ी है, मूल्यवान चीज पड़ी है या जिसे पानेकी इच्छा हो रही है उसके पानेका यत्न कर रहा है, स्वप्नमें जो एक कल्पनाकी बात जग रही है, फिर भी वह जरा भी हाथ नहीं उठा पाता। या जरा भी वहाँ चल नहीं पाता। कोई दूसरा पुरुष भी नहीं है, कोई दिखने वाला भी नहीं है, मगर स्वयं ही उस स्वप्नमें ऐसी विवशता आती है कि वस्तु सामने पड़ी है, पर जरा भी हम छू नहीं पाते, ऐसी वहाँ एक अपने आपमें विवशताका अनुभव हो रहा है। यहाँ भी यह बात समझनी चाहिए कि ज्ञान होनेपर भी, लक्ष्य होनेपर भी जो हम उस एक स्वमें नहीं मग्न हो पाते, वहाँ ही हम निर्विकल्प होकर विश्रान्त नहीं हो पाते तो उसके यथायोग्य तैयारी होनेपर भी उसकी अनुभूतिका बाधक कारण कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, क्योंकि स्वयंमें ही कोई विषयकषायमें उद्भूतिरूप या उसकी संस्कार वासनारूप ही निर्बलता है। जहाँ पराधीनता कुछ भी न रहे और जब स्वाधीन काम करने चले तो वहाँ कोई शंका नहीं। परंतु परविषयक प्रोग्राम बनाया तो वहाँ पद-पदपर शंका है, भय है और व्यक्त विवशता है। तो स्वानुभवमें बाधक मिथ्यात्वकर्मका उदय है और मिथ्यात्व भाव ही उसमें बाधक है।

ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम्।
सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥४६३॥

मनुष्योंके मिथ्यानुभवके कारणभूत शङ्कादोषके कारणकी जिज्ञासा—उक्त श्लोकमें यह कहा गया था कि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनोंका आत्मा यद्यपि स्वरूपतः समान है तो ऐसे मिथ्यादृष्टिको भी तो तत्त्वके विषयमें भ्रम होता है और सम्यग्दृष्टिके भ्रम नहीं होता तो मिथ्यादृष्टिको भ्रम होता है, उस भ्रममें कारण है शंका अर्थात् स्वयंकी शंकाका अपराध मिथ्यादृष्टिके भ्रमका कारण है। तो इस समाधानको सुनकर शंकाकार पूछ रहा है कि मनुष्योंको जो मिथ्या अनुभव होता है उसका अपराध बताया गया है शंका। वह शंकासे होने वाला दोष है। तो अब यह बतलाओ कि शंका किस न्यायसे होती है और मिथ्या उपजीवनी बनती है, परतत्त्वके विषयमें होने वाली शंका किस कारणसे होती है और वह शंका किस तरह मिथ्यात्वका अनुबन्धन रखने वाली सिद्ध होती है? इसी शंकाके उत्तरमें कहते हैं।

अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः।
नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥४६४॥

मिथ्यादृष्टिके भय व शङ्काका आधार सप्तभयसहितपना—मिथ्यादृष्टि पुरुषको जो तत्त्वमें भ्रम होता है उस भ्रमका कारण शंका है और उस शंकाका कारण यह है कि वह मिथ्यादृष्टि ७ भयोंसे सहित है, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ७ भयोंसे जरा भी स्पृष्ट नहीं है,

इस कारण सम्यग्दृष्टिको शंका नहीं और भ्रम भी नहीं। इस श्लोकमें यह निर्णय किया गया है कि मिथ्यादृष्टि को जो भय रहता है उस भयके कारण शंका उत्पन्न होती है और भय भी क्यों है? शंका भी क्यों है और भ्रम भी क्यों है? ये सब बातें मिथ्यात्वके उदयके कारण होती हैं। इस प्रसंगमें मिथ्यादृष्टिके आशयमें तीन बातें निरखना है—उसे भय है, शंका है और भ्रम है। यद्यपि मिथ्यात्वसे सम्बन्ध रखनेके कारण तीन बातें एक अधिकरणमें हैं और एक साथ हैं फिर भी कौन सी वृत्ति किसरूप होती है? ऐसी वृत्तिके लिए तीन बातोंका वर्णन समझना चाहिए। तो यहाँ तक यह सिद्ध किया गया कि मिथ्यादृष्टिके चूँकि मिथ्यात्व कर्म प्रकृतिका उदय है, उस उदयका निमित्त पाकर इसको शंका, भय, और भ्रम हुआ करते हैं। इस कारण इसके सही आस्तिक्यका बोध नहीं आ पाता है।

परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥४६५॥

परानुभूतिकी सप्तभयहेतुता—मिथ्यादृष्टिको भ्रम बना हुआ है तत्त्वके परिज्ञानके सम्बन्धमें और इस भ्रमका कारण है शंका और शंकाका कारण है भय। यह भय किस बात पर होता है, इस बातका वर्णन इस श्लोकमें दे रहे हैं। परपदार्थोंमें आत्माका अनुभव हो तभी भय उत्पन्न होता है, परतत्त्वमें यह मैं हूं, इस प्रकारका या परसे मेरा हित है, स्वरूप सत्त्व है इस प्रकारका भान न हो तो भय उत्पन्न नहीं हो सकता। तो जो पर्यायमूढ़ जीव हैं, जिनके मिथ्यात्वकर्मका उदय है, आत्मतत्त्वमें जिनका चित्त नहीं है, ज्ञानमात्र चित्स्वभाव प्रतिभासमात्र उसका स्वरूप है, इस प्रकारकी जिनकी प्रतीति नहीं है उनको भय हुआ करता है। किन्तु जिन्होंने आत्मतत्त्वको समझ लिया है—यह मैं एक चैतन्य प्रतिभास स्वरूप हूं, इसमें आकाशवत कभी कोई भौतिक पदार्थका सम्बन्ध ही नहीं है अथवा किसी पदार्थके द्वारा इसमें कोई चोट ही नही पहुंचती है। जो चोट पहुंचती है, क्लेश होता है वह अपने ही उस विचित्र अमूर्त मूर्त परिणमनमें ही कष्ट पहुंचाता है, ऐसा जिनको निर्णय है उनको भय कहाँ से होगा? तो भयका कारण यहाँ बताया गया है परपदार्थोंमें आत्मीयत्वकी अनुभूति। सो देखा ही जा रहा है इस लोकमें जिन पुरुषोंको जिस किसीमें आत्मीयताका अनुभव हो रहा है, यह मैं हूं, यह मेरा है, जिस किसी परपदार्थमें लगाव बन रहा है उसको उस परसे विघ्न आया तभी तो भय उत्पन्न होता है। जैसे किसीको मरणभय लगा हुआ है उसकी भी यही दशा है। चूंकि शरीरको मान रखा है कि यह मैं हूं तो उस शरीरमें जब कोई बाधा आती है या सम्भावना होती है कि यह इस तरह मिटने वाला है तो समझता है कि मैं ही मिटने वाला हूं, तब उसे भय उत्पन्न होता है। तो जिन परपदार्थमें जो कि अत्यन्त भिन्न स्थानपर हैं उनका बिगाड़ होने पर 'यह मैं नहीं हूं' इस कारणसे अपने आपमें भय नहीं किया जाता है

इसी प्रकार अति निकटवर्ती देह आदिकके भी बिगड़ने पर चूंकि उनसे न्यारे अपने आत्माको समझा है इस कारण वहाँ भी इसका बिगाड़ नहीं होता, भय नहीं हुआ करता है, तो भय होनेका कारण है परपदार्थमें आत्माकी अनुभूति करना। सो यह उन पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि जीवोंकी वृत्ति चल ही रही है इसी कारण उन्हें भय है। इसीसे शंका है और इसी कारण उनको भय उत्पन्न होता है।

ततो भीत्यानुमेयोरित मिथ्याभावो जिनागमात्।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतुः स्वानुभवक्षते ॥४९६॥

सप्त भयोंकी मिथ्याभावानुमेयता व स्वानुभवक्षतिहेतुता—मिथ्यादृष्टि जीवोंको जो यह अन्तः भय लगा हुआ है उस भयसे ही यह प्रमाणित होता है कि उनके मिथ्याभाव है, इस कथनसे यह भी निर्णय रखना चाहिए कि जब कभी इसके भय उत्पन्न होता हो तो समझना चाहिए कि कोई मिथ्याभाव लग बैठे हैं जिनसे कि भय उत्पन्न होता। मिथ्याभाव न लगा हो तो भय किस बातका ? जिसे किसी भी बातका भय लगा हो तो समझना चाहिए कि मिथ्याभावोंका यहाँ संसर्ग है। इस कारण भय बन गया है अन्यथा भय किस बातका ? तो उस भयसे मिथ्याभावका अनुमान किया जाता है और वह भय आत्मानुभूतिके विनाशका कारण है अर्थात् ऐसा अन्तः भय जहाँ मौजूद हो वहाँ आत्मानुभूति किस तरह हो सकती है ? आत्मानुभूति की वहाँ गंध भी न होगी। ऐसा जिनेन्द्रभगवानके आगमसे स्पष्ट प्रसिद्ध हो गया है। यह सुनिर्णीत है कि जहाँ भय है वहाँ आत्मानुभव नहीं। तो इस प्रसंगमें यह बताया गया है कि इन तत्त्वोंके बारेमें जो भ्रम बन गया है वह भ्रम बन गया है अपनी शंकाके कारण। अपनी शंका होनी है भयके कारण और भय होता है परपदार्थोंमें 'यह मैं हूं' इस प्रकारके अनुभवके कारण। जब जिसको ऐसा भय हो, शंकायें हों उनको स्वानुभव कहाँसे हो सकता है और जिनके स्वानुभव है उनके भय नहीं होता, वे तो केवल एक अपने आत्मतत्त्वमें रमते हैं, इसीमें ही सन्तुष्ट होते हैं, इसही में मग्न रहते हैं। इसके अतिरिक्त जिसका कोई दूसरा लक्ष्य नहीं, केवल एक स्वकी प्रतीतिमें उपयोग रहता है उनको अब भय किस बातका ? कदाचित् कोई प्राण भी लेवे तो ऐसी दृढ़ता वाले ज्ञानीके उसका भी भय नहीं रहता। क्या बिगाड़ हुआ ? किसीने कह दिया कि आप इस कमरेमें न बैठें, उस कमरेमें चले जाइये, तो ठीक है, आप समतासे, शान्तिसे चले जाइये। उसमें हुज्जत करनेकी क्या बात पड़ी है ? वहां कोई कहनेकी बात है क्या ? तो लो यदि प्रकृतिने यह हुक्म दिया है, प्रकृतिक्षयने प्रकृतिके उदयने यह हुक्म दिया है कि अब इस कमरेमें मत बैठो, इस देहमें न रहो, आगे चलो तो समतासे मान लो उसकी बात, उसमें हुज्जत करनेकी क्या बात है ? ऐसे तत्त्वज्ञ पुरुषोंको अपने आपके चित्स्वरूपमें प्रतीति बनी हुई है, उस ही में अहंरूपसे अनुभव हो रहा है तब

उन बाहरी किन्हीं भी बातोंका भय नहीं रहता।

अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः।
स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसंभवात् ॥४९७॥

पराधीन व सप्तभय सहित जीवके स्वानुभवकी असंभवता तथा स्वस्थ व स्वाधिकारी जीवके सप्तभयोंकी असंभवता—उक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि जो पराधीन है वह भयसहित है और वह स्वानुभवसे च्युत है, अथवा यह कह लीजिए कि जो भयसहित है वह पराधीन होता है और वह स्वानुभूतिसे रहित हो जाता है अथवा उसे स्वानुभूति नहीं होती है। वह आत्मानुभूतिसे गिरा हुआ है, लेकिन जो स्वच्छ पुरुष है वह अपन अधिकारी है। स्वपर उसका अधिकार हुआ है और वह अधिकार हुआ है दृष्टिवलसे। दृष्टिसे स्व आत्मा हस्तगत हुआ है, उपयोगगत हुआ है, इस कारण उसके भीतिका होना असम्भव है। सम्यग्दृष्टि जीव के भय नहीं होता। मिथ्यात्वमें ही भयका शिकार होना पड़ता है। यहाँ जो सम्यग्दृष्टिको निर्भय बताया गया है ऐसी निर्भयता प्रत्येक सम्यग्दृष्टिके होती है। चाहे वह अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानमें हो अथवा और उच्च चारित्रगुणोंमें हो, किसी भी सम्यग्दृष्टिके भय नहीं होता। यहाँ कोई ऐसी आशंका कर सकता है कि सम्यग्दृष्टिको यदि निर्भय बताया गया है तो यहाँ लोकमें वह शेरसे बचकर चलता है। सर्प, बिच्छू आदिसे बचकर चलता है, तो क्या यह भय नहीं कहलाता? इसका उत्तर स्वयं आगेके श्लोकोंमें दिया जायगा। फिर भी संकेत में यह समझना चाहिए कि आत्मस्वरूपमें इस सम्यग्दृष्टिको रंच भी शंका नहीं है। दर्शनमोहकृत जो भय शंकायें हैं वे सम्यग्दृष्टिमें रंच भी नहीं होतीं। रहे कुछ थोड़ेसे ऊपरी भय तो उस भय परिणामसे भी जिसको भय नहीं है तो ऊपरी ऊपरी भयका यह भय कैसे कहा जायगा? सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव निर्भय होता है और इस निर्भयताके कारण वह स्वाधिकारी है, स्वानुभवका पात्र होता है।

ननु सन्ति चतस्रोऽपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित्।
अर्वाक् च तत्परिच्छेदस्थानादस्तित्वसंभवात् ॥४९८॥

चारों संज्ञाओंके सद्भाव वाले सम्यग्दृष्टिके भयके अभावकी शङ्कास्पदता—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि किन्हीं-किन्हीं सम्यग्दृष्टियोंके चार संज्ञायें भी बतायी गई हैं। संज्ञायें चार होती हैं—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा। आहारसंज्ञा मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर प्रमत्तविरत गुणस्थान तक होती है। भयसंज्ञा मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक है, मैथुनसंज्ञा पहिले गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक है और परिग्रहसंज्ञा १० वें गुणस्थान तक है। शंकाकार कहता है कि देखो इतने अच्छे ऊंचे सम्यग्दृष्टियों तकके भी संज्ञायें बतायी गई हैं। श्रेणीमें रहने वाले मुनियोंके भय, मैथुन,

परिग्रह संज्ञा कही गई है। साधुवोंके भी प्रमत्तविरत गुणस्थानमें आहारसंज्ञा आदि चारों संज्ञायें कही गई हैं। तो जहाँ तक संज्ञा होती है वहाँ तक तो संज्ञाओंकी बात होनी चाहिए। वे संज्ञाओंके सम्बन्धित गुणस्थान तक तो संज्ञायें हैं ही। तो भयसंज्ञा ८ वें गुणस्थान तक है, फिर क्यों मना किया जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीवके कोई भय ही नहीं होता ? इस तरह का कथन क्यों किया जा रहा है ? शंकाकारका यह भाव है कि लोकमें भी दिख रहा है कि सम्यग्दृष्टि डरता है। कोई-कोई किन्हीं-किन्हीं घटनाओंमें और आगमोंमें भी यह वतला रहे हैं कि भयसंज्ञा ८वें गुणस्थान तक है, फिर यहाँ बड़ी दृढ़तासे क्यों कहा जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीवके रंच भी भय नहीं रहता। तो इस कथनसे मेल कैसे किया जा सकेगा ? अब इस शंकाका समाधान करते हैं।

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ॥४९९॥

अनिष्ट पदार्थके संयोगसे बचनेका प्रयत्न करने वाले सम्यग्दृष्टिके निर्भयत्वमें पुनः शंका— यहाँ शंकाकार फिर भी कह रहा है कि जब सम्यग्दृष्टिके चार संज्ञायें पायी जा रही हैं तो फिर उस सम्यग्दृष्टिको यहाँ निर्भय किस प्रकार कहा जा रहा है ? देखो जब यहाँ किसी सम्यग्दृष्टिको अनिष्ट पदार्थोंका संयोग मिलता है तो उससे बचनेके लिए प्रयत्न भी करता है, इस बातको तो हम प्रत्यक्ष देखते हैं। अच्छा बताओ यहाँ किसी व्यक्तिके पास ले जाकर कि यह है सम्यग्दृष्टि, कोई गृहस्थ अथवा मुनि किसीको बताये कि यह है सम्यग्दृष्टि। उसके पास जब बिच्छू, सर्प आदिक निकलेंगे तो वह बचेगा कि नहीं ? देख लीजिए। भले ही कोई उत्कृष्ट साधु ध्यानमुद्रामें बैठे हैं और नहीं भी बचते हैं, ऐसे एक दो लोग हों, फिर भी वे जब चल फिर रहे हैं तो उनसे आसानीसे बचा करते हैं, और गृहस्थ तो उनसे बहुत ही अधिक बचकर चला ही करते हैं। तो यह कैसे कहा जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीवके भय नहीं रहता। देखते हैं कि वह भयवान है और अनिष्ट पदार्थोंसे बचकर चलता है। कौन शेरके मुखमें हाथ देगा, शेरके पास कौन जाकर बैठेगा ? वह तो मानो आपत्ति आनेपर बचनेकी कोशिश करेगा, लेकिन कोई इन अनिष्ट वस्तुवोंके समीप चलकर जाता भी तो नहीं है। क्यों नहीं जाता ? जैसे कोई किसी भी साधुके पास बैठ जाता है अथवा गृहस्थके घर आहारार्थ जाता है, ऐसे ही वे सिंहादिकके पास क्यों नहीं चलकर जाते हैं ? तो इससे सिद्ध है कि सम्यग्दृष्टिके भय है, फिर यहाँ क्यों कहा जा रहा है कि सम्यग्दृष्टिके भय नहीं होता ? इस शंकाके उत्तरमें अब कह रहे हैं।

सत्य भीकोपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः।
रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ॥५००॥

भीक होनेपर भी संज्ञाओंके स्वामित्वका अभाव होने से सम्यग्दृष्टिका निर्भीकत्व—उक्त शंकाके समाधानमें कह रहे हैं कि शंकाकारकी उपर्युक्त बात ठीक है कि सम्यग्दृष्टिके चार संज्ञायें हैं और वह सम्यग्दृष्टि भयभीत भी होता है, परन्तु यह भी तो देख लीजिए कि जिन संज्ञाओंके कारण भयभीत होता है, हो जाता है भयभीत। उन संज्ञाओंमें यह सम्यग्दृष्टि अपना कुछ मानता नहीं, याने यह ज्ञानी पुरुष उन संज्ञाओंका अपनेको स्वामी नही समझता है। जिन संज्ञाओंके आधारपर भय हो रहा, जब उनसे लगार नही रख रहा है, उनसे विविक्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी प्रतीति बनाये हुए है तो इस पद्धतिमें कैसे कहा जा सकता है कि सम्यग्दृष्टिको भय रहता है? जो भय है वह चारित्रमोहके विपाककृत है। सो चारित्र-मोहके विपाक होते हैं, पर उन्हें ज्ञानी जीव अपनाता नहीं है, अर्थात् यह मैं हूं, यह मेरा स्वरूप है, इस प्रकारका भ्रम ज्ञानीके कभी नहीं होता है। तो जहाँ चारों संज्ञाओंका अपनेको स्वामी न समझा तब उस कर्मजन्य उपाधिको न अपनानेके कारण कहा जा सकता है कि यह ज्ञानी पुरुष भयशील है। जैसे चक्षु परद्रव्यको रूपीद्रव्यको देख रहे हों तो भी वे चक्षु देखते नहीं हैं, उसको अनुभवते नहीं हैं। इसी तरहसे आहार, भय आदिक संज्ञायें हो रही हैं, भय भी हो रहा है, लेकिन होते हुए भी वह यहाँ नहीं हो रहा है, उसको ज्ञानी अनुभवते नहीं हैं अर्थात् सम्यक्त्वमें इस सम्यग्दृष्टिके इस आत्मप्रतीतिमें रंच भी भय नही है, इस कारण सम्यग्दृष्टि पुरुष निर्भय होता है और निर्भय होनेसे निःशंक है, निर्भय है। अतएव वह स्वानुभवका अधिकारी है।

सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागतः।
मुह्यन् रज्यन् द्विषँस्तत्र तत्फलेनोयुज्यते ॥५०१॥

उदयागत कर्मांशोंमें मोह, राग, द्वेष होनेपर ही जीवोंका कर्मफल उपयोजन—शंका-कारने यह शंका की थी कि जब सम्यग्दृष्टि पुरुषके भी चार संज्ञायें रह सकती हैं तो उन संज्ञाओके रहते हुए और अनिष्ट पदार्थोका समागम मिले तो उससे बचनेका प्रयत्न करते हुये सम्यग्दृष्टि जीवके भयका अभाव किस तरह कहा गया है? उसके समाधानमें बताया गया कि यद्यपि यह सम्यग्दृष्टि भयसंज्ञावाला भी रहता है कुछ पदों तक और अनिष्ट पदार्थोका संयोग होने पर उनसे बचाव भी करता है, इस तरह यह भयवान नजर आ रहा है, फिर भी संज्ञाओंमें स्वामित्व न होनेके कारण अथवा जो कुछ वृत्ति बन बैठी है उसका स्वामित्व न होनेके कारण वह निर्भीक कहा जाता है और उस समय उसकी ऐसी स्थिति होती है कि जैसे आँख पदार्थसे देखकर भी आँखोंको पदार्थोंकी अनुभूति नहीं है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भयको करता हुआ भी भयको अनुभवता नहीं है अर्थात् स्वरूपसे उसका अनुभव नहीं करता। फिर ये सारी बातें हो कैसे रही हैं? जीवोंमें रागद्वेष, सुख दुःख आदिक पाये जा रहे

हैं। वे होते क्यों हैं ? उसका कारण इस श्लोकमें कहा गया है। संसारी जीवोंके कर्मांश उदयागत हो रहे हैं। उसके फलमें यह जीव मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है। यहाँ जीवोंकी जो वृत्तियां विषम देखी जा रही हैं उसका निमित्त कारण कोई अन्य ही होगा। यदि खुद ही निमित्त कारण हो और खुद ही उपादान हो तो ये विषमतायें न रहनी चाहिएँ अथवा रह जायें विषमता, राग द्वेषादिक तो सदा रहना चाहिए। उनका अभाव होनेका फिर अवसर न रहेगा। उससे यह सिद्ध है कि जीवोंको जो सुख दुःख रागद्वेषादिक होते हैं वे उदयगत कार्माणवर्गणाओंका निमित्त पाकर होते हैं। तो इस तरह ज्ञानी जीवमें भी जब तक कर्मोदय है तो जितने अनुभागका कर्मोदय है उस रूप वहाँ परिणाम होता है, लेकिन किसी भी पर्यायमें स्वामित्वकी बुद्धि ज्ञानीके कतई नही रही है, इस कारणसे उसे निर्भीक कहा गया है।

एतेन हेतुना ज्ञानी निःशङ्को न्यायदर्शनात्।
देशतोऽप्यत्र मूर्च्छायाः शङ्काहेतोरसंभवात् ॥५०२॥

शङ्काहेतुभूत मूर्च्छाकी ज्ञानीमें असंभवता होनेसे निःशङ्कताकी सिद्धि—चूंकि कर्मोदय और कर्मफलका ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि जब उदय होता है तब उदयानुकूल वहाँ वृत्ति होती है। भले ही उदयके समयसे पहिले उस प्रकृतिका संक्रमण हो जाय तो यह सम्भव है, पर उदयक्षणको प्राप्त हो जाय कोई प्रकृति तो वहाँ उदयके अनुरूप फल होता है। तो हो वह फल, किन्तु ज्ञानी जीवके किसी भी कर्म और कर्मफलमें स्वामित्व नहीं है, इस कारणसे यह जीव निःशंक रहता है। निःशंकता न रहनेके कारण क्या हैं ? और सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक बना हुआ है उसका कारण क्या है, इसका स्पष्टीकरण आगे स्वयं किया जायगा। किन्तु यहाँ इतनी बात संकेतमें समझना है कि शंकाका कारण है मूर्छा, परपदार्थमें ममता। तो सम्यग्दृष्टिको परपदार्थमें तो ममता क्या हो, उसको अपने आपमें उत्पन्न हुए रागादिक सुख दुःखादिक विभावोंमें भी ममता नहीं है। तो यों मूर्छाका अभाव होने से ज्ञानी जीव निःशंक रहता है। इसके मूर्छा रंचमात्र भी नहीं है। जहां यह वर्णन आता है कि परमाणु-मात्र भी राग सम्यग्दृष्टिके नहीं है, तो परमाणुमात्र भी राग हो तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। वैसे उसका अर्थ मूर्छा ही है अर्थात् मूर्छारूपी बेहोशीके रूपसे रंचमात्र भी राग नहीं है याने किसी भी रागांशके प्रति ममता हो, मूर्छा हो तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है। उसका स्पष्ट निर्णय है कि मेरा स्वरूप तो केवल ज्ञानानन्दस्वभावमात्र है। इसके अतिरिक्त किसी प्रकारका विकार विषमता ये मेरे स्वरूपमें नहीं हैं। तो यों मूर्छा, शंकाका कारण है। उसका हो गया अभाव, इस कारण ज्ञानी पुरुष सदा निःशंक रहता है।

स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।
येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपयुज्यते ॥५०३॥

सम्यग्ज्ञानीके स्वात्मसंचेतनके कारण कर्मको करते हुए भी कर्ममें लीनताकी असम्भवता—अब यहाँ इस बातका विचार किया जायगा कि उस सम्यग्दृष्टि जीवके स्वात्मा का चेतन किस तरह होता है ? अर्थात् इस ज्ञानीका स्वात्मसंचेतन किस विधिका है, जिसके कारण यह ज्ञानी कर्मोंको करता हुआ भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है। स्वात्मसंचेतन की बात ध्यानकी बात सम्यग्दृष्टियोंमें जघन्य पदोंमें होती है। उत्कृष्ट पद मिल जाय सम्यग्दृष्टि को तो वहाँ चिन्तनकी बात ही नहीं रहती है। केवल एक शुद्ध ज्ञानपरिणमन रहता है। अपने आपके सम्बन्धमें चिन्तन करना, ध्यान करना, यह बात कुछ लघु पदोंमें सम्भव है सम्यग्दृष्टि जीवके। तो वहाँ कर्मोंको यह कर ही रहा है। शारीरिक वृत्तियाँ, शारीरिक बोल-चाल आदि सभी बातें चल रही हैं। तो इतने मन, वचन कायके कर्मोंको करते हुए भी ज्ञानी जीव कर्मोंसे लिप्त नहीं होता है, यह किस भावका परिणाम है ? उनका स्वरूप संचेतन किस तरह होता है, इस बातपर कुछ विचार करें। तो इस सम्बन्धमें विचार करने से पहिले ऐसे स्वरूप संचेतनके उत्पादक जो ७ भय हैं उन भयोंका नाम निर्देश करेंगे और उन भयोंके वर्णनके साथ ही साथ यह भी बतायेंगे कि इस प्रसंगमें ज्ञानी जीवका संचेतन किस तरह होता है जिससे कि वह कर्मको करता हुआ भी कर्मसे लिप्त नहीं होता।

तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् ।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥५०४॥
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकं ततः ।
क्रमादुद्दूदेशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥५०५॥

अज्ञानियोंके संभव सप्त भयोंका निर्देश—जिन ७ भयोंके कारण जीव स्वरूपसे चलित हो जाता है, नाना शंका, विडम्बनाओंमें पड़ जाता है, आकुलित रहता है, संसार-बर्द्धक कर्मप्रकृतियोंका बन्धन करता है उन ७ प्रकृतियोंके ये नाम बताये गए हैं। पहिला भय है इहलोकभय। इस लोकमें मेरा कैसे गुजारा हो ? आपत्ति न आये, इस तरहके भयकी प्रकृति बनाये रखना इहलोकभय है। दूसरा भय है परलोकभय। परलोकमें मेरी क्या हालत होगी ? सुखी रहेंगे, न रहेंगे, क्या मिलेगा, किस तरह होगा, इस तरहका भय करना परलोकभय है। कदाचित् सम्यग्दृष्टि जीवके भी परलोकका चिन्तन चलता है कि मेरा भविष्य अब आनन्दमें रहे, शुद्ध धर्मरूप रहे। यद्यपि इतना भी बाधक भाव है, पर हो जाता है। किन्तु मिथ्यादृष्टिके परलोक चिन्तनकी दिशा ही विपरीत है। जैसे इस लोकमें सुख साम्राज्य चाह रहा है इस तरहका सुख साम्राज्य परलोकमें भी मिले ! कहीं इसमें बाधा न आ जाय,

इस तरहका वह भय बनाये रहता है। साथ ही परलोकमें मेरेको क्या होगा, इस तरहका भी भय हुआ करता है। यह भय उन्हें होता है जिन्होंने आत्मस्वरूपका दर्शन नहीं किया। तो दूसरा भय है परलोककभय। तीसरा भय है वेदनाभय। कोई शारीरिक व्याधि वेदना उत्पन्न होने पर अब क्या हाल होगा? इसकी वेदना कहीं बढ़ न जाय, कहीं ऐसा न हो कि यह फोड़ा असह्यवेदना उत्पन्न करदे, इस तरहका भय बनाना सो वेदनाभय है। चौथा है **अरक्षाभय**। मेरा कोई शरण नहीं है, मेरा कोई रक्षक नहीं है, मैं कैसे ठीक रहूं, कोई साधन ही नहीं है, इस प्रकारसे अपनेको अरक्षित निरखकर भय बनाये रहना सो अरक्षाभय है। इन सब भयोंका आगे वर्णन आयगा और उसी प्रसंगमें सम्यग्दृष्टिका विलास भी बताया जाता रहेगा कि इसे ये भय क्यों नहीं हैं और निर्भय होकर वह कैसे स्वरूपसंचेतन करता है? ५वाँ भय है अगुप्तिभय। मेरे लिए कोई गुप्तस्थान नहीं है, न कोई मजबूत किला है, न कोई मजबूत घर है, न कोई मित्रपार्टीका कोई सुन्दर किला है कि जिससे दूसरोंके विविध आक्रमण मुझपर न हो सकें, आदिक अनेक प्रकारसे अपनेको अगुप्त समझना सो अगुप्तिभय है। छठा भय है— मरणभय। इस मरणभयसे तो सभी जीव भली भाँति परिचित हैं। किसी भी समय कोई मरणकी आशंका जैसी घटना हो जाय तो उस समय वह कैसा भय करता है, इसको वही समझ सकता है। जब कभी साम्प्रदायिक कठिन दंगे हो जाते थे उस समय सड़कों पर निकलते समय लोगोंको यह शंका बनी रहा करती थी कि कहीं ऐसा न हो कि कोई हत्यारा मेरे पेटमें छुरा भोंक दे और मेरा मरण हो जाय। तो ऐसी शंका इस जीव में निरन्तर बसी रहती है। तो यह मरणभय भी एक स्वात्मानुभूतिका कारण बन रहा है। ७ वाँ भय है आकस्मिकभय। इसका वर्णन किया जाय तो एक फिजूलसा भय जंचेगा। लेकिन गुजर है यहतो रही भीति सभी मिथ्या आशय वाले जीवोंमें। कहीं यह छत न गिर जाय, कहीं बिजली न गिर जाय आदिक अनेक प्रकारके आकस्मिक भय हैं। परिवारमें रहते हैं। कहीं कोई गुजर न जाय और बात तो जाने दो, जिसके प्रति राग होता है उसे जरा भी कष्ट आये तो उसके प्रति झट शंका बैठ जाती कि कहीं इसका मरण न हो जाय। यदि यह मर गया तो फिर मेरा क्या हाल होगा आदिक रूपसे आकस्मिक भय भी होता है। ये ७ प्रकारके भय कुदृष्टियोंके ही होते हैं, जिनके पर्यायमें आत्मबुद्धि लगी हुई है।

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि।
इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसंगमः ॥५०६॥

इहलोकभयमें इष्टार्थव्यय व अनिष्टार्थसंगम न होनेकी वासनामें आर्तध्यान—अब इन ७ भयोंमें से सभी भयोंका क्रमशः वर्णन किया जायगा। इस श्लोकमें इहलोकभयका स्वरूप बताया गया है। इस जन्ममें लोगोंको लोकसे भय बना। अर्थात् मेरे इष्ट पदार्थका कहीं

विलगाव (विछोह) न हो जाय। कहीं अनिष्ट पदार्थोंका मुझसे संगम न हो जाय ? इस तरह से इन बाह्य पदार्थोंकी ओरसे इनके संयोग वियोगके लिए विलाप करना, क्रन्दन करना, झींकना सो इहलोकभय कहलाता है। इहलोक भयमें जितने भी भय होते हैं वे सब भय दो विभागोंमें शामिल हैं। इष्टवियोग न हो जाय और अनिष्टसंयोग न हो जाय। जिन जिन चीजोंको अनिष्ट मान रखा है उनके संयोगका डर बना रहता है। कहीं कोई अब ऐसा कानून न बन जाय कि कोई पुरुष इतनेसे अधिक धन नहीं रख सकता है अथवा कोई लूटमारका उपद्रव न आ जाय, दूसरी किन्हीं उद्दण्ड पार्टियोंका अभ्युदय न हो जाय कि रहा सहा धन भी लुट जाय, या जो चिन्तन कर रखा है कि इतना धन तो मेरे पास रहना ही चाहिए, उसमें कहीं बाधा न आ जाय आदिक अनेक प्रकारके चिन्तन चलते हैं, उसमें भय बना रहता है तो यह सब इहलोकभय है और क्या मुद्रायें हुआ करती हैं सो भी बताते हैं।

स्थास्यतीदं धनं नो वा दैवान्माभूद्दरिद्रता।
इत्याद्यधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवाऽद्दगात्मनः ॥५०७॥

इहलोकभयमें धनके ठहरने व न ठहरनेकी शंकासे तथा दरिद्रता न हो जाय, ऐसी वासनाके शल्यसे विह्वलता—जिनको आनन्दमय ज्ञानस्वरूप इस कल्याणमय तत्त्वका दर्शन हुआ है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंके मानसिक चिन्ता निरन्तर चला करती है। क्या क्या चिन्तायें मानसिक हुआ करती हैं ? जैसे यह धन परलोकमें तो जायगा नहीं। इस बातको तो सभी लोग जानते हैं, ज्ञानी जन भी और अज्ञानी जन भी। यों इस धनकी अस्थिरताका परिचय तो सभीको है, पर इस परिचयसे ज्ञानी जन तो लाभ उठा लेते हैं, पर अज्ञानी जन उससे लाभ नही उठा पाते, बल्कि वे उसके पीछे विकल रहा करते हैं। यह धन मेरे पास ठहरेगा अथवा नहीं, कहीं दैवसे मेरी दरिद्रता न बन जाय। जानता तो वह अज्ञानी भी होगा कि जगतमें पापके उदयसे दरिद्रता आया करती है लेकिन उस पापसे वह छूटना तो नहीं चाहता। एक पाप तो यही कर रहा है कि वह यह सोच रहा है कि मेरे दरिद्रता न आ जाय। यह पापभाव है। तो दरिद्रतासे तो डर रहा है, मगर पापभावसे नहीं डर रहा है। कहीं मेरा यह धन ठहरेगा या नहीं, कहीं मेरे दरिद्रता न आ जाय, आदिक रूपसे मानसिक चिन्तायें इस कुदृष्टिके हृदयको जलाये जा रही हैं। इस तरह लोकभयका वर्णन करके अब एक श्लोकमें यह बतला रहे है कि कुदृष्टिके चिन्तनमें और तत्त्वज्ञानके चिन्तनमें, उनकी वृत्तियोंमें कितना अन्तर है ?

अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित्।
यतोऽस्ति हेतुतः शेपाद्विशेषश्चानयोर्महान् ॥५०८॥

अज्ञानियोंके भयका सद्भाव व ज्ञानियोंके भयका अभाव होनेसे ज्ञानी और अज्ञानीमें विशेषान्तरका कथन—अज्ञानी जीवके तो निरन्तर भय बना रहता है और ज्ञानी जीवके कहीं

भी भय नहीं रहता है । तो इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानी और अज्ञानी जीवमें महान अन्तर है । अभी जो अज्ञानी जीवके लिए भयके सम्बंधमें दो बातोंपर ध्यान दिलाया गया है कि भय इन दो चिन्ताओंके कारण है—कहीं इष्टवियोग न हो जाय और अनिष्टसंयोग न हो जाय ? तो इन ध्यानोंमें अज्ञानीको निरन्तर भय बना रहता है, पर ज्ञानीका क्या विचार होता है कि जगतमें मेरा यह आत्मा एक प्रियतम है, यही मेरे लिए परमशरण है । इस आत्माके आधारमें सर्व कल्याण है । मैं केवल ज्ञानस्वरूप अपने आपको निहारता हूं । इस ही ज्ञानमें गुप्त हो जाऊँगा तो फिर मेरे लिए कुछ बाधा ही क्या है ? जगतमें संकट क्या है ? यह तो अतुल आनन्दमें मग्न रहता है और मैं सारे विश्वसे निराला हूं । मेरेको इष्ट क्या और अनिष्ट क्या ? इष्ट मानना यह ही मेरे लिए अनिष्ट है । अनिष्ट समझना यह ही मेरे लिए अनिष्ट है । यह इष्ट अनिष्टका विकल्प होना ही मेरे लिए कलंक है । मैं सर्वसे निराला केवल पवित्र ज्ञानस्वरूप हूं । इस ओर जिसकी दृष्टि है उस पुरुषको बाह्य परिणतिके कारण क्या भय हो सकता है ? ऐसे ही चिन्तनाके अंतरसे ज्ञानी जीव और अज्ञानी जीवमें महान अंतर आ गया है और इस अंतर के कारण विदित होगा कि सम्यग्दृष्टि जीवको जो निःशंक कहा गया है वह यथार्थ ही कहा गया है । उसे क्या संकट ? जिसको ज्ञानस्वरूप आनन्दधाम अपना आत्मतत्त्व अपने समक्ष है, इसके अतिरिक्त किसी भी पदार्थको महत्त्व नहीं देता है, सभी पदार्थ मेरेसे भिन्न होनेके कारण मेरे लिए तुच्छ हैं । जब किसीको महत्त्व नहीं दिया है इसने अपने चिन्तनमें तो इसके लिए न कुछ इष्ट है, न कुछ अनिष्ट है और धन्य है ऐसे परिणामको जहाँ बाह्यपदार्थोंमें इष्टबुद्धि और अनिष्टबुद्धि नहीं रहती और इस ही कारण अपने आपके स्वरूपकी ओर ही आकर्षण रहता है ।

अज्ञानी कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च यत् ।
मनुते सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत् ॥५०९॥

अज्ञानीकी सर्व अर्थोको कर्मनोकर्मभावकर्मात्मक माननेकी मान्यता—अज्ञानी जीव अपने आपको जो कर्म, नोकर्म और भावकर्मात्मक मानता है वह सब मोहसे मान रहा है और यों मान रहा है जैसे कि अद्वैतवादमें सर्व कुछ एक स्वरूप माना गया है, अज्ञानीको यह विश्लेषण नहीं रहता कि यह शरीर है सो मैं हूं, किन्तु शरीर और मैं ऐसे दो पदार्थ ही नहीं मान पा रहा है । वह तो शरीरमें ही अहंरूपसे अनुभव करता है । जैसे कि किसी वस्तुको निरख कर चौकीको देखा तो कोई ऐसा नहीं कहता है कि ऐसे चौकोर आकार वाले पदार्थमें यह चौकी है किन्तु इस ही पदार्थको चौकी है इस रूपसे लोग कहते हैं । तो इसने आकारमें और चौकीमें अभेद कर डाला, इसी तरह अज्ञानी जीव शरीरमें 'मैं हूं' ऐसा नहीं सोचता, किन्तु 'यही मैं हूं' शरीरको ही अहंरूप कर डाला है । इस प्रकार उसके कारणभूत जो द्रव्य कर्म हैं और द्रव्यकर्मके निमित्त कार्यभूत जो भावकर्म हैं, उनमें भी यह अहंरूपसे अनुभव

करता है। नोकर्म और भावकर्ममें तो अहंरूपसे माना ही है। जैसे जो क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें जगती है यह कुदृष्टि अपनेको तद्रूप अनुभव करता है और शरीररूप अपने को अनुभवता है तो द्रव्यकर्मरूप भी अपने को अनुभव डाला। तकदीर वह कुछ अलग चीज नहीं समझ पाता। इस तरह यह अज्ञानी जीव यह कर्मनोकर्मरूप अपनेको मान डालता है। अद्वैतवादमें भी यही कल्पना तो बनती है कि सारा विश्व एक ब्रह्मरूप है। तो जैसे सारे विश्वको एक ब्रह्मरूप माननेकी बात बनती है अज्ञानमें, इसी प्रकार शरीरको अहंरूप मानने की बात अज्ञानमें बनती है। तो जब यह जीव अपनेको शरीरमात्र समझ पा रहा है तो शरीरका वियोग होता है, शरीर दुर्बल होता है। शरीरके साधन भी चाहिएँ तब उन साधनोंसे अपना यह जीवन मानता है। इन सब बातोंके कारण उसे इहलोकसे भय उत्पन्न हो गया है, अर्थात् इस लोकमें मेरे दरिद्रता न आ जाय, कोई अनिष्ट चीजका संगम न हो जाय, ऐसी चिन्ता चित्तमें है।

विश्वाद्भिन्नोपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥५१०॥

विश्वसे भिन्न होकर भी इस जीवका मोहवश विश्वको स्व रूपकी मान्यताके कारण भयशीलता—अपने आपके स्वरूपका विनाश करने वाला, अपने स्वरूपसे च्युत होने वाला यह अज्ञानी जीव यद्यपि इस सारे संसारसे निराला है, कोई मोही हो तो उसका मोहपरिणाम भीतर ही तो बन रहा है, वह विकार ही तो बन रहा है। कहीं उसके सोचनेसे कुछ न हो जायगा। तो सर्वसे भिन्न है यह मोही जीव, फिर भी इस सारे जगतको अपना ही मानता है। अज्ञान ही एक कष्टकी चीज है। अज्ञानके समान विपदा इस जीवपर अन्य कुछ नहीं है। जिसे विपत्तियोंसे दूर होना है अपना कल्याण पानेकी जिसे अभिलाषा हुई है उसका कर्तव्य है कि पहिले वह मिथ्याज्ञानका, विपरीत ज्ञानका उच्छेद करे। यह कितनी बड़ी विपत्ति है कि हैं ये सब परवस्तुयें, मेरा यहाँ कहीं कुछ है नहीं, मेरे सोचनेसे उनमें कुछ होता नहीं, लेकिन ये उल्टा सोच-सोच करके दुःखी होते हैं और ऐसा दुर्लभ जन्म जो इस संसारमें बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है ऐसे नर-जन्मको पाकर भी ये अमूल्य क्षण गंवा दिये जाते हैं व्यर्थके विकल्पोंमें, परवस्तुओंकी चिन्ताओंमें। इनमें ही यह अपना अमूल्य जीवन गंवा दिया जाता है। इस तरह यह अज्ञानी जीव जब अन्य पदार्थोंसे अपना लगाव बनाये है तो उसको भय होगा ही, और वासनामें उसके लगाव निरन्तर बना रहता है, इस कारणसे वह किसी भी समय भयको नहीं छोड़ सकता। कभी उपयोगमें उसके वैषयिक मौज भी चल रहे हों, वह खुश हो रहा है, लेकिन उसका भय अभी मिटा नहीं है तब ही तो जरा-जरासी देरमें वह एकदम भयभीत और दुःखी हो जाता है। तो अज्ञानी जीव सारे विश्वको आत्मारूप मान

रहा है, इस कारण वह लोकमें कभी भी भयका त्याग नहीं कर सकता। उसके निरन्तर भय बना रहता है। जो ज्ञानी जीव है उसको किसी भी प्रकारका भय नहीं है, क्योंकि उसने जाना कि मैं तो इतना ही हूं, जो होना होगा वह इस ही मुझमें होगा, मेरे इस ही स्वरूप द्वारा होगा। मेरा कुछ भी बिगाड़ किसी अन्य पदार्थसे हो ही नहीं सकता। बाह्य पदार्थ निमित्त भी हो मेरे बिगाड़का तो वहां भी मैं मिथ्यारूपसे परिणमता हूं तभी दुःखी होता हूं। कहीं किसी बाह्य पदार्थकी परिणतिके कारण दुःखी नहीं होता। और जो दुःख होता है उस दुःख पर्यायसे ही इसका लगाव नहीं है अर्थात् उन पर्यायोंरूप अपनेको माना ही नहीं है। इस कारण ज्ञानीको कभी भी भय नहीं है और अज्ञानीको सदा भय है। बड़े मोटे किलेके बीचमें रह रहा हो, चारों तरफ अपनी सेनायें भी लगा रखी हों, बड़े अच्छे आरामके महलमें रहता हो, फिर भी अज्ञानी जीवकी वासनामें भय निरन्तर पड़ा हुआ है। इस कारण यह जीव शंकित है और आत्मस्वरूपका स्वानुभव भी प्राप्त नहीं करता है।

तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणः पाकसंभवात्।
नित्यबुद्ध्या शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः ॥५११॥

मिथ्यात्वके उदयसे शरीरादि अनित्य पदार्थमें नित्यताकी बुद्धि होनेसे भ्रान्त हुए मिथ्यादृष्टिके निरन्तर भयकी परिस्थिति—उक्त कथनका सारांश यह है कि अज्ञानी पुरुषके ऐसा ही कर्मोदय रहता है कि जिसके कारण वह अनित्य पदार्थोंमें नित्यकी बुद्धि बनाये रहता है। बस इस ही भ्रान्तिसे यह जीव निरन्तर भयवान रहता है, यही अंदाज कर सकता है। यदि जीवनमें ऐसा मानकर रहे, घरमें रहे, कहीं रहे, ऐसा मान ले कि जो मुझे मिला है ये सब वस्तुवें मिट जाने वाली हैं। ये समागम कुछ भी मेरे साथ सदा रहनेके नहीं हैं। सबको छोड़कर मुझे जाना ही पड़ता है। सो यदि विश्वास बनाये रखे इस समागममें भी तो जब कभी इन पदार्थोंका, परिवार जनोंका या धनसम्पदाका उपयोग हो, विनाश हो तो उस समय में यह दुःखी न रहेगा, किन्तु जिसने जीवनमें यही-यही अपना अभ्यास बनाया, ऐसा ही जिसने विश्वास किया कि यह मेरा घर है, यह मेरेको छोड़कर कहां भाग जायगा? यह तो मेरा ही है, इसे दूसरा कौन लेगा? ये परिवारसें जो लोग मिले हैं शत्रु मित्र आदिक ये तो मेरे ही हैं, मेरेसे अलग नहीं हैं, अलग कहां होंगे, कहां जायेंगे? अरे मिटते हैं तो दूसरोंके मिटते हैं, मेरे नहीं मिट सकते हैं, ऐसा विपरीत विश्वास बना रखा हो तो उस जीवके निरन्तर भय बना रहेगा, और उस जीवको महान दुःख होगा वियोगके समयमें, क्योंकि वियोग तो होगा ही। अब सोचेंगे कि एकदम मेरा था, कितना कितना सुखकारी था, बस सोच-सोचकर दुःखी होता है। तो जो अनित्य पदार्थोंको पहिलेसे अनित्य मानकर रह रहे कि ये तो सब मिटने वाले हैं तो उसको उन पदार्थोंके वियोगमें दुःख नहीं हो सकता। दुःखी तो इसलिए

अनित्यमें नित्यकी बुद्धि बनाये है। तो सर्व तरहसे अनित्य पदार्थोंमें नित्यबुद्धि करनेमें यह जीव शरीर आदिकमें भ्रान्त हो गया है और इस तरह भी देख रहा है यह अज्ञानी कि देखो—यह शरीर ४०-५० वर्षका है और ज्योंका त्यों है। यह तो सदा रहेगा। हमको तो किसी भी दिन दगा नही देता है। जन्मसे लेकर अब तक बराबर बना हुआ है। यह मिटने वाला नहीं है, यह तो टिकने वाली चीज है, इस तरह अनित्य पदार्थमें नित्यबुद्धि बन गयी है, इसी कारणसे इसको भयका पात्र होना पड़ता है।

सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ॥५१२॥

सम्यग्दृष्टिका निर्भयतापोषक अन्तःविचार—अज्ञानियोंको भय क्यों होता, उसका कारण बताया गया पर्यायबुद्धि। जब अपने शरीरमें, अपने रागादिक भावोंमें इसने आत्मबुद्धि कर ली है तो उससे इसको अपने आपकी सुध रही नहीं। बाह्य अनित्य पदार्थोंको आत्मारूप से मानें तो उनके विगाड़का निरन्तर भय बना रहता है और उस भयके कारण यह अपने आपके अनुभवका पात्र नहीं हो पाता। तब ज्ञानीकी वृत्ति देखिये—ज्ञानीकी क्या अन्दरमें वृत्ति रहा करती है। सम्यग्दृष्टि पुरुष सदा अपनेको अकेला समझता है। देखिये—ज्ञान और अज्ञानका अन्तर इस संक्षिप्त वाक्यमें ही वता दिया गया। ज्ञानी पुरुष सदा अपनेको अकेला समझता है, ये बाह्य परिकर, परिजन, मित्रजन इनसे भी निराला केवल अपनी स्वरूप सत्ता में रहने वाले हैं और इस देहसे भी निराले केवल अमूर्त, केवल ज्ञानस्वभाव पवित्र प्रतिभासमय पदार्थ हूं और यहां भी जो कषायभाव उत्पन्न होते हैं उन कषायभावोंसे भी निराला केवल एक शुद्ध ज्ञानज्योतिस्वरूप हूं। ऐसा यह मैं अकेला हूँ, अकेलेपनका ज्ञानीके निरन्तर प्रतीति रहती है, इस कारण उसके न भय आता है, न कोई क्लेश आता है। अब समझ लीजिए कि हमको जो क्लेश उत्पन्न होता है वह हमारे भावकी गड़बड़ीसे ही होता है, किसी बाहरी पदार्थके कारण नहीं होता है। यह बात यों नहीं हुई। मेरेको अनिष्ट है आदिक कल्पनायें करके यह जीव दुःखी होता है। बाहरमें तो जो पदार्थ जैसा है, जहाँ है उस ही ढंगमें उसरूप है। उससे मेरेकी कुछ हानि नहीं पड़ती है, लेकिन जीव अपने आपके भाव बिगाड़ करके दुःखी होते हैं। और भाव विगड़नेका एक स्पष्ट रूपक यह है कि अज्ञानी यह सोचता है कि मैं परिवार वाला हूं, देह वाला हूं, इज्जत वाला हूं। किसी न किसी रूपका लगाव अपने आपमें बनाये रखे रहता है, बस यही उसके भयका कारण है। ज्ञानी जीव सदा इस अपने एकत्वको प्राप्त होता हुआ रहता है। मैं शुद्ध सामान्य चित्प्रतिभासमात्र हूं, यही है अमृतपान। लोग कहते कि अमृत पीनेसे जीव अमर हो जाता है। तो वह अमृत क्या चीज है? क्या कोई कोकाकोला जैसी पीनेकी चीज है या कोई सेव, संतरा जैसा फल है? अरे अमृत तो इस

ज्ञानको कहते हैं, जो न मरे सो अमृत । मृत न हो उसे ही तो अमृत कहते हैं । तो वह है यह ज्ञानस्वरूप, यह सहजज्ञान । इस सहजज्ञानको, इस सहज चैतन्यस्वभावको कोई अपने उपयोगमुखसे पान कर ले तो उसका नाम है अमृतपान । और जो ऐसा अमृतपान कर लेता है वह अमर हो जाता है । मर्म यह है कि आत्मा अमर तो पहिलेसे ही था ही । अनादि अनन्त तत्त्व है, किन्तु पर्यायबुद्धि होनेसे अपनेको अमर अनुभव नहीं कर पा रहा था । अब अमूर्त सहज ज्ञानस्वरूपका उपयोगमुखसे पान करनेपर यह अपने आपको अमर अनुभव कर लेगा । इसीके मायने हुआ कि यह आत्मा अब अमर हो गया । तो इस ही तत्त्वको अंगीकार करता है यह ज्ञानी जीव और समझता है कि ये जितने भी कर्म हैं, रागद्वेप सुख दुःख आदिक भाव हैं, ये तो सब कर्मके विकार हैं । मैं तो इनसे अतिरिक्त हूं, अलग हू, निराला हूं, शुद्ध और चैतन्यस्वरूप हूं । अपने आपके स्वरूपके कारण जो मुझमें सहज बात है उतना मात्र हूं, अन्यरूप नहीं हूं । ऐसे ज्ञानीको सबसे विविक्त अपने चैतन्यस्वरूपका भान रहता है, इस कारण ज्ञानीके भय उत्पन्न नहीं होता ।

शरीरं सूख दुःखादि पुत्र पौत्रादिकं तथा ।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ।।५१३।।

सुख, दुःख, पुत्र, पौत्र आदिकसे विविक्तत्वकी आत्मभावना—सम्यग्दृष्टि पुरुष इन बाहरी पदार्थोंके सम्बन्धमें क्या समझ रखता है, यह बात इस श्लोकमें बतायी गई है । उक्त श्लोकमें तो यह कहा गया था कि ज्ञानी जीव अपने आपके सम्बन्धमें क्या चिन्तन करता है, उसने अपने आपको कैसा देखा है ? तो बताया गया था कि कर्मविकारसे निराला केवल चैतन्यमात्र ऐसा यह मैं एकत्वको प्राप्त अन्तस्तत्त्व हूं, इस तरहसे समझा था । अब जो बाहरी चीजें दिख रही हैं उनके बारेमें ज्ञानीका क्या चिन्तन होता है ? वह बात इस श्लोकमें कही जा रही है । सम्यग्दृष्टि मानता है कि शरीर, सुख, दुःख आदिक पदार्थ और पुत्र पौत्र आदिक भिन्न क्षेत्रमें रहने वाले पदार्थ ये सभी अनित्य हैं और कर्मके कार्य हैं । जो मिला है मुझे वह भी कर्मका कार्य है अर्थात् वह मिलान कर्मके निमित्तसे हुआ है और जो देह प्राप्त हुआ है वह भी कर्मका कार्य है अर्थात् नामकर्म प्रकृतिके उदयसे यह देहरचना हुई है और जो सुख दुःख आदिक भाव उत्पन्न हुए हैं वे भी कर्म प्रकृतिके निमित्तसे हुए हैं । मेरेमें स्वरसतः स्वभावसे जो कुछ बात पायी जा रही है बस तन्मात्र मैं हूं और जो आगंतुक हैं, कर्म उपाधिके निमित्तसे उत्पन्न हुए हैं उन रूप मैं नहीं हूं । तो इस ज्ञानी जीवको जो कुछ बाहर में दिख रहा है वह सब कर्मकृत, पौद्गलिक, बाह्य चीज, विनाशीक चीज नजर आ रहा है । इसी कारण इन बाहरी पदार्थोंमें वह अपना लगाव नहीं रखता है, यहां इस विवेचनसे हमको यह शिक्षा चाहिए कि हम अपनेको अकेला मानें । अकेले हैं तभी तो अकेले अनुभवकी बात

कही जा रही है। कहीं ऐसा नहीं है कि जो दुकेला हो, किसी परमें मिला हो, किसी परसे इसकी परिणति हुई हो और जब कहा जा रहा हो कि अपनेको अकेला अनुभव करना चाहिए ऐसा बहकानेकी बात नहीं कही जा रही। किन्तु जैसे शान्ति मिले, हित मिले, शुद्धता हो, यथार्थता आये, शरीरके संकट मिटें वैसे हितकी शिक्षाकी बात कही जा रही है कि हे आत्मन्! तू अकेला तो है ही, अपने को अकेला समझ भर ले, तेरे सारे झंझट, सारे संकट समाप्त हो जायेंगे। अब है तो अकेला और मान रहा है सबमें मिला हुआ, देहमें मिला हुआ, परिजनमें मिला हुआ, तो इस तरह विपरीत बुद्धि करनेसे अनेक कष्ट उठाने पड़ रहे हैं, तो अपने आपको अकेला अनुभव करनेका अधिकाधिक प्रयत्न करें। इस अकेलेकी व्याख्यायें अनेक हैं। मैं इन परिजनोंसे निराला हूं। यहाँ भी अपनेको अकेला माना, मैं इस देहसे भी निराला हूं यहाँ भी अपने को अकेला समझा और मैं इन रागद्वेष, सुख दुःख आदिकसे भी निराला हूं। इस तरह इसमें भी अपनेको निराला अकेला निरखा और मुझमें जो विचार तरंगें उठती हैं उनसे भी निराला हूं। सहज ज्ञानस्वरूप, इस तरह अपनेको अकेला देखा और यह मैं ऐसा अकेला हूं कि अशुद्ध अवस्था भी हो तो वहाँ भी पूर्वक्षण जो परिणमन होते हैं उन परिणमनों रूप भी नहीं बन पाता, उन परिणमनोंसे भी निराला हूं, ऐसा सहज ज्ञान-ज्योतिस्वरूप हूं। यह भी अकेला निरखना हुआ।

विविक्त आत्मतत्त्वकी भावनामें आत्मलाभ—जो जिस तरह भी अपनेको अकेला निरख ले वह सब लाभकारी है। कोई ऐसा निरख पाता है कि मैं सारी दुनियासे सर्वपरि-जनसे निराला हूं। यह भी फायदा देता है। कोई ऐसा सोचे कि मैं अपने परिकरसे (परिजनसे) निराला हूं तो यह भी अपनी सीमामें लाभकारी है और अकेले-अकेले अन्तः निरखते-निरखते जो सहज चैतन्यस्वभावमात्र अपनेको निरख सकेगा तो वह बड़ा ही लाभ प्राप्त करेगा, ऐसे ही उस एकत्वगत चित्स्वरूपके आलम्बनसे कर्मक्षय होता है, संसारके संकट दूर होते हैं। तो इस जीवनमें करनेका काम कितना है? धर्मके लिए हमें क्या करना चाहिए? शान्ति हमको कैसे प्राप्त हो? संकट कर्म कैसे दूर हों? इन सबके लिए एक संक्षिप्त शब्दोंमें इतना ही मान करके चलियेगा कि हमें तो अपने आपको अकेला अनुभव करना है कि मैं अकेला हूं। लौकिक जन तो ऐसी बात सोच करके घबड़ा जाते हैं। हाय! मैं अकेला रह गया, अब क्या करूँगा? अकेला रहनेकी बात सुनकर यह दुःखी हो जाता है। लेकिन तथ्य यह है कि अपनेको अकेला अनुभव किया जायगा तो सारे दुःख दूर हो जायेंगे। हमने कभी अपने को अकेला अनुभव किया ही तो नहीं। इसका प्रमाण क्या है? इसका प्रमाण यह है कि अब तक शरीरमें फंसे हैं, जन्म मरण करते आ रहे हैं, यह ही यहाँ सिद्ध करता है कि इस जीवने अपनेको अकेला अनुभव नहीं किया। अपनेको भ्रान्त बनाये रहा। कोई शराबी शराबकी

दुकान पर जाकर कहे कि मुझे शराब दो और बहुत ही बढ़िया शराब दो। तो वह कहता है कि अरे ये नालीमें गिरने वाले बेहोश पड़े हुए लोगोंको देख लो ना, जिनके मुखपर कुत्ते लोग पेशाब भी कर रहे है। इनको देखकर ही तुम समझ जावोगे कि यहाँ अच्छी किस्मकी शराब बिकती है या नही। तो ऐसे ही यहाँ दिखने वाले इन शरीरोंको ही देखकर समझलो कि यह जीव मोहमदिराको पीकर उन्मत्त बना हुआ भ्रमता फिरता है या नहीं। ये दिखने वाले शरीर ही इसके साक्षात् प्रमाण है। तो इस भ्रमको छोड़कर अपनेको अकेला अनुभवना यही कार्य करनेको पड़ा हुआ है, इसके लिए ही दृढ़ निर्णय हो और इसके लिए ही अपना प्रयत्न करे।

लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोऽर्थतः।
मा ऽ परोऽलौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोऽस्ति मे ॥५१४॥

नित्य आत्मतत्त्वरूप इहलोककी यथार्थ प्रतीति होनेके कारण ज्ञानीके इहलोकभयका अभाव—सम्यग्ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है कि जो यह लोक है सो यह मेरा चित्‌लोक ही तो है। मेरा आत्मा ही लोक है। लोक उसे कहते हैं जिसमें चीजें रहें, चीजें दिखें। तो यह मैं आत्मा मुझमें ही तो रहता हूं और मुझमें ही तो दुःखी होता हूं। तो मेरा लोक मेरेसे बाहर फिर है कहाँ ? इस तरह यह ज्ञानी जीव समझ रहा है कि मेरा तो निश्चयसे यह आत्मा ही लोक है और यह लोक भी मै ही हूं और यह मेरा लोक नित्य है और नित्यके साथ-साथ यह ज्ञानानन्दका धाम है। किसी पदार्थका निज स्वरूप उस पदार्थके विनाशके लिए नही होता है अन्यथा वह स्वरूप ही नही ठहर सकता। तो मैं ही यह तो लोक हूं, सदाकाल रहने वाला हूं और यह ज्ञानानन्दका धाम हूं, इस ही लोकमें मैं रहा करता हूं, मुझे फिर इस लोकका भय क्या है ? किसी भी बाहरसे मेरेको शंका क्या है ? धन्य है वह पुरुष जो अपने आपमें ऐसी दृढ़ताके साथ निर्णय बनाये हुए है कि मेरा लोक तो यही मेरा आत्मा है। इस ही मे मैं रहता हूं, यही मेरा सर्वस्व धाम है। यहाँ ही जिसको तृप्त रहना हो वह आत्मा तो निःशङ्क है, पूज्य है। तो ज्ञानी जीवका चिन्तन चल रहा है कि मेरा लोक तो यह मेरा चैतन्यभाव है। इसके अतिरिक्त और इसका अलग लोक नहीं है, इससे अतिरिक्त मेरा कही कोई लोक नहीं है, इस कारण मेरेको भय क्या है ?

स्वात्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः।
इहलोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥५१५॥

इहलोकभयसे मुक्त ज्ञानीकी कर्मबन्धनमुक्तता—इहलोकभयकी परिभाषाके प्रसंगमें निष्कर्ष रूप यह अन्तिम श्लोक आया है। इसमें यह कहा जा रहा है कि स्वात्मसंचेतन होनेसे यह ज्ञानी ज्ञानमें ही एक तल्लीन होनेसे यह सम्यग्दृष्टि पुरुष इस लोकके भयसे मुक्त हैं और

कर्मबन्धनसे भी मुक्त है अर्थात् उस भयकृत कर्मबन्धनसे मुक्त है। ज्ञानीको स्वात्मसंचेतन अपने आत्माका आत्मरूपसे अनुभव करना यह होता रहता है। इसी कारणसे वह ज्ञानमें तल्लीन रहता है। जैसे लोकमें कहते हैं कि तुमको आम खानेसे मतलब है कि पेड़ गिननेसे ? आम खानेसे काम है तो खूब खाओ ना, पेड़ोंके गिननेके चक्करमें क्यों लग रहे हो ? इसी तरह यहाँ भी देखो कि हे आत्मन् ! तुम्हें शान्ति पानेका काम है आत्मशुद्धता, स्वच्छता जो सहज हो, उससे तुम्हें काम है या दुनियाके बाह्यपदार्थोंके गिननेका काम है ? शान्तिका काम है तो बस इस ही निज शान्तिधाममें बसकर शान्ति पाते रहो, फिर बाह्य पदार्थोंमें कुछ भी लगनेका तुम्हें प्रयोजन क्या पड़ा है ? तो इस ज्ञानी जीवने ऐसे आनन्दधाम, ज्ञानमात्र निज तत्त्वका संचेतन किया है, इस ही कारण यह ज्ञानभावमें तल्लीन रहता है। ऐसा पुरुष तो इहलोकभयसे मुक्त है। उसे क्या भय है ? जिसने अपने आत्माको ही अपना घर समझा, लोक समझा, सर्वस्व समझा तो ऐसे पुरुपको यदि कोई उपद्रवी पुरुष फाँसी भी लगाये, शस्त्र से भी मार दे, जैसे कि हुई ही हैं बहुतसी बातें। किसीको शेरनीने खाया, कोई शस्त्रसे मारे गए, कोई आगमें जलाये गए। तो इतना सब कुछ होनेपर भी उनका आत्मा जो मुक्तिको प्राप्त हुआ उसके लिए अन्तः कितना अनुभवबल हुआ होगा कि जिससे कर्मबन्धनसे मुक्ति पाया ? वह दृढ़ बल है अपने इस चैतन्य लोकमें आराम करनेका। वेदना तो तब कहलाती है, दुःख तो उसका नाम होगा कि जब भीतरमें भी यह उपयोग ग्रहण करता हुआ, छटपटाता हुआ, संक्लेश करता हुआ, जहाँ एक ज्ञान स्वरसके अनुभवसे जहाँ एक निराकुलताका आनन्द लिया जा रहा हो वहाँ तो ये दुःख ही कुछ नहीं हैं। तो दुःखसे छूटना हो तो उसका उपाय है दृढ़तासे ज्ञानस्वभावका आलम्बन करना। इस उपायके बिना बाहरमें कुछ भी उपयोग हो, वृत्ति हो, कुछ भी किया जा रहा हो, वह तो शांतिके विरुद्ध बात है। तो इस ज्ञानी जीवको यह दृढ़ श्रद्धान है कि मेरा यह चैतन्यस्वरूप, मेरा यह आत्मा, यही लोक है, इसी कारण उस कोइस लोकका भय नहीं है।

परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक्।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति ॥५१६॥

परलोकभीतिका निर्देश—इहलोकभयकी व्याख्या समाप्त करके अब परलोकभयकी व्याख्या कर रहे हैं, परलोक नाम हैं जन्मान्तर आत्माका, पर भूत भविष्यके जन्मान्तरके प्राणी होते है। एक भवके शरीरको छोड़कर अगले शरीरको प्राप्त होना, इसका नाम है पर-लोग, और इस परलोकसे जो भय उत्पन्न होता है उसका नाम परलोकभय है। जैसे जब कभी नरकोंका नरकोंके दुःखका वर्णन चल रहा हो और उपयोग बड़ी रुचिके साथ उस दुःख को सुन रहा हो, और उन दुःखोंको सुनते-सुनते ऐसा समक्ष दुःख आ गया ठीक है, ऐसा कठिन दुःख और उस दुःखको सुनकर एक बहुत भारी भयसा होना, तो उसके साथ यह बात

भी पड़ी हुई है कि मेरा कहीं ऐसा नरकवास न हो जाय। किसी भी दुःखी जीवको देख करके जो हृदयमें बड़ा दुःख उत्पन्न हो जाता है और उसका दुःख मेटनेके लिए प्रयत्न कर दिया जाता है तो यद्यपि यह करुणाभाव है, प्रशस्त भाव है, मगर विशेष दृष्टिसे विचार करें तो उसमें यह विचार मिला हुआ है कि कहीं मेरेको यह दुःख न हो जाय, अव्यक्त रूपसे मिला हुआ है, पर कुछ सम्बन्ध होता है जिससे उस प्रकारकी चेष्टा हो पड़ती है। अब इस दृष्टिसे देखा जाय तो परलोकके समाचारोंका यह ज्ञेय बनाकर रहने वाला उच्च पुरुष है और उस परलोकसे इस प्रकारका भय करने वाला उसके बादका पुरुष है। और खुद पाप करके उसको शंका बन गयी कि कहीं मेरा नरकवास ही न हो जाय। उस कालमें जो परलोकका भय बना है वह उससे जघन्य बात है, और ऐसा अज्ञानी मूढ़ जिसको परलोकका भय ही नहीं है वह तो और भी जघन्य है। तो एक जन्म छोड़कर दूसरे जन्मको अख्त्यार करे इसका नाम है परलोक और उन परलोकसे जो कम्पकी तरह त्रास होता है अर्थात् अपने आपको कंपा देने वाला एक अन्तः त्रास होता है उसको कहते हैं परलोकभय। उस परलोकभयका संक्षिप्त स्वरूप कहकर अब उसको उदाहरणपूर्वक कह रहे हैं।

भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ।
इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥५१७॥

स्वर्गलोकमें जन्म व दुर्गतिमें जन्म न होनेकी वाञ्छासे व्याकुल चित्तकी परलोकभयरूपता—अज्ञानी पुरुष ऐसा चिन्तन करता है कि मेरा स्वर्गमें जन्म हो और चाहता है कि बुरी गतियोंमें, (पशु-पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा आदिककी गतियोंमें) मेरा जन्म कभी मत हो। इस प्रकारकी चिन्तनासे उसका चित्त आकुलित हो जाता है। क्यों आकुलित होता है कि ऐसा सोचनेका आधार भी उसका खोटा भाव है। स्वर्गोंका ऐसा हाल सुनकर कि वहाँ तो बड़ा पवित्र देह मिलता है जिसमें फोड़ा, फुंसी, दाद, खाज आदि भी नहीं होते हैं ऐसा निरोग शरीर मिलता है और खानेके लिए तो उन्हें कहीं हजारों वर्षोंमें भूख लगती है तो उनके कंठसे अमृत झर जाता है और वे तृप्त हो जाते हैं। (देखिये—यहाँ अमृतका नाम सुनकर लोगोंके मुखमें पानी आ जाता है, वे सोचते हैं कि अमृत कोई कोकाकोला जैसी पीनेकी चीज होगी अथवा कोई फल जैसा होगा, पर ऐसी बात नहीं है) तो हजारों वर्षोंमें भूख लगनेपर कंठसे अमृत झर जाता, श्वास भी कहीं पखवारोंमें लेनी होती। (श्वास लेना भी तो एक दुःखकी ही चीज है, अभी यहाँ किसीकी श्वास जल्दी-जल्दी चलने लगे तो वह तो बड़ी जल्दी हैरान हो जाता है।) तो ऐसी कोई वेदनायें देवगतिमें नहीं होती। उनके पास कितनी ही देवांगनायें होती हैं, वे जहाँ चाहे रमण करें, जहाँ चाहे विहार करें....आदि। इस प्रकारकी अनेक बातें सुनकर अज्ञानी जनोंके चित्तमें यह बात बैठ जाती है कि हमें तो देवपर्याय प्राप्त

हो। वे अज्ञानी जन निरन्तर ही देवपर्याय पानेके लिए लालायित रहते हैं। तो इस तरहसे लालायित रहना, यह किस बातपर आधारित है?····यह तो खोटे भावोंपर और विषयोंके परिणामपर आधारित है। जब उनका सोचना एक पापभावमय बन रहा है और साथ ही यह भी सोच रहे हैं कि इन पशु-पक्षी आदिक पर्यायोंमें मेरा जन्म मत हो। तो इन धारणाओं के कारण उन अज्ञानी जनोंका चित्त आकुलित रहता है, उनको परलोकका भय बना रहता है। ज्ञानी जीवको परलोकभय नहीं है। उसका उत्कृष्ट आधार तो यही है कि परलोककी तरफ उसका ध्यान ही नहीं है। तो कहाँ ध्यान है?····अपने एक चित्स्वरूपकी ओर ध्यान है। इस विकल्पमें वह जा ही नहीं रहा है, और अगर जा भी रहा है इस विकल्पमें, इसका ज्ञान कर रहा है तो एक अपने आपमें ज्ञानाभ्यासके बलके कारण अपने आपमें भरा-पूरा अनुभव बना रहनेके कारण उसकी चर्चा चल ली, परिचय हो गया; यह भी देखो संसारका कैसा दृश्य है, और कदाचित् उस परलोककी बात सुनकर ध्यानमें आया कि ये मेरी भी गतियाँ मत हों। तो ऐसा चिन्तन करनेमें उसका आधार है शुद्ध स्वरूपका दर्शन, और उसके एवजमें बनी है भीतरमें अभिलाषा एक इस शुद्ध स्वरूपके परिणमनकी। यहाँ तक तो ज्ञानका सम्बन्ध है, पर इससे और गए बीते होकर परलोकविषयक ध्यान बना तो वह सब मिथ्यात्वका प्रताप है। परलोकमें कितना कठिन दुःख है? यह मेरेको मत हो, उसके एवजमें उसने सोचा है कि मैं राजा महाराजा होऊँ, स्वर्गोंका देव बनूं। यह परलोक मेरा मत हो आदिक इसके एवजमें यदि सोचा हो कि मेरा तो जन्म ही मत हो, तब तो कुछ बात थी, लेकिन यह तो उसके एवजमें जन्म ही सोच रहा है। सामान्यतया यह बात सुनकर लोग ऐसा सोच सकते हैं कि कोई यदि यह सोचता है कि मेरा इन नारकादिक कुयोनियोंमें जन्म मत हो तो वह तो अच्छा ही सोच रहा है। बुरा क्या सोच रहा है? इतना कुछ शब्दोंसे जंच रहा है कि ऐसा सोच रहा है, मगर उसके एवजमें जो देवगतिमें जन्म लेना, राजा महाराजा होना सोच रखा है तो इस विषके कारण यह चिन्तन भी विष बन गया। यों ज्ञानी जीव तो परलोकभयसे रहित हैं और अज्ञानीका चित्त आकुलित है। उसे परलोकका भय रहता है।

मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात्।
तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्रव्यत्ययात् ॥५१८॥

मिथ्याभावके कारण मिथ्यादृष्टिके ही परलोकभयका स्वामित्व—मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्याभावोंसे परलोक सम्बन्धी भय हुआ करता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवके ऐसा भय नहीं है। इसका कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवके मिथ्यात्वका उदय नहीं है। तो परलोकभयका कारण भयमात्रका कारण भयसे लगाव रखकर, भीतरसे कंप जानेका कारण तो मिथ्यात्वकर्म का उदय है। भय आना दूसरी बात है और भयके परिणामको लेकर भीतरसे ही भीत रहना

यह अज्ञानियोंकी बात है। ज्ञानी पुरुषको भी कुछ पदों तक भय हो जाया करता है, लेकिन जो भयका परिणाम होता है उन भयपरिणामोंसे लगाव न होनेके कारण वह भीतरसे भयभीत नहीं रहता। या यों कह लीजिए कि भय करता है, पर भयका भी भय कर रहा है। जो भयपरिणाम जग रहा है उससे अलग बन रहा है, उससे डरकर अलग रहता है। तो जिसको भयसे भय है उसे भयभीत कैसे कहा जा सकेगा ? और जो भयमें लगा हुआ है भयभीत तो उसे कहा जायगा। तो इस सर्वभयका कारण मिथ्यात्वकर्मका उदय है, वह सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं है, इस कारणसे सम्यग्दृष्टि जीवको भय नहीं बताया गया है। भयसे भीतर में भीत बन जाता। भयके कारण भीतरमें भी डर जाता, इससे उसके भय नहीं कहा गया।

बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥५१६॥

मिथ्यामात्रैकभूमिक अनात्मज्ञ मिथ्यादृष्टिको स्वकी कर्मकर्मफलात्मकरूपमें प्राप्ति— मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्माको नही पहिचानता। जिसको अपने आत्माका अस्तित्व ही उपयोगमें प्रत्यक्षभूत नही है, ऐसे जीवके क्या परिणाम होते हैं, उसका क्षेत्र तो मिथ्यात्व ही है। वह बोलेगा तो उसमें भी मिथ्यात्वकी गंध रहेगी, जो सोचेगा उसमें भी मिथ्यात्वकी गंध। मिथ्यापनसे वह किसी भी जगह दूर नहीं हो पाता। धर्म करेगा तो उसमें भी मिथ्यात्वकी गंध। मिथ्यादृष्टि जीवकी किसी भी चेष्टामें विश्वास नहीं किया जा सकता। कहो धर्म कर रहा है। भगवानके आगे बड़े जोर-जोरसे भक्ति कर रहा है और किसीने कह दिया कि जरा धीरे पढ़ो, तो वही आग-बबूला हो जाता है। तो ऐसे अज्ञानी पुरुषको यही होश नहीं है कि मुझे क्या करना है ? बड़ी भीड़ मची हो और भगवानके दर्शन करनेके लिए जगह न मिल रही हो भीतर जानेके लिए तो यह ज्ञानी तो भीड़के बाहर ही वहींसे देखेगा तो देखकर या न भी देख सका तो यों ही ज्ञानचक्षुसे देखकर उन्हें नमस्कार करके तृप्त हो जायगा, पर अज्ञानीको यह धीरता नहीं रहती, वह तो भीड़को चीरता हुआ कुछ बड़बड़ाता हुआ, गुस्सा होता हुआ वहाँ पहुंचेगा। वह तो सबसे आगे पहुंचनेकी कोशिश करेगा। उसे कुछ दूरसे ही अगर भगवानकी मूर्तिके दर्शन हो जायें तो उससे वह सन्तोष न करेगा। वह जब सबसे आगे पहुंचकर दर्शन करेगा तब समझेगा कि अब मैंने भगवानके दर्शन किए। तो ज्ञानी जीव और अज्ञानी जीवकी अन्तर्वृत्तिमें बहुत अंतर होता है। तो मिथ्यात्व ही जिसका क्षेत्र है ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्माको नहीं पहिचानता। जैसे कोई किसान अपने २०-२५ बीघा जमीनके बीच खड़ा होकर उसे देखकर बहुत तृप्त होता है। क्योंकि वह अपने क्षेत्रमें खड़ा है और उस क्षेत्रका आनन्द ले रहा है, ऐसे ही मिथ्यात्वके क्षेत्रमें ही मिथ्यादृष्टि पड़ा है और उस ही मिथ्यात्वके क्षेत्रमें स्थित होकर कुछ भी सोचकर, बोलकर, प्रवृत्ति करके वह तृप्त

होता रहता है। यह मूर्ख अर्थात् पर्याय मोहित हुआ यह मूढ़ जीव कर्म और कर्मफलके स्वरूप को आपा मानता है, इस कारण इसके परलोकभय बना रहता है।

ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव।
मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः ॥५२०॥

मिथ्यादृष्टिकी शाश्वत भ्रान्तरूपता—जिसकी मिथ्यात्व मात्र भूमि है। जैसे कि जिसके अनेकों बीघा खेती है और अपनी खेतीके बीच अनुभव करता है कि यह भी भूमि है और उस भूमिके बीच खड़े होकर अपने आपमें एक अहंकारका अनुभव करता है, इसी प्रकार एक मिथ्यात्वभूमिमें रहते हुए यह अज्ञानी जीव उस मिथ्यात्वभूमिके जो जो भी अंकुर हैं, धान्य हैं, खेती है, उनकी हरियालीको देखकर यह अपनेमें अहंकारका अनुभव मानता है और उस स्थितिमें आत्माको न जानता हुआ यह बहिर्दृष्टि जीव अपनेको कर्म और कर्मफलात्मक अनुभव करता है। यही कारण है कि यह अज्ञानी जीव सदा भयभीत रहता है, क्योंकि इस को भ्रान्ति यह है परपदार्थमें आत्मत्वका भ्रम होना और परको भी परके ढंगसे न जान सके, उसे भी अन्य-अन्य रूपसे समझ रहा है तो इस भ्रान्तिके कारण यह सदा भयभीत है। भयभीत है—इतना ही नहीं, किन्तु उसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। जैसे कि मृगतृष्णाको जल समझने वाला हिरण वहाँके लिए, जल पानेके लिए निरन्तर दृष्टि रहती है। आगे बढ़ा, फिर दूरकी रेतीली जमीन पानी जैसी दिखी तो पास पहुंचकर वह सोचता है कि यहाँ नहीं है पानी, पानी तो वह आगे है, इस तरह परिश्रम करता रहता है। तो यों मिथ्यादृष्टि जीव भी उपयोगका व्यायाम कराता है, परिश्रम करता है। वैसे आत्माके कोई अंग नहीं हैं कि जिससे परिश्रम करे, भीतर ही कल्पनायें गढीं और खेदखिन्न हुआ, विश्रान्त हुआ, बस यही उसका घोर परिश्रम है। तो यों यह अज्ञानी जीव भयभीत रहता है और भ्रान्त रहता है।

अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः।
भीतिहेतोरिहावश्यं भ्रान्तेरत्राप्यसंभवात् ॥५२१॥

भ्रान्तिका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टिकी सदा निर्भयता—जब कि परलोकके विचार करनेके सिलसिलेमें यह जीव भ्रान्त और भयभीत रहता है तब मिथ्यादृष्टि जीव उस सम्बन्ध में किसी तरहका चिन्तन करता है और क्या उसकी स्थिति होती है उसका वर्णन इस श्लोक में किया जा रहा है। अन्तरात्मा तो सदा निर्भय रहता है, क्योंकि वह निर्भय स्थानपर पहुंच चुका है, निर्भय है यह आत्मपद। जहां यह निर्णय हुआ कि मैं तो मात्र चित्प्रतिभास स्वरूप हूं, इस मुझ चित्प्रतिभास स्वरूपका न कोई शत्रु है, न कोई परिचय करने वाला है, न कोई इसका घर है, यह तो केवल अपने चैतन्यस्वरूपके कारण उत्पादव्ययध्रौव्य अपनेमें करता रहता है। तब इसका किसी परसे सम्बन्ध नहीं, किसी परका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इसमें

आता नहीं। तब इसमें भय किस बातका ? जब ही भय हुआ करता है, जब किसी परपदार्थ में दृष्टि गड़ती है, सो अन्तरात्मामें अपने आपके विविक्त स्वरूपका भली-भाँति निर्णय किया है, और उस निर्णयके साथ उस स्वरूपके अनुरूप अपना आचरण भी बना रहा है, इस कारण उसे भय नहीं होता है। तो यों जब सम्यग्दृष्टिके भ्रान्ति ही नही है, निजको निज, परको पर जान लिया है, फिर उसको भय किस कारणसे होगा ? यों सम्यग्दृष्टि जीव परलोकके सम्बंध में भी भय नहीं करता। उसका यह स्पष्ट संचेतन है कि यह मैं हूं। यहाँ हूं तो यह मैं हूं, आगे हूं तो यह मैं हूं, मेरा परलोक भी यही है। परलोकमें मुझे क्लेश नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि मुझ आत्मामें क्लेश न हो तो मैं आत्मा क्लेशके स्वभावसे रहित हूं। पौरुष यह है कि जिससे स्वभावपर अपना उपयोग जाय, दृष्टि जाय, आलम्बनका स्वभाव ले, बस वही अभय पद है।

मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुन: ।
यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासद्द्रवत्यधीः ॥५२२॥

मिथ्यादृष्टिके वस्तुका अन्यथा श्रद्धान—मिथ्यादृष्टि जीवको क्यों अभय पद प्राप्त नहीं हो रहा ? वह अपनेको निर्भय बनानेके लिए प्रयत्न तो अनेक करता है। बड़े-बड़े किले बनाये, गुप्त जगहमें रहे, अनेक प्रकार रक्षा सम्बन्धी साधन बना ले, फिर भी उसे भय क्यों रहता है ? इस कारण भय रहता है कि भ्रमका कारणभूत जो भ्रम है वह साथ लगाये हुए है। यदि किलेके भीतर भी वह बैठा है तो बाहरसे तो भीतर आ गया अथवा किलेकी भींतके भीतर तो आ गया, पर भ्रमसे हटकर भीतर तो नहीं आया। जैसे किलेके बाहरी स्थानको उसने छोड़ दिया, लेकिन इस आत्मदुर्गसे भयको तो नहीं निकाला। भयमें इसको लगाव है, भ्रान्तिमें इसको लगाव है, इस कारणसे यह सदा भयवान रहता है। जैसे अंधकारके समय थोड़ा उजेला हो और अंधकार विशेष हो तो उस अवसरमें सामने पड़ी तो हो रस्सी और भ्रम हो जाय कि यह तो सर्प है, तो सर्प है इतना जानते ही उसके अन्दर क्षोभ आ गया। वह यद्यपि नहीं सरक रहा है, नहीं कोई बाधा पहिचान रहा है, किन्तु देख ही लिया है १०-५ हाथ दूरसे और यह भ्रम हो गया कि यह सर्प है, इस प्रकारका ज्ञान आते ही अन्तः क्षोभ मच गया। तो जैसे रस्सीमें सर्पका निश्चय होनेसे भय उत्पन्न होता है इसी प्रकार इस मिथ्यादृष्टि जीवके मोहांधकारके कारण हैं कुछ और जान रहा है कुछ, बस इसी व्यवस्थाके कारण उसे भय उत्पन्न होता है। इस डरने वालेको भी तो यह बात हुई कि थी तो रस्सी और जान गए सर्प, तो मोहमें भी यही हुआ कि है तो कुछ और, जानता है कुछ, बस इस भ्रमके कारण निरन्तर भय रहता है।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात् ।
स बिभेति कुतो न्यायादन्यथाऽभवनादिह ।।५२३।।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षरूप ज्योतिको आत्मसात् करने वाले ज्ञानीके भयहेतुतताका अभाव— जो पुरुष सुसम्वेदन प्रत्यक्षरूप ज्योतिको अपनेसे अभिन्न जानता है वह क्यों डरेगा, क्योंकि जिस सुसम्वेदनके विषयभूत ज्ञानज्योतिको अपना माना, यह मैं स्वरूप हूं, इस निर्णय करने वाले ज्ञानी पुरुषके यह ख्याल ही नहीं आ सकता है कि यह ज्योतिस्वरूप कभी जड़ बन जाय, यह कभी रागरूप बन जाय। जो मेरा सहजस्वरूप है वह स्वरूप रागद्वेषादिक रूप भी नहीं बनता। भले ही कर्मविपाक है, रागादिक परिणमन होता है, लेकिन जिसको उसने स्वीकार किया है वह मैं रागादिक विकारोंसे रहित हूं। कैसा अन्तः प्रवेश करके स्वभावका हस्तावलम्बन किया है। तो उसके इस निर्णयके कारण अकल्याण कुछ हो ही नहीं सकता। जो पदार्थ जिस स्वरूप है वह पदार्थ उस स्वरूपसे विपरीत हो ही नहीं सकता है, ऐसा निश्चय करने वाले जीवको भय किस कारणसे होगा ? यों इस सम्यग्दृष्टि जीवको जिसे इह-लोकका भय न था वह जानता था कि यह मैं पूरा यही ज्योतिस्वरूप हूं, इसीमें मेरा सब कुछ वैभव है, इसीमें मेरा सर्वस्व है। इसको कौन छीन सकता है ? इसमें कोई प्रकारका भय नहीं है, ऐसा जानकर इहलोकभयसे मुक्त था। इसी प्रकार परलोक भी वही चैतन्यस्वरूप मात्र है। इस स्वरूपमें कहीं कोई डर नहीं है, कोई परका प्रवेश नहीं है। ऐसा जानने वाले इस तत्त्वज्ञको परलोकका भय नहीं होता।

वेदनाऽऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम् ।।५२४।।

आगन्तुक बाधा आनेसे पहिले ही कम्प होनेरूप तथा मोहसे परिवेदनरूप वेदनाभयका निर्देश—अब वेदनाभयका वर्णन करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीवको वेदनाभय भी नहीं होता। इस वर्णनसे पहिले वेदनाभयका स्वरूप बताया जा रहा है। वेदना कहते हैं वात, पित्त, कफ इन तीनोंके होनेसे शरीरमें आयी हुई वेदनाको। इनमेंसे किसी भी एकका अथवा दो का अथवा तीनोंका कोप हो जाय। अपनी साम्य अवस्था तजकर विसम अवस्थामें आ जाय तो उस समय शरीरमें बाधा आती है। जितनी भी शरीरमें वेदनायें हैं वे सब शरीरके वात, पित्त, कफ आदिकपर आधारित हैं। जैसे आजकल ब्लडप्रेशर, स्नोफीलिया आदिक अनेक रोग जो बताये गए हैं वे और क्या चीज हैं ? अरे वे भी इन तीन मलोंके कोप वाले हैं। तो ऐसे जितने भी रोग हैं वे तीनोंके कुपित होनेके आधारपर हैं। कभी कोई फोड़ा-फुंसी हो गयी तो वहाँ खूनकी गतिमें जगह हो गयी और खूनके रुक जानेसे उस स्थानमें जो अविशिष्ट खून आदिक हैं उनको जब गति न मिली, खून तो गतिके कारण ही निकलता है। यदि उसकी

गति रुद्ध हो गयी तो वहाँ फोड़ा-फुंसी हो जाती हैं। सो इन मलोंके कोपने जो शरीरमें बाधा है उसका नाम वेदना है। उस वेदनाके चिन्तन मात्रसे अथवा वेदना आयी नहीं है, ख्याल बन गया है कि ऐसा भी हो सकेगा, यह वेदना भी बढ़ सकेगी, इसके ख्याल मात्रसे जो कम्प हो जाता है, पहिले ही आत्मामें जो क्षोभ मच जाता है उसका नाम है वेदनाभय अथवा मोहसे जो रोना-चिल्लाना है वह सब वेदनाभय है। वेदना आनेपर भी वेदना ही है और वेदना आनेसे पहिले भी वेदना हो जाना वेदनाभय है।

उल्लाघोहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित्।
मूर्च्छेव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥५२५॥

वेदनाभयमें निरोग होनेका बार-बार चिन्तन—यदि रोग आया हुआ है तो ऐसा बार-बार चिन्तन करना कि मैं निरोग हो जाऊँ, इस रोगसे परे हो जाऊँ और यदि वेदना नहीं आयी है तो उसके सम्बन्धमें यों चिन्तन करता कि मेरेको वेदना नहीं आयी, इस तरह के बराबर चिन्तवनको वेदनाभय कहते है अथवा उसमें मूर्छा हो जाना इसका नाम वेदनाभय है। जिन पुराणपुरुषोंके कठिनसे कठिन वेदना भी आयी, उनको वेदनाभय नहीं आया, वे तो अपने निरोग आत्मस्वरूपमें ही मग्न रहे, उसका फल यह हुआ कि उनको मुक्तिका लाभ मिला। सनतकुमार चक्रवर्ती जैसे पुरुष जो कि रूपमें कामदेव कहलाये, पर किसी घटनासे वैराग्य जगनेके कारण निर्ग्रन्थ होनेके बाद जो उनको कुष्ट रोग हो गया तो आप कल्पना करो कि जिसने पहिले चक्रीका रूप देखा हो, ऐसा प्यारा रूप, ऐसा मनोज्ञमूर्ति जो सबको प्रिय हो और कुष्टवेदनासे व्यथित हो जाय तो कठिनसे कठिन हृदय भी रो पड़ेगा। ऐसी कठिन वेदना के बीच भी जिन्होंने रंच भी कष्ट नहीं माना, उनको बात कौनसी मिला गई थी? उनको मिला था वेदनारहित शुद्ध आत्मतत्त्वका चिन्तवन, दर्शन। इस ही अनोखी चीजके पा लेनेके कारण उन्होंने रंच भी भय नहीं माना, रंच भी वेदनाका अनुभव नहीं किया। वस्तुतः तो वेदना नाम है जाननेका। वेदना हो रही अर्थात् शरीरमें जो कुछ भी हो रहा है उसकी जानकारी चल रही है। लेकिन जिस जानकारीसे लोगोंकी संख्या अधिक हो उसके अनुसार उस जानकारीका स्वरूप बन जाता है। तो जानकारी केवल रखने वाले तो विरले थे और उनमें अनुभव करना, विकास होना, दुःखी होना, उस तरहसे जानना, ऐसी जानकारीके लोग ये अनगिनते हैं। तब इस जानकारी शब्दमें तो वेदना शब्दका पूरा रूप हो गया। वहाँ सनतकुमार चक्रीकी एक देव परीक्षा करने आया। मानो वही देव हो जिसने पहिले रूपकी परीक्षा की हो। एक बार वह देव सनतकुमारको देखने गया था, उस समयका उनका सौन्दर्य एक अनोखा ही था, पर दूसरी बार जब वह देव गया तो उस समय राजदरबारमें खूब सज-धजकर वह बैठे हुए थे, उस समय वह देव माथा ठोककर कहता है—हाय, इनमें अब वह रूप

नहीं रहा जो पहिले था। उस देवने उस समय भी उन सनतकुमारकी परीक्षा की, जब कि वह दिगम्बर मुद्रामें थे और कुष्टके रोगसे पीड़ित थे। एक वैद्यका रूप रखकर वह देव पहुंचा और बोला कि मेरे पास हर रोगकी पेटेन्ट दवायें हैं तो वहाँपर भी उन सनतकुमार मुनिराज ने अपने इस शारीरिक रोग (कुष्ट रोग) की दवा नहीं माँगी, किन्तु कहा कि हमारे जो जन्म मरणका भयंकर रोग लगा हुआ है उसकी दवा यदि आप दे सकें तो दें। तो देखिये—उन मुनिराजकी दृष्टि इन शारीरिक वेदनाओंपर रंच मात्र भी न थी। उन्होंने तो अपने आत्मस्वरूपका ऐसा अनोखा वैभव पाया था कि जिससे वे पूर्ण तृप्त थे। तो यह वेदनाभय इस ज्ञानी जीवके नहीं होता। कारण उसका यही है कि उसे कोई ऐसी अलौकिक ऋद्धि मिल चुकी है कि जिससे उसकी दृष्टि इन शारीरिक वेदनाओंकी ओर रहती ही नहीं है। पर जो मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी जन होते हैं वे तो इन शारीरिक वेदनाओंसे सदा भयभीत रहा करते हैं।

अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः।
नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित् ॥५२६॥

दृष्टिदोषके कारण मिथ्यादृष्टिके वेदनाभयका स्वामित्व—मिथ्यादृष्टि जीवको दृष्टिदोष होता, उस दृष्टिदोषरूप एक हेतुके कारण उसके नियमसे वेदनाभय होता है। शरीरमें कहीं कोई फोड़ा-फुंसी हो गया या कुछ भी छोटा मोटा रोग हो गया तो वह सदा इस बातके लिए चिन्तित बना रहता है कि कहीं मेरा यह रोग बढ़ न जाय, यदि बढ़ गया तो फिर मेरा क्या हाल होगा? अथवा बहुतसे लोग परिवारके पालन-पोषण आदिकी बात सोच-सोचकर चिन्तित रहा करते हैं। बहुतसे लोग इस शरीरको कांतिमान (सुन्दर) बनाये रखनेके लिए चिन्तित रहा करते हैं। यदि शरीरके सौन्दर्यमें जरा कमी आ गयी तो दुःखी हो जाते हैं। भला बतलाओ—इन व्यर्थकी बातोंमें चिन्तायें करनेसे इस आत्माका कुछ भी पूरा पड़ जायगा क्या? अरे ये समस्त परचीजें हैं। ये सब तो एक दिन छोड़कर ही जाना होगा, फिर क्यों व्यर्थमें इनके प्रति इतनी चिन्तायें की जायें? जरा इस बातका साहस बनाना चाहिए कि इस शरीर से अपने उपयोगको हटाकर अपने आत्मस्वरूपमें अपने उपयोगको ले जायें। यह बात मिथ्यादृष्टिके तो सम्भव नहीं है, इसी कारण उसके निरंतर वेदनाका भय बना रहता है। यह भूख भी एक वेदना है। भूखमें घबड़ा जाना और उस भूखकी शान्तिके लिए नाना तरहके चिन्तन और प्रयत्न करना, ये सब वाहियात बातें हैं। शरीरको टिकाये रखना जरूरी है, इसलिए तो भोजन करना ठीक है, पर उस भोजनके सम्बन्धमें व्यर्थके विकल्प बनाना, उससे अपने उपयोगको बिगाड़ना इससे कौनसा लाभ मिल जायगा? सम्यग्दृष्टि जीवको तो इस शरीरसे विमुक्त शुद्ध आत्मतत्त्वका दर्शन हुआ है। इस कारण उसकी अनेक समस्यायें, जिनमें अज्ञानी जन उलझे रहा करते हैं, उनके सब सहज ही सुलझ जाती हैं।

पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वा शरीरस्य नाऽमूर्तस्येति चिन्तनम् ।।५२७।।

पुद्गलसे भिन्न अमूर्त चिद्धामको आत्मसात् करने वाले ज्ञानीको भयका अनवकाश—वेदनाभयके वर्णनके प्रसंगमें इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि सम्यग्दृष्टिका चिन्तन किस प्रकार होता है ? सम्यग्दृष्टि इस तरहका चिन्तन करता है कि मैं तो एक चैतन्यमात्र हूं, चैतन्यका साधन हूं, चैतन्यस्वरूप हूं, जो कि पुद्गलसे भिन्न है, शरीर पुद्गल है, उससे भिन्न है यह चैतन्यस्वरूप । यही मेरा धाम है, ऐसे चैतन्यस्वरूप मुझ आत्माको व्याधि कहांसे हो सकती है ? वह तो अमूर्त है । अमूर्त आत्मामें ज्योतिस्वरूप अंतस्तत्त्वमें व्याधिका क्या प्रसंग है, ऐसा उसके दृढ़ निर्णय पड़ा हुआ है, इस कारण व्याधिसे उसे भय नहीं होता । यह सब प्रताप है निज शुद्ध अन्तस्तत्त्वको आत्मारूप मान लेनेका, यह ही मैं हूं इस ओर दृष्टि देता है, उसे ही व्याधिका भय नहीं रहता । जितनी व्याधियां हैं वे सब शरीरको हुआ करती है, मुझ अमूर्त आत्माके व्याधियाँ नहीं हैं । इस तरह सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपके विषयमें चिन्तन रख रहा है । उक्त श्लोकमें वेदनाभयका स्वामी मिथ्यादृष्टिको कहा था । सम्यग्दृष्टिके भय नहीं है, इसका कारण है कि उसके यह निर्णय है कि इस मुझ आत्मस्वरूपमें किसी प्रकारकी कोई व्याधियाँ ही नहीं हैं । इस कारण उसे बाहरी व्याधियोंसे भय नहीं होता ।

यथा प्रज्वलितो वन्हिः कुटीरं दहति स्फुटम् ।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात् ।।५२८।।

अग्निसे आकाश न जलनेकी तरह वेदनासे आत्माके दहनके अभावका चिन्तन—जैसे घरमें आग लग जाय, वह घर तृण, काठ आदिसे बनी हुई कुटीके रूपमें हो तो कुटीर जल रहा है और उस कुटीरकी जगहमें जो आकाशस्थल है वह नहीं जला करता है । तो जैसे बहुत जोरसे लगी हुई अग्नि मकानको ही जला रही है, पर मकानके आकारमें जो आकाश है उसको नहीं जला सकती । यह बात तो प्रसिद्ध है ना । तो इसी तरह जो रूप, रस, गंध, स्पर्श, खून, हाड़, मांसमय देह है, इसमें अनेक रोग आ जायें और उन रोग व्याधियोंसे यह शरीर जल जाय, लेकिन जो अमूर्त आत्मा है वह तो इन व्याधियोंसे नहीं जल सकता अर्थात् व्याधियोंका असर इस अमूर्त आत्मामें नहीं होता । जिसको भी असर होता है उसको अपने अज्ञान से होता है । तो उसमें भी कल्पनामें माना कि मेरेको अमुक रोग हुआ है, हुआ है शरीरमें रोग । हाँ यह बात अवश्य है कि उस प्रकारके रोग तब हो जाते हैं जब कि आत्मा शरीरमें हो । तो इतना निमित्तनैमित्तिक भाव समझ लीजिए, पर वस्तुतः रोग आत्मामें नहीं होता, वह तो शरीरमें ही होता है । और यह अज्ञान जिसका मिट गया कि मैं देह हूं उनको स्पष्ट उन व्याधियोंकी ओरसे कोई भय नहीं होता । उनका तो यह निरखना हो रहा है कि देह

में ये सब व्याधियाँ हो रही हैं, इस मुझ अमूर्त आत्मामें ये कोई बाधायें नहीं हैं।

स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु ।
नादरो यस्य सोस्त्यर्थान्निर्भीको वेदनाभयात् ।।५२९।।

विषयोंमें आदर न रखने वाले ज्ञानीके भयकी असंभवता—भयका कारण क्या है यह, और इस भय कारणके न होनेसे सम्यग्दृष्टिके निर्भयता होती है। इसका वर्णन इस श्लोक में किया है। जो वर्तमानमें प्राप्त विषय है, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र सम्बन्धी जो भी विषय प्राप्त हैं या भविष्यकालमें जो ये विषय मिलने वाले हैं उनमें जिनको आदर नही है वे तो निर्भीक्त रह सकते हैं, और जिनके विषयोंमें इच्छा लगी हुई हैं उनमें निर्भीकता नहीं आ सकती है, क्योंकि उन्हें है इन इन्द्रियविषयोंकी अभिलाषा। तो अभिलाषाका अर्थ रहा कि यह साधन मिलना चाहिए तो इस ओर लग गई इस अज्ञानीकी धुन, पर अब उसमें दिख रही हैं बाधायें इन्द्रिय विषयोंमें साक्षात् अथवा निमित्त परम्परासे दिख रही हैं बाधायें, तो उन बाधाओंमें यह जीव भय मानता है। कहीं ऐसा नहीं होता कि ये विषय तो न आयें, इस तरह जिनको विषयोंमें ही इच्छा है उनको ही तो भय है और जिनके विषयोंमें इच्छा नहीं है ऐसे सम्यग्दृष्टियोंको भय भी क्या है? देखिये—विषय उपभोग और शरीरवेदना ये दो एक प्रतिपक्षी जैसी चीजें हैं शरीरके लिए। कहाँ तो शरीरका पुष्ट करना, शरीरको सुहावने की बात जोड़ना, यह तो हुआ शरीरभोग और किसी शरीरमें व्याधियाँ होना, तो जिस पुरुष को शरीरभोगोंसे प्रीति है उसको शरीरव्याधिसे डर है, जिसको शरीरभोगोंसे ही प्रीति नहीं रही तो उसे व्याधियोंसे क्या डर रहा? अथवा सामान्यतया भय तब कहलाता है कि जब भोगोंकी अभिलाषा हो। जब भोगोकी अभिलाषा न रही तो फिर सम्यग्दृष्टि जीवको भय किस बातका?

व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नाऽसिद्धोऽनादरो मनाक् ।
बाधाहेतोः स्वतस्तेषामाभयस्याविशेषतः ।।५३०।।

इन्द्रियविषयोंकी बाधाहेतुता व व्याधिस्थानीयता—इस श्लोकमें बता रहे हैं कि व्याधियाँ तो जीवके लिए खास तो इन्द्रियके विषय हैं। इन्द्रिय द्वारा बाह्य पदार्थोंके भोगनेकी जो भीतर अभिलाषा बसी है आत्मामें रोग तो यह लगा है, जैसे नाड़ी पकड़कर वैद्य बताता है कि इसको यह रोग है, इसको यह कष्ट है, पित्त प्रकोप है, वायु बढ़ गया है आदिक जैसे रोग वैद्य बताता है वैसे ही आत्माकी नाड़ी पकड़कर अर्थात् आत्माकी स्वाभाविक और वैभाविक पर्यायोंकी परीक्षा करते हुए यह बताया जायगा कि आत्मामें लोग स्पर्शनइन्द्रियके विषयों की इच्छा रखे हैं, उनके विषयोंके रोग लगे हैं आदिक विपयकपायोंके रोगोंकी बात आत्मामें सही है, पर व्याधियोंकी बात तो शरीरके अन्दर है, तो व्याधियां जैसे शरीरमें हैं और व्याधि

को रोग कहते है सो उन व्याधियोंके स्थानपर आत्मामें है इन्द्रियविषय, तो इन्द्रियविषय ही वास्तवमें रोग है, ये बाधाके कारण हैं अन्यथा कैसा सहज परम आनन्दधाम है यह आत्मा जिसको किसी भी प्रकारकी कोई अड़चन न रहे, ऐसे आनन्दधाम आत्माकी बाधा कितनी विचित्र हो रही है कि हम उस आनन्दको निरख भी नहीं सकते, चख भी नहीं सकते। यद्यपि ये सारे प्रसंग, बाह्य उपयोग ये सब असार हैं, इनमें रंचमात्र भी सार नहीं है। पर कैसी कठिन वेदना है भीतर आत्माकी वेदनामें कैसी पीड़ा उत्पन्न होती है, आत्मामें विषय कषायोंकी कि उस पीड़ाके कारण वह अपने आनन्दधाममें स्थित नहीं हो सकता तो जानना चाहिए कि व्याधि तो आत्मामें है। तो इन्द्रियके विषयोंकी अभिलाषा और इसीके कारण होने वाले अन्य जीवोंसे रागद्वेष तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें, वास्तवमें इस जीवको ये रोग लगे हुए हैं, और जैसे शरीरमें दोष बताये जाते हैं कि वातका प्रकोप हो गया, पित्त, कफका प्रकोप हो गया, उनमें दो दोष प्रकुपित हो गए अथवा तीन दोष प्रकुपित हो गए, और नाम रखा सन्निपात। तो यहाँ देखो—इन औदयिक भावोंमें एक-एक भाव करके बतायें, तो अलग-अलग रूप हुये और दो-दो करके बतायें, तीन-तीन करके बतायें तो ये सन्निपात हो गए। जैसे शरीरमें सन्निपातके रोग है, ऐसे ही आत्मामें सन्निपातके रोग हो रहे हैं। ऐसा रोग जो एक मात्र औषधिसे दूर होता है। रोग हैं अनेक, पर इनकी दवा है एक। शरीर व्याधियोंमें रोग अनेक हैं तो दवायें भी अनेक हैं, लेकिन यहाँ तो दवा है एक और वह एक दवा क्या है कि अपना जो सहज स्वभाव है, ज्योतिःस्वरूप है याने कुछ मेहनत न करे, श्रम न करे, विकल्प न करे, झगड़ा न करे, उपयोग बाहर न भ्रमाये, सहज ही अपने आप जो मेरेमें हो सो हो, इस तरहके आग्रहसे जो अपने अन्तस्तत्त्वका आश्रय करे तो वह एक दवा है, इन समस्त रोगोंको दूर करनेकी। जो क्रोध, मान, माया, लोभके सन्निपातोंसे एक बहुत बड़ी विषम स्थिति बन रही है, वह सब एक इस चैतन्यस्वभावके आश्रयके अमृतपानसे दूर हो जाती है। तो व्याधिके स्थान ये विषयकषायोंके रोग हैं, इनमें सम्यग्दृष्टि जीवके आदर नहीं रहता, इस कारण सम्यग्दृष्टि जीव निर्भय रहता है।

> अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत्।
> नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमताऽऽत्मनः ॥५३१॥

अत्राणभयका स्वरूप—अब अत्राणभयका स्वरूप बता रहे हैं। त्राण मायने रक्षा, और अत्राण मायने अरक्षा। इसका सीधा अर्थ यह है कि अपनी रक्षा नहीं है, इस अरक्षाके कारण। इस अरक्षाका विकल्प करके जो भय बना रहता है उसका नाम है अरक्षाभय। इसको पहिले दार्शनिक दृष्टिसे कह रहे हैं। अरक्षाभय तो तब होता है कि मेरी रक्षा नहीं है। अच्छा, नहीं है रक्षा तो नाश हो जायगा मेरा। तो अपने नाशकी सम्भावना जिसमें

गर्भित है ऐसा अत्राणका भय करना सो अत्राणभय है। जैसे क्षणिकवादियोंके यहाँ माना गया है कि चित्त क्षण याने एक एक क्षणमें चित्त क्षण होते हैं। तो जिस क्षणमें चित्त हो वह दूसरे क्षण भी नहीं प्राप्त हो सकता। तो बहुत डरे, निरन्तर डरे। अरे तो क्षणिकवादी डरें, यहाँ डरनेका क्या काम? तो क्षणिक एकान्तमें चित्तक्षण आदिक जैसे अत्राणी हुए हैं, तुरन्त नष्ट हुए हैं, उनके वचनोंमें कोई सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि उनका वह सिद्धान्त ही इस तरहका है कि वही क्षण आत्मलाभका है और वही आत्मनाशका है। दूसरे क्षण आत्मा ठहरता ही नहीं है ऐसा क्षणिक एकान्तसे वहाँ सम्मत क्यों हुआ? उन्हें यह डर लगा कि अगर यह क्षण, यह चित्त दूसरे समय ठहर जायगा तो यह दूसरे समय ठहरना कौन रखेगा? तीसरे चौथे समय नहीं ठहरा, इसपर किसका बल चलेगा? फिर तो अनन्तकाल तक नित्य एकसा ही रहना पड़ेगा। इसलिए दूसरे क्षण भी नहीं ठहरा। इसलिए दो क्षणिक एकान्त पक्षमें जैसे चित्तक्षण अत्राण है, इसी तरह यहाँ लौकिक जन भी अपने आपको क्षणिकसा देखकर यह पर्याय नष्ट हो रही है, यह पर्याय नष्ट हो जायगी तो मूल कुछ न रहेगा। जैसे क्षणिक एकान्तमें यह बात आयी कि उस क्षणका वह चित्तक्षण, वह आत्मा नष्ट हो गया तो अब उसका मूल कुछ न रहा। उसका कोई अंश रहा ही नहीं है। तो जैसे क्षणिक एकान्तमें चित्तक्षणके व्यतीत होनेपर समूल नाश माना गया है तो यहाँ भी लौकिक जन पर्यायोंके नाश होनेपर अपना समूल नाश मान बैठते हैं, इस कारण इनके अत्राणभय कहलाता है। हो क्या रहा है यहाँ कि आयु धीरे-धीरे खिर रही है। तो आयुके अंशोंका ही तो नाश हो रहा है। उस अंशनाशको देखकर इसको यह भय हो गया कि मेरी कोई रक्षा करने वाला ही नहीं है। किसी दिन तो मेरा पूर्ण नाश हो जायगा। मरणभयमें और अरक्षाभयमें क्या अन्तर है? मरणभयमें तो एक उस मरणको ही लक्ष्यमें लेकर भय कर रहा है और यहाँ अरक्षा है उसका यहाँ नाश हो रहा है, यह खिर रही है। नाश हो रहा है, इसपर लक्ष्य दे करके उसको विनाशका भय लगा हुआ है। तो इसके लक्ष्यमें है अंशनाश और मरणभयमें है सर्वनाश तो यहाँ जो अंशनाश दिख रहा है तो उससे यह अपनेको रक्षित भी नहीं कर सकता। अंशनाश तो होगा ही। जैसे छिद्र वाली अंजुलीमें जल हैं तो वह जल बूंद-बूंद करके खिनेगा ही, इसी तरह जब अंशनाश हो रहा है तो वह तो होगा ही। जो-जो अंश दूर हो रहा है उसको यह रक्षा करनेमें भी समर्थ नहीं है यह मिथ्यादृष्टि जीव। उससे निरन्तर भय और बनाये हुए है। इस तरह जीवोंको अत्राण भय निरन्तर सताये जा रहा है, परसम्यग्दृष्टि जीवको अत्राणभय नहीं रहता है, इसका वर्णन स्वयं आगेके श्लोकमें करेंगे। अब यह दिख रहा है कि अत्राणभयके सम्बंधमें अज्ञानी जीवोंके क्या विचार रहते हैं जिससे कि वह निरन्तर भयशील रहता है।

भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोन्वयात् ।
मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ।।५२२।।

मिथ्यादृष्टिकी पर्यायनाशमें आत्मविनाशमान्यता—यह अज्ञानी जीव देख तो रहा है कि यह शरीर तो क्षीण होता जा रहा है, यह परख तो रहा ही है कि लोग अचानक मरणको प्राप्त हो जाते हैं तो इस तरहके निरखनेसे इस जीवको अन्तर्वेदना होती है । इसे यह भ्रम हो गया है कि ऐसे इस अंशनाशसे तो मेरे इस अंशका नाश ही हो जायगा । मेरा सर्वस्व नाश हो जायगा । तो मिथ्यादृष्टि यों समझ रहा है कि यह धीरे-धीरे आत्माकी पर्यायोंका जो नाश हो रहा है उससे तो मेरा कभी पूरा ही नाश हो जाता है । तो इसको पर्यायके नाशसे इस पर्यायवानके ही नाशका डर लग गया है । जैसे संतानके नाशका भी भय हो गया है ऐसा भय मिथ्यादृष्टिको पहिलेसे ही होता है । नाश हो गया, जब होगा तब होगा । आत्माका नाश तो होता नहीं । यह एक भ्रम लग गया है कि पर्याय नष्ट होनेसे आत्मा नष्ट हो जायगा । और जिस किसी भी कल्पनासे आत्माका नाश माना है तो वह भी जब होगा तब, लेकिन यह भय कर रहा है अभीसे । भय होता है विपत्ति आनेसे पहिले और विपत्ति आनेपर भय नहीं रहता । अगर विपत्ति सामने आनेपर भी भय है तो किसी दूसरी विपत्तिका ख्याल रख करके भय है । उस समय तो वह उसके मुकाबलेमें जुट जाता है । भय पहिले ही हुआ करता है । तो अंशनाश देख करके अंशनाशका भ्रम करना, यह भय इसने पहिले ही बना रखा है । यों मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यात्वकर्मके उदयके कारण ऐसा भय बना रहता है । इस सम्यग्दृष्टिको यह भय नहीं रहता ।

शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयात् ।
तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोस्त्यत्राणसाध्वसात् ।।५२३।।

यथार्थस्वरूपकी अमान्यताके कारण मिथ्यादृष्टिकी सदा भयशीलता—अब इस श्लोक में यह बता रहे हैं कि वास्तविकता तो यह है पर्यायका नाश होनेपर भी आत्मसत्ताकी शृंखला तो बनी ही रहेगी और यों अपने आपकी उस सत्त्वमें दृष्टि करना शरण है, लेकिन मूर्ख मिथ्यादृष्टि ऐसा तो नहीं मान रहा है, इस कारण आत्मरक्षा कैसे हो ? इस भयसे वह सदा दुःखी रहता है । आत्माकी ध्रुवताका जिन्हें भान नहीं है वे अपनेको अध्रुव, अरक्षित जानकर निरन्तर भयशील होते हैं । अब इस अन्तर्भयमें और कदाचित् बाहरी प्रसंगोंके कारण होने वाले भयमें कितना महान अन्तर है ? यह भय सम्यग्दृष्टिके नहीं होता । यद्यपि भय संज्ञा अष्टम गुणस्थान तक है और भयरूप प्रवृत्ति व्यवहार भी छठे गुणस्थान तक हो रहा है । जहाँ इसके प्रमाद है, लेकिन यह भय एक मूल भय है, बाह्य भय है, कर्मविपाकवश होने वाला तात्विक अंश है । इसमें सम्यग्दृष्टि जीवको भीतरमें शल्य नहीं होता है कि मैं ही नष्ट

हो जाऊँगा। एक थोड़ी सुविधा या कुछ धर्मसाधनासे सम्बंधित बातमें बाधा आदिकका भले ही भय हो जाय, लेकिन मैं ही नष्ट हो जाऊँगा, इस प्रकारकी शङ्का सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होती है, अतएव सम्यग्दृष्टि निःशंक है, पर मिथ्यादृष्टिको आत्मसत्ताका भान न होनेसे वह निरन्तर भयशील बना रहता है।

सद्दृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणं नष्टे चिदात्मनि।
पश्यन्नष्टमिवात्मानं निर्भयोऽत्राणभीतितः ।।५३४।।

पर्यायापेक्षया नाश समझने वाले ध्रुवचिदात्मज्ञ ज्ञानीके भयका अभाव—मिथ्यादृष्टि जीवने पर्यायके नाशसे अपना नाश समझकर अपनेको अत्राण भयसे भीर बना लिया था, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव जो आत्माको पर्यायदृष्टिसे नष्ट होना मान रहा है अर्थात् आत्मामें पर्याय रूपमें न रहना, पर्यायका विध्वंस मान रहा है, फिर भी वह अत्राणभयसे लिप्त नहीं है, वह निर्भीक है अर्थात् आत्माको नाश होना देखकर भी पर्यायतः वह जान रहा है कि अब यह नहीं रहा, तिसपर भी उससे डरता है। जिसको पर्यायमें आत्मबुद्धि नहीं है वह पर्यायके नष्ट होनेपर भी अपनेको नष्ट हुआ नहीं मान पाता। इसी कारण वह निर्भीक रहता है। अत्राणकी भी बात सुनो। अत्राणका अर्थ है अरक्षा, मेरी रक्षा न होना। तो जब मैं सत् हूं, स्वरूपतः सत् हूं तो मैं अरक्षित हूं कहाँ? क्या कोई सत् कभी असत् बन सकता है? जो बात है वह मूलतः कैसे हो जाय? कुछ द्रव्य ऐसे मालूम होते है जैसे कपूर आदिक। लोग कहते हैं कि कपूर उड़ गया, नष्ट हो गया तो कहाँ नष्ट हो गया? उसके छोटे-छोटे स्कंध सब यहाँ-वहां बिखर गए। उनका मूलतः नाश नहीं हो सकता। मैं आत्मा सत् हूं तो सत् ही हूं। इसका नाश कैसे हो सकता है? तब इसकी अरक्षा है कहाँ? कौन इसको बिगाड़ सकेगा? आत्मा को बिगाड़ने वाला यह स्वयं आत्मा है। अपना शुद्ध सहज चैतन्यस्वभाव आलम्बनमें नहीं रह पाता है और इससे चिगकर जब बाहरमें दृष्टि लगाता है तो इसको बाहरमें सारी आपत्तियाँ नजर आती हैं, और उनको आत्मसात् कर लेता है। वस्तुतः न बाहरसे कोई मेरी रक्षा कर सकता है, ऐसा उसे अपने द्रव्यस्वरूपमें आत्मत्वका परिचय है, इस कारण वह निडर रहता है। सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवने उस ज्ञानसामान्य सहज भावको 'यह मैं हूं' ऐसा मान लेता है। इस कारण उसको डरका प्रसंग नहीं है।

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः।
नाऽत्राणमंशतोप्यत्र कुतस्तद्धि महात्मनः ।।५३५।।

आत्माकी अत्राणरहितताका वर्णन—स्वरूप भी ऐसा है कि द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे रंचमात्र भी अत्राण नहीं है अर्थात् नाश नहीं होता। न इसकी गुण पर्यायमें से कोई मिट जायगा। सदा वे शक्तियाँ हैं, सदा उनका परिणमन है। न क्षेत्रसे यहाँ कोई बिगाड़

आ जायगा कि प्रदेश न रहे, न कालका कोई बिगाड़ आता है। कोई परिणति बिगाड़ ले, और न गुणोंमें भावमें कोई बिगाड़ आता है। आत्मा जो बिगाड़ करता है सो अपने भाव बिगाड़कर करता है, वही उसके कालका बिगाड़ है। और चूँकि गुणपर्यायात्मक ही तो आत्मा है तो पर्यायोंका बिगाड़ है सो ही प्रदेशोंका बिगाड़ है, और यही द्रव्यका बिगाड़ है। तो जो कुछ इसमें बिगाड़ हुआ है वह अपने आपके भावों द्वारा हुआ है। किसी अन्य पदार्थके द्वारा त्रिकाल भी बिगाड़ नहीं हो सकता। भले ही बिगाड़में कर्मप्रकृतिका उदय निमित्त है और ऐसा निमित्त है कि अन्वयव्यतिरेकका प्रबल सम्बन्ध भी बना हुआ है, इतनेपर भी कर्म का और जीवमें अत्यन्ताभाव है। अर्थात् एक दूसरा स्वरूप त्रिकाल भी नहीं हो सकता है। तब कर्मने यहाँ कुछ बिगाड़ नहीं किया, किन्तु कर्मोदयके समय यह जीव खुद ही स्वरूपसे चिगता हुआ अपना बिगाड़ कर लेता है। जैसे कोई बालक २० हाथ दूर खड़ा हुआ किसी दूसरे बालकको चिढ़ा रहा है तो वह दूसरा बालक चिढ़ रहा है, नाराज हो रहा है, दुःखी हो रहा है। तो कहीं उस चिढ़ाने वाले बालकके कारण नहीं हो रहा है, किन्तु यह स्वयं ही अपने में अर्थ लगा-लगाकर दुःखी हो रहा है। मुझे उसने यों कह दिया। अपने आपमें अपनी कल्पनासे वह दुःखी होता है। तो इस आत्माका अत्राणभयका कोई अवसर नहीं, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपमें चिन्तन रखता है। इस तरह विवक्षित अंगके सप्तभय रहितताके प्रकरणमें अत्राणभयका वर्णन किया गया।

दृङ्मोहस्योदयाद्बुद्धिः यस्यचैकान्तवादिनी।
तस्यैवागुप्ति भीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥५३६॥

दर्शनमोहके उदयसे एकान्तवादिनी बुद्धिके स्वामीके अगुप्तिभयका कथन—दर्शनमोहनीयके उदय जिवकी बुद्धि एकान्तकी ओर झुक गई है उसीके अगुप्तिभय होता है। अगुप्तिभय का अर्थ है कि उसकी रक्षाके प्रबल साधन नही हैं। किला आदिक ऐसे रक्षाके साधन न निरख करके जो निरन्तर भयभीत होता है—क्या होगा ? कोई शत्रु आक्रमण कर देगा ? आदिक जो भीतर भयके भाव हैं उसे अगुप्तिभय कहते हैं। राजाका किला मजबूत नहीं है उसका भय है तो गृहस्थोंको घर भी मजबूत नहीं हैं उसका भय है और लोग जो कुछ भी अपनी रक्षाका साधन समझा हो उसमें कमी हो तो उसके भय नहीं है। इस तरह रक्षाके साधनके न होनेसे जो अन्तःभय होता है उसे अगुप्तिभय कहते हैं। तो मिथ्यादृष्टि जीवके अगुप्तिभय बना हुआ है, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवके दर्शनमोहका उदय न होनेसे अगुप्तिभय नहीं रहता। कल्याणके लिए बड़े साहसके साथ ऐसे अन्तरमें उतरना होता है कि जहाँ यही मात्र अनुभवमें रहे कि मेरी रक्षाका साधन भी मैं ही हूँ। मैं स्वयं रक्षित हूं, क्योंकि बाहरमें कुछ भी विडम्बना होनेपर इसमें बाहरसे कोई क्षति नहीं हो पाती। मैं तो अपने स्वरूपके किलेमें

बसा हुआ हूं। यहां किसी बाह्यका आक्रमण सम्भव ही नहीं है, ऐसा अपने आपको बड़ा गुप्त देखता है, स्वरक्षित देखता है। मेरी रक्षाका साधन मेरा यह स्वरूप सत्त्व ही है। मेरे स्वरूप सत्त्वके कारण इस दृढ किलेमें मैं बस रहा हूं तो किसी भी शत्रुका क्या आक्रमण होगा ? ऐसे अपने आपको बड़े दृढ़तम विशुद्ध स्वरूपको निरखना है।

असज्जन्म सतोनाशं मन्यमानस्य देहिनः।
कोवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात् ॥५३७॥

असदुत्पाद व सद्विनाश मानने वालेके अगुप्तिभयसे छुटकाराकी असंभवता—जो प्राणी असत् पदार्थोंकी उत्पत्ति मानता है और सत् पदार्थोंका विनाश मानता है और फिर अगुप्ति भयसे छूटना चाहता है तो ऐसा पुरुष अगुप्तिभयसे कैसे मुक्त हो सकता है ? इन दोनों ही बातोंमें अगुप्ति भय बना हुआ है। जिन लोगोंने माना है कि असत् पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं तो मुझमें जो बात सम्भव नहीं है, असत् है वह भी बात यदि हो तो उसके अस्त्वित्वको तो सदा खतरा ही है और सत् पदार्थका यदि नाश माना जाता है तो यह मैं सत् हूं, और उसका भी नाश हो गया तो इसमें मेरा अस्तित्व ही न रहेगा। हाँ यदि ऐसा सोचले कोई कि मैं बिलकुल हूं ही नही, असत् हो जाऊँ तो यदि कोई विवेकी है तो इसमें तो वह प्रसन्नता अनुभव करेगा। मैं कुछ भी न रहा, फिर विडम्बना किसको, सुख, दुःख, कर्म बन्धन आदिक सारी बातें किसको ? किन्तु ऐसा कैसे हो सकता कि मैं कुछ भी न होऊँ। जो सत् है उसका कभी नाश ही नहीं होता। मैं हूं और अनन्तकाल तक रहूंगा तो अब मुझे किस स्थितिमें रहना चाहिए कि जिससे मेरेको समता हो, शान्ति हो, आनन्द हो, शुद्धता बढ़े ऐसी स्थिति बनाना चाहिए, यह तो विवेक करना ही होगा। जितने प्रसंग आते हैं कोई बाह्य वातावरणके तो उन प्रसंगोंमें कौन जूझ कर सकता ? ज्ञानी पुरुषकी यह वृत्ति होती है कि प्रयोजनवश या थोड़ा वेगवश कुछ भी बात बन जाय तो वह चिरकाल तक उसमें बुद्धियों को नहीं फंसाता। बहुत ही शीघ्र उस विकल्पबुद्धिसे हटकर निर्विकल्प चित्प्रकाशमें अपनेको ले जाता है। तो ऐसे इस गुप्त स्वरक्षित अन्तस्तत्त्वकी उपासना करने वाले सम्यग्दृष्टि जनोंको भय कहाँसे हो सकता है ? लेकिन जिसमें असत्की उत्पत्ति माना, सत्का विनाश माना और ऐसे ही ख्यालके प्रायः लोग हैं ही तो उनको अगुप्तिभयसे छुटकारा किसी भी प्रकार नहीं मिल पाता।

सम्यग्दृष्टिस्तु स्वरूपं गुप्तं वै वस्तुनो वदन।
निर्भयोऽगुप्तितो भीतेः भीतिहेतोरसंभवात् ॥५३८॥

गुप्त स्वरूपकी प्रतीति वाले ज्ञानीके अगुप्तिभयकी अनुपपत्ति—सम्यग्दृष्टि पुरुष तो वस्तु के स्वरूपको निश्चय रीतिसे रक्षित ही मानता है, और वह भयके कारणको असंभव ही

मानता है। प्रत्येक पदार्थ है और वह निरन्तर उत्पादव्ययध्रौव्य रूप है, यह है प्रत्येक पदार्थ का अलौकिक इतिहास। अब इस तरह जब सभी पदार्थ हैं तो वे हैं और सदा परिणमते रहेंगे। उनका विनाश किस प्रकार सम्भव है? मैं भी आत्मा हूं, हूं चैतन्यस्वरूप और अमूर्त हूं, तो चित्प्रतिभास अमूर्त यह आत्मा किसीके द्वारा प्रतिघातयुक्त नहीं हो सकता। मेरेमें कौन आघात करेगा? किस मूर्त या अमूर्त पदार्थमें सामर्थ्य है कि मेरे इस अमूर्त चित्प्रकाशमें आघात कर सके? लेकिन ऐसी अद्भुत बात है कि इस अमूर्त आत्मामें कौनसी विचित्र ऐसी तरंग है कि यह अपने आपका बड़ा आघात पहुंचाया करती है? अपने आपमें सिद्ध हो गया, अपनेको बड़े आघात वाला बना लिया। ऐसी कौनसी विलक्षण तरंग है, भीतर क्यों उठता, कैसे उठे, उसका रूपक क्या है आदि सभी बातें ऐसी विलक्षण हैं कि जिससे ये संसारी जीव परेशान है, लेकिन इस परेशानीसे घबड़ाहटकी बात बिल्कुल नहीं है। जिसने अपने आपके अमूर्त चित्प्रकाशका निर्णय किया है और दृढ़तासे कैसा ही अपने आपको ढाल चुका है, एक निर्णय बना लिया है। मेरेको तो बस यह ही जीवनमें करना है। ऐसा जिसका दृढ़तम निर्णय हो उसको प्रतिघातकी फिर सम्भावना नहीं है, ऐसे चिन्तनसे अपनेमें अपनेको दृढ़तम अनुभव करें। करने वाला यह सम्यग्दृष्टि अगुप्तिभयसे विपरीत नहीं होता।

मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवागिन्द्रियं मनः।
निःश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥५३६॥

पञ्च इन्द्रिय तीन बल, आयु व श्वासोच्छ्वास प्राणके प्रत्ययरूप मृत्युभयका निर्देश—अब मृत्युभयका स्वरूप बताया जा रहा है कि जिससे यह पहिचाना जा सकेगा कि ऐसा मृत्युभय सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होता है। प्राणोंके नाश होनेका नाम मृत्यु है। ये प्राण १० प्रकारके होते हैं—कायबल, वचनबल और मनोबल, ५ इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और आयु। इस तरह इन दस प्राणोंमें यथासम्भव प्राप्त हुए प्राणोसे यह जीव जीवित रहता है। और इन दस प्राणोंके वियोगसे मरण होता है। इन दस प्राणोंमें जो इन्द्रियप्राण कहा गया है वह भावेन्द्रियरूप प्राण है, जो द्रव्येन्द्रिय रूप प्राण है वह कायमें ही शामिल है। कायबलके साथ उनका सम्बन्ध है, और वह यहाँ मुख्य नहीं माना गया। तो ५ इन्द्रिय भावप्राण हैं। तब ही तो सयोगकेवलीमें ५ इन्द्रियप्राण नहीं होते। कायबल, वचनबल, मनोबल, इनमेंसे भी मनोबलका सम्बंध भावमनके साथ है। तब ही मनोबल भी सयोगकेवली भगवानके नहीं होता। द्रव्यमन यद्यपि है तो भी उस द्रव्यमनके कारण मनोबल नहीं बताया गया। कायबल, वचनबल तो स्पष्ट चीज है। जहाँ तक शरीर है, यह शरीरका बल है, कायबल है, लेकिन अयोगकेवली अवस्थामें भय होनेपर भी कायबल नहीं है। क्या है? जिससे और उन प्रकृतियोंके उदय विभागसे जिन प्रकृतियोंका नाश हो गया है उनकी अपेक्षासे यह सिद्ध होता

है कि वे प्रभु शरीरमें भले ही रह रहे है, लेकिन उस तरहसे रह रहे हैं जैसे सीसीमें पारा रखा हुआ हो। जो लघु अन्तर्मुहूर्तमें ही इस शरीरको त्यागकर मुक्त होंगे और सदाके लिए अशरीर रहेंगे तो ऐसा होनेके लिए जो निकट पहिली स्थिति होनी चाहिए वह एक अद्भुत स्थिति होती है। जैसे कोई अफसर कहींसे चार्ज ले रहा है तो उस समयकी स्थिति कैसी विचित्र होती है ? जो चार्ज ले रहा है अधिकार तो अभी उसका है। लेकिन जो चार्ज ले रहा है उसका जो आकर्षण रहता है कर्मचारियोंका, लोगोंका और उस समयमें उसके विलगाव और नये अफसरका लगाव—इन दोनोंका जो एक प्रकारका घटना संघर्ष है वह एक विचित्र होता है। तो जहाँ संसारका तो सदाके लिए विनाश होता है और मोक्षका जहांसे अब प्रारम्भ हो रहा है सर्वथामोक्ष, उस समयकी घटना, उस समयका प्रभाव आत्मापर कैसे पड़ता है ? सो अयोगकेवलीके किन-किन प्रकृतियोंका उदय नहीं है, किनका सत्त्व नहीं है, इसपर दृष्टि देनेसे एक चित्रण आ जाता है। तो १० प्राणोंमें से संसारअवस्थामें तो ये इन्द्रियप्राण कभी छूटते नही। जब तक यह जीव छद्मस्थ है तब तक इन्द्रियप्राणोंका वियोग नहीं होता। शरीर नष्ट हो गया, विग्रहगतिमें है तब भी इन्द्रियप्राण लिए है, और कायबल भी नष्ट नहीं होता, वचनबल अपर्याप्त अवस्थामें ही होता, मनोबल भी पर्याप्त होता, श्वासोच्छ्वास आयु भी सदा लगा रहता है तो इन १० प्राणोंका वियोग हो जाय उसका नाम मरण बताया गया है। इन प्राणोंका सम्बन्ध करके मिथ्यादृष्टि जीव किस तरहसे भय मानता है, ऐसा बतला रहे हैं।

तद्भीतिर्जीवितं भूयान्माभून्मे मरणं क्वचित्।
कदा लेभे न वा दैवात् इत्याधिः स्वे तनुव्यये ।।५४०।।

मृत्युभयमें "मेरी जिन्दगी रहे, कभी मरण न हो" इत्यादि आधियोंकी पीड़ा— मिथ्यादृष्टि जीवके मरणभयके सम्बन्धमें ऐसा चिन्तन चलता रहता है कि मैं जीता रहूं, मेरा कभी मरण न हो अथवा देवयोगसे कभी मैं मर न जाऊँ, यह पीड़ा मिथ्यादृष्टि जीवके निरन्तर बनी रहती है। सब भयोंमें मरणभय बड़ा भय माना गया है। और जिसने मरणभयको जीत लिया उसीको अमर कह लीजिए। जो अपनेको अमर अनुभव करता हो उसीने मरणभयको जीता, यों समझियेगा। अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान जो स्वतंत्र स्वतःसिद्ध निर्बाध अप्रतिघाद, जिसमें कोई कुछ कर ही नहीं सकता, ऐसे अपने स्वरूपको 'यह मैं हूं,' ऐसा जिसने माना और इसके अलावा मेरा भी किसी दूसरेसे क्या प्रयोजन पड़ा है ? ऐसा जिसका दृढ़ निर्णय है ऐसा पुरुष ही अमर कहलाता है। उनके मरणभय नहीं होता, किन्तु जिसने इस आत्माके अमर स्वरूपको तो तका नहीं तो बाह्यमें पर्यायकी बुद्धि होनेसे जैसे इहलोकभय, परलोकभय आदिक अनेक भय लगा रखे थे उसी तरह इसने मरणभय भी लगा रखा है। मैं कभी मर न जाऊँ, सदा जिन्दा रहूं, जो बूढ़े लोग ऐसा रोज-रोज कहते हों कि हे भगवन,

मुझे उठा ले, मेरी पुकार सुन ले, (उनकी ऐसी ही श्रद्धा रहती है कि कोई भगवान है वह मुझे मारता रहता है) तो जो इस तरह पुकारते हैं उनके भी मरणभय है। अभी कोई वैसी घटना सामने आ जाय तो पता पड़ जायगा कि उसके मरणभय है कि नहीं। जैसे कोई एक बुढ़िया रोज-रोज भगवानसे प्रार्थना किया करती थी कि हे भगवान! मुझे उठा ले, मुझे इन नाती-पोतोंने बहुत हैरान कर डाला है...., अब एक दिन क्या घटना घटी कि उसके पास एक सर्प निकल आया तो वह चिल्लाने लगी, नाती-पोतोंको पुकारने लगी—अरे दौड़ो, सर्प निकल आया है, उससे मुझे बचाओ। तो वे नाती-पोते कहते हैं कि अरी दादी, तू रोज-रोज भगवान से प्रार्थना किया करती थी कि हे भगवान! मुझे उठा ले, तो आज भगवानने तेरी प्रार्थनाको सुनकर तुझे उठानेके लिए इस सर्पको भेजा है, तू क्यों डरती है?....तो देखिये—कोई कितना ही कहे कि मेरा मरण हो जाय, पर ये कोई जीव (तिर्यञ्च, मनुष्य, देव) मरणको नहीं चाहते। भले ही नारकियोंको इतना तीव्र पापका उदय है कि वे चाहते हैं कि मैं मर जाऊँ। अब अंदाज करो कि जो अन्दरसे चाहता है कि मैं मर जाऊँ उसको कितना कष्ट होता है? तो सबसे अधिक भय है मरणका, और वह मरणभय पर्यायबुद्धि मिथ्यादृष्टि जीवके निरन्तर बना रहता है। तब मृत्युभयका कौन स्वामी है? इस बातको कहते हैं—

नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम्।
अस्तस्तत्त्वैकवृत्तीनां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥५४१॥

मिथ्यादृष्टिके मृत्युभयका स्वामित्व—निश्चयसे मृत्युभय उन ही जीवोंके होता है जो तत्त्वको नहीं पहिचानते। तो मिथ्यादृष्टिके ही मरणभय होता है। क्यों मरणभय है कि अपने भीतरी निज तत्त्वको तो पहिचाना नहीं कि मैं स्वयं स्वरक्षित हूं, अमर हूं, मेरा कभी व्यय ही नहीं होता। और देखो—बाहरमें साथ ही एक बातका और ध्यान करें कि मरणभयकी उत्पत्तिमें सहायता है यह वर्तमान रागद्वेषका परिचय। जब यह समझ रहे हैं कि मेरे इतना राग है, घरके लोग हैं ऐसा सब कुछ बना रखा है, समाजमें ऐसा कर रखा है और उस समय कोई मरणका प्रसंग जैसी घटना आये तो उसे इस बातसे भी अधिक मरणभय हो जाता है कि यह सब छूट जाता है। प्राण छूटें सो छूटें, मगर यह घर भी छूटा, ये लोग भी छूटे तो यह मरणभय है और भी सहायक होता है। तो जिसे मरणभय न चाहिए। जिसे निःशंक अवस्था चाहिये अथवा आत्मतृप्ति चाहिए उनका सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि सबसे निराले चिदानन्द स्वरूप निज आत्मतत्त्वको यही मैं हूं, अन्य कुछ नहीं हूं, ऐसा स्वीकार नहीं किया। स्वीकारका अर्थ है कि स्व बनाना। 'स्वं करोति इति स्वीकारः' आत्माको स्व बना लेना, इसीको कहते हैं स्वीकार। तो आत्मतत्त्वज्ञ पुरुषके यह मरणभय निरन्तर रहता है, लेकिन जिसको आत्माके स्वरूपमें तृप्ति रहती है, जिसने आत्मस्वरूपमें अपने उपयोगको लगा रखा है,

ऐसे-ऐसे सम्यग्ज्ञानीको मृत्युभय कहाँसे हो सकता है ? सम्यग्दृष्टि जीवको मृत्युभय नही है, इसका कारण बताते है।

जीवस्य चेतना प्राणाः नूनं सात्मोपजीविनी ।
नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादितिः पश्यतः ॥५४२॥

आत्मोपजीविनी चेतनाको आत्मप्राण समझने वाले ज्ञानीके मृत्युभयका अभाव—जीवका प्राण तो चेतना है। जो वस्तुके अस्तित्वका आधारभूत हो उसे प्राण कहते हैं। जैसे अग्निका प्राण गर्मी है। यहाँ चेतनासम्बन्ध वाले प्राणकी बात नहीं कहा। यहाँ वस्तुस्वरूप वाली बात कह रहे हैं, अथवा काष्ठकी जान उसके भीतरका सार है। तो यह प्राण अगर निकल जाय तो वह चीज न रहेगी। जीवका प्राण है वास्तवमें चेतना। और वह प्राण है आत्माका उपजीवी गुण, सद्भावात्मक शाश्वत् सहजभाव। तो वह चेतना इस जीवके सदा रहती है। इसको निरखने वाले सम्यग्दृष्टि जीवके मृत्युभय कहाँसे उत्पन्न हो ? जिसने किसी भी बाह्य वस्तुमें मोह रागद्वेषका लपेट रखा हो, भय उसीको ही होगा और जो सबसे निराले अपने आपके चैतन्यस्वरूपको स्व माना जा रहा है उसे किसी भी चेतनाका भय नहीं होता। मरणभय उसके लिया गया है। मरण भी उसको ज्ञेय हो जाता। यहाँ न बैठे चलो वहाँ बैठ गए, क्या हर्ज है ? जैसे संसारमें ऐसी रिजर्वेशन सीट मिल जाय और कोई कहे कि यहाँ हम बैठे थे, आप बैठ जाइये तो वह वहाँ बड़ी खुशीसे उठकर बैठ जाता है। खुश यों हुआ कि उसकी समझमें यह था कि यहाँसे उठ गए तो दूसरेकी सीट मिली या नहीं, लेकिन जो उठने वाला है वह बता दे कि यहाँ बैठ जाओ तो वह बड़ी प्रसन्नतासे बैठ जाता है। तो जैसे आयु ने यहाँ धक्का दिया कि तुम यहाँसे उठ जाओ तो साथ ही यह बताया भी जा रहा कि तुम्हारे लिए यह सीट है। नहीं तो उलझन उसके थी कि यह तो हटा दिया और दूसरी सीट न दी, एक आयुने सीटको हटा दिया और तत्काल ही दूसरे आयुने उसे सीट दे दिया तो उसे दूसरी सीटमें बैठनेमें खेद क्यों ? सम्यग्दृष्टि जीव चेतनाको प्राण मानता है, और उनको समझता है कि सीट बदलती है। उसको मरणका भय नहीं होता है। तो आत्माके यथार्थस्वरूपको निरखनेके कारण इस सम्यग्दृष्टिको मृत्युका भय नहीं है, वह अपनी मृत्यु मानता ही नहीं है, फिर भय कहाँसे उत्पन्न हो ? इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवके ८ अङ्गोंके वर्णनमें प्रथम अङ्गके प्रसंग में जो भयोंका वर्णन चल रहा था उसमें यह मृत्युभयका प्रसंग चल रहा है।

अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् ।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥५४३॥

अकस्मात् जात भयका लक्षण—निःशंकित अङ्गके वर्णनके प्रसंगमें ७ भयोंका वर्णन चल रहा है। उसमें आकस्मिकभय नामका अन्तिम भय यह बताया जा रहा है। आकस्मिक

बिना कुछ चिह्नोंके जो अकस्मात् ही भय आता है उसे याने अकस्मात् बिना कुछ लक्षणोंके, कहते हैं आकस्मिकभय। प्रथम तो यह देखो कि आकस्मिकभयका अर्थ ही यह बतला रहा है कि नकस्मादभय, याने किसीसे भय नहीं। अर्थमें तो यह पड़ा हुआ है और जिसका रूप पड़ा हुआ है आकस्मिक। तो आकस्मिकभयका रूप अब समझिये कि जो अचानक बात आ जाती है उसे आकस्मिकभय होता है। अथवा आकस्मिकभयका यह अर्थ लगाओ कि कहाँ भय, यह निर्णय ही जहाँ नहीं पड़ा हुआ है और भय बना हुआ है। जितना भय करना चाहिए वह चीज सामने न थी, उसका कोई सम्बन्ध नहीं, प्रसंग नहीं, ऐसी कुछ भी चीज नहीं है, फिर भी भय लगा हुआ है उसे कहते हैं आकस्मिकभय। जैसे कहीं बिजली न गिर जाय। कभी देखा होगा कि आसमानमें बादल तो बहुत कम दिखते हैं, मगर बारिश हो जाती है, तो ऐसे ही किसी समय बादल तो न हों और कोई सोचे कि कहीं ऐसा न हो कि ओले पड़ जायें, तेज बारिश हो जाय,....यह है आकस्मिकभय। एक कथानक है कि एक कोई क्षत्रिय बन्दूक लिए बैठा था और उसके पास एक बनिया भी बैठा था। सो बन्दूकका कुन्दा तो था बनियाकी ओर और नली थी दूसरी ओर, पर उस समय वह बनिया कहने लगा— भाई ! तुम इस बन्दूकको अलग धर दो, तो वह क्षत्रिय बोला—अरे तुम क्यों डरते हो ? इसकी नली तो दूसरी ओरको है। तो वह कहता है कि देखो—नलीसे तो हजारों बार गोली निकलती है, पर कहीं ऐसा न हो कि एक बार इस कुन्देसे ही गोली निकल पड़े, इससे मुझे भय है। कहीं इस कुन्देमें से गोली निकल पड़ी तब तो मेरी जान चली जायगी।....तो देखिये बात कही कुछ नही है, कारण नहीं है, फिर भी भय बना हुआ है, तो यह कहलाता है आकस्मिकभय। तो बिजली आदिक गिरनेसे प्राणोंका नाश होता, ऐसी मनमें कल्पनायें करके कहीं मेरे ऊपर बिजली न गिर जाय और कहीं मेरा मरण न हो जाय, इस प्रकारके भयका नाम आकस्मिकभय है। ऐसा भय मिथ्यादृष्टि जीवोंके होता है।

भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्दौस्थ्यं कदापि मे।
इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा ॥५४४॥

मिथ्यादृष्टिके आकस्मिक भयकी पीड़ा—आकस्मिकभय कहाँ इस प्रकार होता है कि सदा मैं स्वस्थ बना रहूं। मेरेको कभी अस्वस्थता न हो, किसी समय मेरे रोग न हो जाय। दूसरे रागद्वेषको छोड़कर यह कल्पना उठ जाय कि मुझे ऐसा हो गया तो उस कल्पनाको परखकर भीतरमें भय उत्पन्न करना, ये बातें सम्यग्दृष्टिके कहाँ सम्भव हैं ? जिनको पर्याय-बुद्धि है, देहमें आत्मीयताका स्वीकार है, ऐसे जन ही आकस्मिकभयके शिकार बने हुए है। तो मिथ्यादृष्टि जीव पर्यायबुद्धि होनेसे निरन्तर आकुलित चित्त रहता है, उसके मानसिक चिन्तायें बनी रहती हैं और आकस्मिकभय होता है। यह आकस्मिकभय पूर्वमें कहे हुए ६

भयोंमें प्रविष्ट हैं । इहलोकभय, परलोकभय आदिक जितने भी बताये गए हैं, उनके साथ आकस्मिकभय भी जुड़ा हुआ है । उस ही में और विशिष्ट कल्पना हो जाती है कि कहीं ऐसा न हो बैठे । तो मैं सदा स्वस्थ रहूं, मेरेको अस्वस्थता कभी न हो । इस प्रकारकी निरन्तर मानसिक चिन्ता बनी रहना, यह आकस्मिकभय कहलाता है ।

अर्थदाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः ।
कुतो मोक्षोऽस्य तद्भीतेनिर्भीकैकपदच्युतेः ॥५४५॥

निर्भीकस्वात्मपदसे च्युत मिथ्यादृष्टिके अयमुक्तिका अभाव— आकस्मिकभय मिथ्यादृष्टि को ही होता है, क्योंकि वह निर्भय पदसे च्युत है । आत्माका अंतस्तत्त्व जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं, एक चेतना प्रकाशमय है, सद्भूत है, अनुभवमें आता है, ऐसा यह परमार्थ आत्मतत्त्व जिसकी दृष्टिमें नहीं है वह ही आकस्मिकभयसे पीड़ित होता है । यदि कोई दृढ़तासे अपने आपके परमशरण अन्तस्तत्त्वको ही ध्यानमें ले और मुझे जगतमें अन्य किसीसे प्रयोजन नहीं, ऐसे परिणामनसे जो अपने आपकी ओर झुकनेका वैशिष्ट होवे तो उसके लिए फिर क्या भय ? आकस्मिकभय तब होता है जब इस निर्भीक आत्मपदसे च्युत हो । और जो निर्भीक आत्मपदसे च्युत है उसको मुक्तिका मार्ग कैसे मिल सकता है ?

निर्भीकैकपदो जीवो स्यादनन्तोप्यनादिसात् ।
नास्ति चाकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥५४६॥

निर्भीकैकपदानुभवी सम्यग्दृष्टिके आकस्मिकभयकी अनुपपत्ति—अब अपने आपको ही देखिये—क्योंकि खुदको शान्त होना है । खुदपर खुदकी बड़ी जिम्मेदारी है । इस जगतमें कोई भी पत्नी हो, पति हो, पुत्र हो, धन वैभव आदिक हों, मित्र जन हों, ये कोई भी वास्तवमें इस जीवके लिए शरण नहीं हैं । यह जीव अपने उपयोगको सुधारे और अपने आपको एक सहज ज्योतिस्वरूप अनुभव करे, बाह्य पदार्थोंका लगाव इस तरह तोड़ दे जैसे कि अन्य अनेक पदार्थोंके लगावका ख्याल ही नहीं है । यद्यपि अन्य पदार्थोंके लगावका ख्याल तो नहीं है, लेकिन मिथ्यात्वकी वासना सबके बनी है । जिनके मिथ्यात्व है उनके सारे लोकका परिग्रह वासनामें लगा हुआ है, क्योंकि उनके मिलते जानेपर भी वे अघाते नहीं हैं । लखपति हों तो, करोड़पति हों तो, अरबपति हों तो, सम्पूर्ण राज्य मिला हो तो, तीनों लोकोंका राज्य मिला हो तो । तीनों लोकोंका राज्य मिल जाय, ऐसा तो असम्भव है, पर मान लो कदाचित् किसी को तीनों लोकोंका राज्य मिल जाय तो भी उसकी वासनामें यही बात बसी रहेगी कि अभी तो और कुछ मिलना चाहिए । जिसने एक इस सहज स्वरूपको पहिचाना है, ऐसा पुरुष ही इस अभयपदमें स्थित रह सकता है । तो यह पद अभय है, अविनाशी है, अनादिकालसे है । ऐसे इस अभयपदको जो जीव चाहते हैं उनको आकस्मिकभय कभी नहीं होता, क्योंकि ऐसा

वह जीव जो अनादिकालसे है, अनन्तकाल तक है, एक स्वरूप है; ऐसा जो ज्योतिस्वरूप है
उस जीवमें भयका क्या अवकाश है ? भय तो यहाँ हो रहा है इस पर्यायी जीवके । जो
वास्तविक जीवतत्त्व है, सहजस्वरूप है उसमें भयका क्या अवकाश ? तो जिसने उस अभय-
स्वरूपको नही पहिचाना है और इस संतानवान जीवको ही माना कि यह मैं हूं, उसे पद-पद
पर भय हुआ करता है । सम्यग्दृष्टि जीवको अपने आपका स्पष्ट रूपसे अनुभव हुआ है, इस
कारण उसे जगतमें कहीं भी आकस्मिकभय नहीं उत्पन्न होता ।

कांक्षा भोगाभिलापः स्यात्कृतेऽमुष्य क्रियासु वा ।
कर्मणि तत्फले सात्स्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ।।५४७।।

भोगाभिलाष व कर्मकर्मफलसात्म्यबुद्धि रूप कांक्षाका निर्देश—अब निःकांक्षित अंग
का वर्णन किया जा रहा है । जो काम किया जाता है उनमें यह उद्देश्य बनाना कि मुझे
परलोकमें भोगोंकी प्राप्ति हो । इसे स्पष्ट शब्दोंमें यह कहा गया है कि धर्म करके भोगोंकी चाह
करना, व्रत धारण करके भावी सुखकी चाह करना सो यह दोष है । यद्यपि दोप यहाँ भी है
कि धर्मके एवजमें ऐसी चाह करना कि मेरेको भोगसाधन प्राप्त हों वह भी दोष है, लेकिन
सामान्य स्थितिमें कोई साधनकी थोड़ी बहुत इच्छा जग जाय, ऐसी बात कदाचित् निम्न पदों
में सम्यग्दृष्टिके भी बनती रहती है । जैसे कि गृहस्थ है, दूकानपर जाते हैं तो क्या थोड़ा बहुत
भी चित्तमें नहीं आता कि दूकान चले ? इस कारण लक्षणमें जरा भी दोप न आये, ऐसा
लक्षण बनाया है कि धर्मधारण करके भोगोंकी चाह न करना । जो धर्म करके भोगोंकी चाह
करे उसके तो नियमसे मिथ्यात्व है । और साधारण रूपसे घरमें रहकर कोई चाह उत्पन्न हो
गयी, उनमें विचार करना पड़ेगा । भीतर चाह इसकी है कि नहीं, क्योंकि दर्शनमोहका उदय
न होनेसे ऐसी स्थिति भी होती है कि चाह तो नहीं है और चारित्रमोहके उदयमें चाह बनती
है । तो ऐसे समयमें उसका सम्यग्दर्शनका दोष नहीं कहा गया है अथवा-वह चाह ही नही
है । इनका वर्णन पहिले भली-भाँति हो चुका है कि अभिलाषा और इच्छामें अन्तर है ।
अभिलाषा होती है दर्शनमोहके विपाकमें और इच्छा होती है चारित्रमोहके विपाकमें । एक
शब्दभेद डाला है । जैसे चारित्रमोहके विपाकमें क्रोध उत्पन्न होता है और सम्यग्दृष्टि उस
क्रोधको नहीं चाहता, ऐसे ही मान, माया उत्पन्न होती है उसे भी नहीं चाहता । ऐसा लक्ष्य
भी होता है, इच्छा भी होती है, उसे भी वह नहीं चाहता । जैसे क्रोधादिक भाव हैं, ऐसे ही
चारित्रमोहके विपाकमें इच्छा भाव है, मगर भीतरमें अभिलाषा रंचमात्र भी नहीं है । अपने
ही को लक्ष्यमें लेकर बताया गया है कि परमाणु मात्र भी चीज राग है वह सम्यग्दृष्टि नहीं
है वह परमाणु मात्र राग यही है दर्शनमोहकृत । जिसे जरा भी भ्रम है वह सम्यग्दृष्टि नही
है । तो यहाँ लक्षणमें बतला रहे हैं कि कांक्षाका अर्थ यह है कि जो काम किये जाते है उनसे

परलोकके लिए भोगोंकी चाह करना, इस लोकके लिए भी चाह करता, यह सब कांक्षा है। अथवा यों कहो कि कर्ममें और कर्मफलमें आत्मीय भाव रखना, यह मैं हूं, इस तरहका अपरिणामी भाव रखना और अन्य दृष्टियोंकी प्रशंसा करना यह सब कांक्षा कहलाता है। यद्यपि अन्य दृष्टि प्रशंसा अङ्ग अमूढ़दृष्टि है, अङ्गके प्रतिपक्षमें बताया गया, लेकिन उसका कोई चाह से सम्बन्ध है, भोगसाधनोंकी चाहसे सम्बंध है, इस कारण उसके साथ कांक्षा दोष लगा है। इस तरह अपने भोगके साधनोंकी चाह करना कांक्षा दोष है। यह दोष मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है। जिनके कांक्षारहित अविकार शुद्ध स्वरूपकी दृष्टि है उनके कांक्षा नामका दोष नहीं जगता।

हृषीकारुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः।
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिङ्गं स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥५४८॥

कांक्षाका मुख्य चिह्न अरुचिकरविषयोंमें विषादकी संभूति—इस श्लोकमें कांक्षाका चिन्ह बताया जा रहा है। ऐसे विषयोंमें यदि बड़ा उद्वेग होता है तो समझना चाहिए कि वह भोगाभिलाषाका चिन्ह है। अभिलाषाओंका सूक्ष्म रीतिसे पता पड़ना बहुत कठिन है और उसका परिचय इस प्रकारसे होता है कि यदि अनिष्ट विषयोंमें द्वेष जग रहा है, अनिष्ट विषयोंका समागम आनेपर उद्वेग होता हो तो समझना चाहिए कि इसके भोगोंकी अभिलाषा है। जैसे भोजनपानमें करीब रोज अच्छा ही भोजन करते हैं। उसमें बहुतायतसे यह पता नहीं पड़ता कि हमको इसमें लम्पटता है या आसक्ति है। यह सहसा पता नहीं पड़ता, क्यों कि रोजका काम है, रोज ही खाते हैं, रोज ही प्रायः सुविधासे भोजन मिलता है। किन्तु जब किसी दिन अनिष्ट भोजन प्रसंग हुआ, अरुचिकर कोई भोजन मिला या रुचिकर भोजन न मिला ऐसा कोई अनिष्ट प्रसंग आया उस समय यदि द्वेष जगता है तो समझना चाहिए कि हमको विषय लम्पटता है। इसी प्रकार सभी विषयोंमें यही बात समझनी चाहिए। यदि अपने अपमानमें विषाद उत्पन्न होता है तो समझना चाहिए कि सम्मानकी अभिलाषा अभी समाप्त नहीं हुई। अथवा साधारण रीतिसे पता नहीं पड़ता कि हमको सम्मानकी अभिलाषा है, पर अपमान होनेपर यदि उसके विषाद उत्पन्न होता है तो वह चिन्ह है सम्मानकी अभिलाषा। यों साधारण रीतिसे यह विदित होता है कि हमें प्रशंसा न चाहिए, क्योंकि रोज के साधारण वातावरण हैं, मिलना-जुलना सब चल रहा है, वहाँ यह परिचय नहीं हो पाता कि हमको प्रशंसाकी उत्सुकता है। लेकिन जब कभी निन्दाकी बात सामने आये और वह उसमें प्राणभय जैसा दुःख मानता हो तो वह सम्मानकी अभिलाषाका सूचक है। तो यहाँ कांक्षाका चिन्ह बताया जा रहा है कि जो इन्द्रियसे अकिञ्चितकर हो, ऐसा विषयोंमें उद्वेग होना, यह भोगाभिलाषाका चिन्ह है, क्योंकि यह सिद्ध है कि जब अरुचिकर विषयोंमें द्वेष

है तो इष्ट विषयोंमें राग अवश्य है।

तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेप्यरतिं बिना।
नारतिर्वा स्वपक्षेऽपि तद्विपक्षे रतिं बिना ।।५४६।।

द्वेषोद्भूतिकी रागपरिचायकता—विपक्षमें द्वेष हुए बिना स्वपक्षमें राग नहीं होता और विपक्षमें राग हुए बिना स्वपक्षमें द्वेष नहीं होता। उक्त श्लोकमें जो भोगाभिलाषाका चिन्ह बताया गया है उसीके समर्थनमें कहा जा रहा है कि विपक्षमें राग नहीं है तो स्वपक्षमें द्वेष न होगा और विपक्षमें द्वेष है तो स्वपक्षमें राग होगा। यह कहा गया है एक सामान्य अन्वय सम्बन्ध बनानेके लिए। अनिष्ट विषयोंमें द्वेष होता है तो समझना चाहिए कि इष्ट विषयोंमें उसके राग है। शान्तिकी परीक्षा अशान्तिके समागम मिलनेपर होगी। क्षमाकी परीक्षा क्रोधके समागम मिलनेपर होती है। तो अनिष्ट पदार्थोंमें यदि द्वेष जग रहा है तो उससे यह सिद्ध है कि हमको इष्ट पदार्थमें राग है। तो भोगाकांक्षाका जो चिन्ह बताया गया वह संगत है। यदि अनिष्ट विषयमें उद्वेग होता है तो समझना चाहिए कि इष्टविषयमें राग है। एक वस्तुमें राग है तो दूसरेके द्वेष भी अवश्य सिद्ध होता है। दूसरेमें राग है तो पहिलेमें द्वेष सिद्ध होता है तो ऐसे ही यदि अनिष्ट विषयमें द्वेष है तो इष्ट विषयमें राग सिद्ध होता है। तो यह सिद्धिकी परीक्षा है और परीक्षा पर कसी हुई चीज सफल होती है। तो यह संसार जो समागम परिवार आदिक हैं, ये तो परीक्षाके अवसर हैं। उस समयमें भी अपने आपके अन्तस्तत्त्वकी सुध रहे और इसकी शरणमें जाकर एक परमशान्ति आये, जिसके बलपर यह कह उठें कि ये सब न कुछ चीजें हैं। इनसे मेरा क्या बिगाड़ है? ऐसा बल प्रकट होता है अनिष्ट समागमके प्रसंगमें। तो भोगाकांक्षाका यह चिन्ह बताया है कि अनिष्ट में उद्वेग होना भोगाकांक्षाका चिन्ह है।

शीतद्वेषी यथा कश्चित् उष्णस्पर्शं समीहते।
नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ।।५५०।।

रागद्वेषकी सापेक्षताका दृष्टान्त—उक्त बातको ही दृष्टान्तमें सिद्ध कर रहे हैं। जैसे किसी पुरुषको शीतसे द्वेष है, तो समझना चाहिए कि वह उष्णस्पर्शको चाहता है और जिसको शीतस्पर्शसे अरुचि हो रही है वह उष्णस्पर्शको चाह रहा है। जैसे ठंडके दिनोंमें बहुतसे लोग हीटर वगैराका प्रयोग करते हैं, तो उनकी यह क्रिया इस बातको सिद्ध करती है कि उन्हें शीतस्पर्शसे द्वेष है। यद्यपि ये दोनों ही स्पर्श (शीत और उष्णस्पर्श) हम आपके लिए सहयोगी हैं, फिर भी इनमें इष्ट रागका पता सूक्ष्मतासे पाड़ नहीं सकते। तो उसका परिचायक है अनिष्ट द्वेष। अनिष्ट प्रसंग आनेपर द्वेष हो तो समझना चाहिए कि उसको इष्टमें राग है। इस तरह यह सिद्ध किया गया कि अनिष्ट विषयोंमें उद्वेग होना इष्ट विषयोंमें रागका चिह्न है।

यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगास्ति सः ।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिर्युक्तिस्वानुभवागमात् ।।५५१।।

कांक्षाका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टिके निःकांक्षित गुणकी प्रसिद्धि—उक्त प्रकार जो वाञ्छाका स्वरूप बताया गया है, ऐसी वांछा जिसके हो वह नियमसे मिथ्यादृष्टि है । भीतरसे भोगसम्बन्धी अभिलाषाओंका जगना तब ही सम्भव है जब कि उसको पर्यायमें आत्मबुद्धि हुई है और मानता है कि इस पर्यायके फैले रहनेसे मेरा जीवन है । और उस पर्यायके सहयोगी अथवा उस पर्यायका सम्बंध रखने वाले इष्ट अनिष्ट विषयोंमें उसके द्वेष चलता है । उसमें हो रहा है वह लम्पट । अपने आपकी सुध रहती नहीं, तो समझना चाहिए कि वह मिथ्यादृष्टि है, और जिसके यह कांक्षा नहीं है वह सम्यग्दृष्टि है । भोग सम्बन्धी अभिलाषा न किसी बाह्यपदार्थकी कांक्षासे अपने आपका पूरा होना नहीं समझ पा रहा है तो वह सम्यग्दृष्टि है, यह बात युक्तिसे सिद्ध है, स्वानुभूतिसे सिद्ध है और आगमसे सिद्ध है । आगममें लिखा है, सो यह प्रसिद्ध बात है, पर युक्ति भी बताती है, अन्य युक्तियाँ भी हैं कि यदि इन भोगाभिलाषाओंसे तृप्ति होती तो फिर बड़े-बड़े पुरुष उनको छोड़कर निर्ग्रन्थताको क्यों अङ्गीकार करते ? और स्वानुभूति तो पूरे तौरसे बतायी गई है । जो पुरुष इस स्वानुभूतिरूप भीतरी चारित्रको अङ्गीकार करे उस सम्यग्दृष्टि पुरुषके भोगोंकी अभिलाषा नहीं होती ।

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्र भोगाभिलाषतः ।
स्वार्थसार्थकसंसिद्धिर्न स्यान्नामैहिकात्परम् ।।५५२।।

मिथ्यादृष्टिके इष्टार्थसंयोगाभिलाषाकी अनवरतता—सम्यग्दृष्टि जीवकी कैसी भावना होती है जिससे कि भोगाभिलाषाको आश्रय मिलता है ? यह अज्ञानी जीव ऐसी भावना रखता है कि परलोकमें इष्ट पदार्थका संयोग है । इस लोकमें भी इष्ट पदार्थके संयोगकी अभिलाषा करे वह भी कांक्षा है, पर मुख्यतया यहाँ परलोककी बात यों कही गई है कि जिसको यह भावना हुई कि परलोकमें मेरेको सुख भोगनेके अच्छे साधन मिलें तो उसके तो नियमसे मिथ्यात्व है । इस लोकमें कदाचित् चारित्रमोहके तीव्र विपाकसे बाह्यचारित्रमें कदाचित् इच्छा जग सकती है, लेकिन उस इच्छामें अभिलाषा नहीं है । तो परलोकमें जो भोगाभिलाषा चाहता है वह तो नियमसे मिथ्यादृष्टि है और इस लोकमें भी जो भोगाभिलाषा चाहता है वह भी मिथ्यादृष्टि जीव है । इस अज्ञानी जीवके अपने समग्र कल्याणके अभीष्टोंकी सिद्धि भोग भोगनेके अलावा और कुछ नहीं है । और इस लोकमें जो कुछ उसने समागम पाया है उनमें मौज लेना, बस यह ही एक जीवनकी सार्थकता है । यह बुद्धि मिथ्यादृष्टिके रहा करती है । जो कुछ सामग्री प्राप्त है, बस यही परमविभूति है । इससे बढ़कर और कुछ विभूति नहीं हुआ करती । ऐसी समझ इस अज्ञानी जीवके पड़ी हुई है ।

निःसारं प्रस्फुरत्येपं मिथ्याकर्मैकपाकतः ।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्धेर्वातोत्तरङ्गवत् ॥५५३॥

मिथ्यादृष्टिकी उन्मत्तवत् निःसार भावनायें—अज्ञानी जीवके पूर्व श्लोककी भाँति अनेक निःसार भावनायें हुआ करती हैं। तो ये भावनायें मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होती हैं। तृप्ति, सन्तोष, आनन्द जहाँ प्राप्त हो सकता है उसकी जब सुध नहीं, उसका दर्शन ही नहीं तो वह बेचारा करे क्या ? जीवका जो स्वरूप है वह यही प्रेरणा करता है कि हम सुखी हों। जीवका आनन्दस्वरूप है, वह तो प्रेरणा करेगा ही कि हम आनन्दमें रहा करें। अब अज्ञानी जीवको प्रेरणा तो मिल रही है अपने स्वरूपके कारण, लेकिन उसको आनन्दके धामका परिचय है नहीं तब कहाँ वह विश्वास करे, कहाँ विराम करे ? उसको कुछ जंचेगा वहाँ विराम करेगा। ज्ञानी जन आनन्दके धाम हैं। वे तो अपने आपके स्वरूपमें ही परमविश्राम करते हैं, सहजानन्दस्वरूप बनते हैं, लेकिन प्रेरणा तो भीतरमें आनन्दस्वरूपकी मिल रही है, लेकिन ज्ञानने उल्टा ज्ञान बता दिया, तो जिस ज्ञानने यह ज्ञान कराया मिथ्यात्वके पुटका, लेकिन जहाँ जान लिया कि यह ही इस मुझ आत्माका सर्वस्व है तो बस वहाँ ही मग्न रहता है। जैसे कोई उन्मत्त पुरुष उन्मत्तताके कारण यत्र-तत्र डोलता रहता है अथवा समुद्रके अन्दर जैसे वायुके प्रबल वेगके कारण तरंगें उछलती रहती हैं ठीक इसी प्रकार मिथ्यात्वके उदयसे इस जीवके मिथ्याकल्पनायें उछलती रहती हैं, जो कि निःसार हैं।

ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते ।
भोगाकांक्षा बिना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥५५४॥

भोगाकांक्षाके बिना ज्ञानीके व्रतक्रियाचरणमें शंकाकारकी आशंका—अब यहाँ शंकाकार पूछता है कि देखिये—कितना ही मंद बुद्धि वाला कोई पुरुष हो वह भी किसी कार्यको उद्देश्यके बिना न करेगा। कार्य करनेकी प्रवृत्ति है तो उसकी कुछ भावना तो होगी, इच्छा तो कुछ होगी। जब कुछ उद्देश्य है तब ही तो वह मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करता है। तो ज्ञानी पुरुषको भी देखा गया है कि वह भी मन, वचन, कायकी चेष्टायें किया करता है। सम्यग्दृष्टि श्रावक अविरत अथवा प्रमत्तविरत मन, वचन, कायकी चेष्टायें किया करता है। जैसे बड़े-बड़े साधु पुरुष भी आहार तो लेते ही हैं। यहाँ श्रावक ज्ञानी गृहस्थ भी आहार तो करते ही हैं। अनेक प्रकारकी ये चेष्टायें देखी जा रही हैं। उद्देश्यके बिना कोई चेष्टा होती नहीं, इसी प्रकार इनकी ये व्रतचेष्टायें बिना इच्छाके बन कैसे जायेंगी ? अथवा व्रत भी यहाँ कोई पुरुष धारण कर रहा है तो क्यों तकलीफ सह रहा है ? मालूम होता है कि उसको कुछ चाह है कि मुझे सुख मिले, मुझे आराम मिले, भोग मिले तब ही तो व्रत आदिक किया करता है, क्योंकि कोई भी काम बिना उद्देश्यके कोई नहीं करता। फिर यह कैसे बताया जा रहा है

कि ज्ञानी पुरुषके भोगाकांक्षा नहीं होती ?

नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम् ।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाऽशुभावहम् ॥५५५॥
न चाऽऽशङ्क्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् ।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेपि विरागवत् ॥५५६॥
यतः सिद्धं प्रमाणाद्वै नूनं बन्धफला क्रिया ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्योऽवश्यं तद्धेतुसंभवात् ॥५५७॥
सरागे वीतरागे वा नूनं मौदयिकी क्रिया ।
अस्ति बन्धफलाऽवश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ॥५५८॥
न वाच्यं स्यादात्मदृष्टिः कश्चित् प्रज्ञापराधतः ।
अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन् ॥५५९॥
यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम् ।
तस्याश्चाऽभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ॥५६०॥

सभी क्रियाओंका फल बन्ध होनेके कारण ज्ञानी पुरुषके स्वानुभूतिका व दृष्टिदिव्यता का अभाव बताते हुए शंकाकार द्वारा उक्त शंकाका समर्थन—शंकाकार पहिली ही शंकाका समर्थन करनेके लिए इन ६ श्लोकोंमें फिर भी कह रहा है कि देखिये—जितनी भी क्रियायें होती है वे उद्देश्यके बिना नही होती । यह बात तो ऊपर बतायी गई है, पर दूसरी बात भी यह समझिये कि जितनी भी क्रियायें की जाती हैं उन सब क्रियाओंमें बन्ध होना आवश्यक है । उन क्रियाओंका फल है बंध होना । यह भी बात पूर्णतया सत्य है और आगममें भी बताया है कि यदि वह शुभ क्रिया है तो उसका फल शुभ होगा और अशुभ क्रिया है तो उसका फल अशुभ होगा याने कोई भी क्रिया हो उसका बंध जरूर होगा । तो ज्ञानी जीव भी अनेक क्रियायें कर रहा है, तो उनका फल भी आवश्यक है । यहाँ यह शङ्काके लिए बात न रह जायगी कि कोई क्रिया बंध करती हो और कोई बन्ध न करती हो । जैसे कि कहीं-कही कह डाला कि ज्ञानीकी क्रिया बन्ध नही करती, अज्ञानीकी क्रिया बन्ध करती, तो यह कैसे हो सकेगा ? क्रिया तो क्रिया है । जिसके क्रिया हो उसीके बंध है—ऐसी भी शंका न करनी चाहिए । शङ्काकार कह रहा है कि कोई पुरुष ऐसा सन्देह न करे कि जैसे वीतराग पुरुषमें क्रिया होती है, अरहंत भगवानके विहार आदिक होता है तो वह क्रिया बन्धरूप फलको नही उत्पन्न करती । इसी तरह सम्यग्दर्शनका कोई ऐसा अद्भुत अतिशय है कि उसके कारण सराग जीवमें भी क्रिया बन्धफल वाली नही होती है । यह सन्देह नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह तो वीतराग है । उसकी क्रिया बंधफल वाली नहीं है । अगर सराग है और फिर

भी कहा जाय कि इसकी क्रिया बंधको न करेगी तो इसको कौन मान लेगा ? यह बात स्पष्ट सिद्ध है । प्रमाणसिद्ध है कि जितनी भी क्रियायें हैं वे सब बन्धरूप फलको पैदा करने वाली हैं । १२वें गुणस्थानसे पहिले सभी क्रियायें बन्धको उत्पन्न करती हैं । चाहे वह सराग हो, चाहे वीतराग पुरुष हो । आखिर क्रिया होती है तो कर्मके उदय होती है । कर्मके उदयसे होने वाली क्रिया नियमसे बन्धको उत्पन्न करेगी । इससे एक भगवानको भले ही छुट्टी दे सकते हो, बाकी सबके जितनी भी क्रियायें होंगी वे बंधरूप फलको अवश्य पैदा करेंगी । और भी सुनो— मोहनीयकर्मकी प्रकृतिमें से किसी भी प्रकृतिका उदय हो वहाँ बुद्धिका दोष तो हो ही जायगा । चाहे मिथ्यात्वका उदय हो या सम्यक्‌मिथ्यात्वका हो या सम्यक्‌प्रकृतिका हो तो जब दोष उत्पन्न हो जायगा तो किसीको स्वानुभूति वाला भी न कहा जा सकेगा और क्योंकि बुद्धिका अविनाभावी तो सम्यक्‌विशेषण है । सम्यग्ज्ञानका अभाव होनेसे उस जाननमें दिव्यता भी कैसे आ सकती है ? प्रयोजन यह है कि क्रियायें जितनी होती हैं वे सब बन्धको उत्पन्न करती हैं और जब बंध होता है तो उसका फल नियमसे होगा । तो ज्ञानी जीव इतनी क्रियायें करता है, व्रत पालता है, फिर भी कहा जाता कि उसको बंध नहीं होता, उसके भोगोंकी आकांक्षा नहीं है, यह कैसे माना जा सकता है ? इस प्रकार शंकाकारने अपनी पूर्व शंकाका समाधान किया ।

नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया ।
शुभाभाश्चाऽशुभायाश्च कोऽवशेषो विशेषभाक् ॥२६१॥

अनभिलाषीके भी क्रियाकी संभवताकी सिद्धिके कारण व्रतक्रियाचारी ज्ञानीके बन्ध शङ्काका अभाव बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—उक्त इतनी बड़ी शंकाका समाधान इस श्लोकमें दिया जा रहा है । शंकाकारकी उक्त शंका असंगत है, क्योंकि पहिले यह भली-भाँति सिद्ध कर दिया गया कि इच्छाके बिना भी क्रिया हो सकती है, फिर शुभ क्रियाओंमें और अशुभ क्रियाओंमें विशेषता क्या रही ? इस प्रश्नका अवकाश कहाँ रहा ? यदि अभि-लाषा है, दर्शनमोहकृत मलिनता है तो वहाँ वह शुभ क्रिया बन्धफल वाली होगी । तो दर्शन-मोहकृत भोग अभिलाषा इसके नहीं है तो वह क्रिया बन्धफलरहित होती है । जिस मनुष्यको बन्धफलकी चाह नहीं होती उसके भी क्रिया देखी जाती है और ऐसी बात इस लोकमें भी देखनेको आ रही है कि इच्छा नहीं है तब भी उसको करना पड़ता है । कैदी चक्की पीसता है तो क्या वह अपने मनसे पीसता है ? अनेक ऐसे दृष्टान्त मिलेंगे कि जिनमें इच्छा न होते हुए भी क्रिया करनी पड़ती है । तो ऐसी क्रियाको न शुभ कहेंगे, न अशुभ कहेंगे । वह तो हो रही है । जो शुभ परिणामसे किया जाय वह तो शुभ क्रिया है और जो अशुभ परिणामसे किया जाय वह अशुभ क्रिया है । पर जहाँ क्रिया करनेकी इच्छा ही नहीं है वहाँ क्रियाको शुभ या अशुभ क्या कहा जा सकता है ? तो दर्शनमोहका अनुदय होनेपर, अभिलाषाओंका

अभाव होनेपर फिर भी जो चारित्रमोहकृत क्रिया होती है वह संसारबन्धफल वाली नहीं होती है ।

नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः क्रिया ।
विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः कथम् ॥५६२॥

बिना इच्छाके इष्टार्थसंयोगरूपा क्रिया न हो सकनेकी शंकाकारकी आरेका—शंकाकार कहता है कि जो यह सिद्धान्त बताया गया था कि ज्ञानीकी क्रिया बन्धफल वाली नहीं होती है तो देखिये—ज्ञानी पुरुष व्रत धारण करता है तो व्रत तो इष्ट पदार्थका संयोग जैसी चीज है। व्रत चाहता है उसे इष्ट है और स्वतंत्र होकर हो रहा है । तो जब व्रतको चाह करके कर रहा है इष्ट पदार्थका संयोग है, तो इष्ट पदार्थका संयोग करने वाली क्रिया न चाहने वाले पुरुषके कैसे हो जायगी ? हाँ कोई अनिष्ट पदार्थोंका संयोग हो, उसे कह सकते कि बिना चाहे भोगना पड़ा । जैसे दरिद्रता आयी, मरण आया या व्याधि आयी तो ये सब क्रियायें न चाहकर करनी पड़ीं, यह कहा जा सकता है । परन्तु इष्ट पदार्थका संयोग बिना चाहे किया गया, यह कैसे कहा जा सकता है ? और जब बिना चाहे व्रतक्रिया सिद्ध नहीं होती तब बन्धफल करने वाली क्रिया है ही, ऐसा मान लेना चाहिये ।

सत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम् ।
तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात् सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥५६३॥

व्रतक्रियाको स्वतंत्रतासे किया जाना बताकर बिना इच्छाके व्रतरूप क्रियाकी असंभवताकी आरेकाका शंकाकार द्वारा समर्थन—शंकाकार ही पूर्व शंकाका समर्थन कर रहा है कि जो व्रतरूप क्रिया है वह तो समीचीन क्रिया है । तो जो व्रत न चाह रहा हो उसके यह समीचीन क्रिया कैसे हो सकती है ? और व्रत तो उसने स्वतंत्र होकर ही किया, चाहकर किया, किसीकी जबरदस्तीसे नहीं किया । तो जब स्वतंत्र होकर क्रिया की गई तो इससे सिद्ध है कि वह ज्ञानी पुरुष इन व्रतादिक क्रियाओंको करता है और जो करता है सो बन्ध पायगा । फिर यह कैसे कहा गया कि ज्ञानीकी क्रिया बन्धफल वाली नहीं होती । श्रेष्ठ क्रिया, व्रत जैसी महती क्रिया इच्छा किए बिना नहीं हो सकती । व्रतरूप क्रिया इच्छाके अनुसार की जाती है । इस कारण व्रत करने वाला जो व्रती पुरुष है, वह बन्ध करने वाला है, यह सिद्ध होता है ।

नैवं यतोस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः ।
तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम् ॥५६४॥

कर्मोदयात्मक सर्व क्रिया व क्रियाफलकी अनिष्टार्थताका निर्णय होनेसे ज्ञानीके क्रिया व क्रियाफलकी अनाकांक्षा बताकर उक्त शंकाका समाधान—उक्त शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि

शंकाकारकी उक्त शंका संगत नहीं है, क्योंकि जितने भी कर्मकाण्ड कर्मके उदयमें प्राप्त हुए हैं वे सब ज्ञानीको अनिष्ट हैं। इसी कारण ज्ञानी पुरुष समस्त कर्म और कर्मफलको नहीं चाहता। संसारकी जितनी अन्य क्रियायें हैं, वैषयिक क्रियायें हैं, विषय कषाय सम्बन्धी बातें हैं उनको तो ज्ञानी चाहता नहीं है, यह बात लोगोंकी समझमें सुगमतासे आ जाती है, लेकिन यह बात जरा कठिनाईसे समझमें आयगी कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष व्रत महाव्रत, साधुव्रत, श्रावकव्रत जैसी क्रियाओंको भी नहीं चाहता, फिर भी करता है। न चाहनेका कारण यह है कि उसकी दृष्टिमें तो ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानके मग्न होनेकी बात ही सर्वोच्च है। इससे हल्की बात वह कुछ भी नहीं चाहता। केवल एक यही भावना है कि इच्छा, विकार, राग, भोग संयोग कुछ भी न रहे और मैं केवल एक ज्ञानस्वरूप रह जाऊँ, उसके ऐसा अन्तःप्रकाश है, इस कारण ज्ञानी पुरुष व्रतको भी नहीं चाहता है। फिर कोई कहे कि वे व्रत करते क्यों हैं ? तो व्रत यों करना पड़ता है कि जब दुष्ट कर्मोंमें फंसे हुए हैं तो इन दुष्ट कर्मोंसे निकलनेके लिए जो भी तत्कालके उपाय बन पाते हैं सो किए जाते हैं। तो जब समस्त कर्म और कर्मफलको ज्ञानी चाहता नहीं है तो ज्ञानीकी व्रत क्रिया भी बंधफल वाली नहीं है।

यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात्।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात् पीतशंखावलोकवत् ॥५६५॥

दृष्टिदोषसे ही किसीकी इष्टार्थता व किसीकी अनिष्टार्थताके विकल्पका कथन—तथ्य तो यह है कि जगतमें कोई भी पदार्थ, कोई भी क्रिया अभीष्ट नहीं है, हितकारी नहीं है। सभी अनिष्ट हैं, अनिष्टफलके देने वाली हैं। चाहे वह शस्त क्रिया हो चाहे दुष्ट, सभी जीवोंको अहितकारी है, फिर भी इस लोकमें प्रयोजनवश पदार्थोंमें किसीको इष्ट मान लिया जाता है और किसीको अनिष्ट मान लिया जाता है। यह सब मान्यता दृष्टिदोषसे है। मिथ्यात्वकी प्रेरणा पानेके कारण यह जीव इन परपदार्थोंमें कुछको इष्ट और कुछको अनिष्ट मानता है। यदि कोई पुरुष व्रत उपवास आदिक धर्मसाधनोंको हृदयसे इष्ट मानकर करता है तो उसे समझना चाहिए कि अन्तः शुद्ध स्वरूपकी सुध नहीं है कि जहाँ मग्न रहकर ही संतोष पाया जा सकता है, वह कुञ्जी इसको प्राप्त नहीं हुई है। तब ही जैसे पहिले वैभवमें, परिजनमें इष्टबुद्धि करता था अब धर्मकार्यमें, व्रत आदिकमें इष्टबुद्धि कर रहा है। उसने यह नहीं समझा कि इस संसारमें जन्म मरणसे इन सर्वअनिष्ट समागमोंसे छूटनेका उपाय वर्तमानमें इस कमजोर स्थितिमें व्रत आदिक करनेसे बनेगा अन्यथा काम न बन सकेगा। इस तरह काम बनानेके लिए व्रत किया गया है, न कि उसे इष्ट समझकर व्रत किया गया है। तो यद्यपि समस्त जगतके साधन अर्थ सब अनिष्ट हैं फिर भी यहाँ किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट जो माना जाता है तो वह सब दृष्टिदोषसे माना जाता है। जैसे शंख तो सफेद है,

पर जिसके दृष्टिदोष है, जिसके पीलिया रोग है उसे पीला दिखता है। तो दृष्टिदोषसे ही तो सफेद शंख पीला दिखा। इसी तरह दर्शनमोहके उदयमें मोहबुद्धिमें जो भी कर्मोदयसे प्राप्त समागम हैं उनमें किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट मान लेते हैं दृष्टिमुग्ध प्राणी। वास्तविक बात यह है कि कर्मोदयसे प्राप्त सभी समागम अनिष्ट ही हैं।

दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षात् सूक्ष्मार्थदर्शिनी।
तस्याऽनिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥५६६॥

दर्शनमोहका अत्यय होनेपर सूक्ष्मार्थदर्शिनी दृष्टि होनेके कारण ज्ञानीके सर्वक्रियाओं में व क्रियाफलोंमें अनिष्टार्थताका निर्णय—दर्शन मोहनीय कर्मका विनाश हो जानेपर दृष्टि सूक्ष्म अर्थको देखने वाली वन जाती है। इस कारणसे ऐसी दृष्टि वाले पुरुषके कर्मफलात्मक अनिष्ट पदार्थोंमें अनिष्टरूपसे ही बुद्धि हुआ करती है। व्रत आदिक क्रियायें किस तरहसे हुईं इसका कारण देखिये—कुछ कर्मका उपशम है, कुछ कर्मका उदय है ऐसी जो कर्मोंकी स्थिति है उस स्थितिका निमित्त पाकर ये व्रतक्रियायें हुई हैं, न कि आत्माकी शक्तियोंसे, परनिरपेक्ष होकर स्वतंत्रतासे हुई हैं। आत्माकी शक्तिमात्रसे जो परिणति होगी वह शुद्ध रत्नत्रयरूप परिणति होगी। पूर्ण शक्तिमान किसे कहते हैं? पूर्णशक्तिमान उसे कहते हैं जो परकी मदद, परका कुछ भी आश्रय लिए विना स्वयं अपनी शक्तिसे परिणति कर सकता हो। तो आत्मा ऐसा ही पूर्ण शक्तिमान है तो उस शक्तिका किया हुआ काम कौन कहलायेगा? जिस कामके किए जाने के लिए किसी दूसरेके आश्रयकी अपेक्षा न रहे वह ही कार्य इस पूर्ण शक्तिमान आत्माका कार्य है, इसके अतिरिक्त जो अन्य क्रियायें हैं, यद्यपि ऐसी शक्ति जहाँ नहीं है वहाँ न होगी ये तो भी पर उपाधिकी अपेक्षा करके हुई है, इस कारण वह सब औपाधिक है, कर्मोदयात्मक है और इस जीवके लिए अनिष्ट है।

नन्वाऽसिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥५६७॥

कर्म और कर्मफलकी दुःखहेतुताके कारण अनिष्टार्थताकी सिद्धिका प्रतिपादन—ज्ञानी जीवके हृदयकी वात खोली जा रही है कि वह अपने आपमें कितना स्पष्ट और उलझनसे रहित सुलझा हुआ दिव्य आत्मा है? इस ज्ञानी पुरुषके कर्म और कर्मफल ये सबके सब उसे अनिष्ट हैं। चाहे व्रतके काम हों, चाहे लौकिक धर्मके कार्य हों, कोई प्रकारके कार्य हों, जो कर्मके उदयसे कुछ भी सम्बन्ध रखता है वह सब उसके लिए अनिष्ट है, क्योंकि उसका ध्येय यह वन चुका है कि मुझे तो संसारसंकटोंसे छुटकारा पाकर एक निज स्वरूपमात्रमें रम जाना है, और जगतमें कुछ भी इष्ट नहीं है। तो क्या यह चीज व्रतके फलसे मिलती है? यह तो निर्विकल्प समाधिके बलसे मिलती है। व्रतमें जो रागांश पड़े हुए हैं उनका फल तो है स्वर्गा-

दिकमें उत्पन्न हो जाना या जो भी संसारकी महान बातें उत्पन्न हो जायें, यह तो सम्भव है,
किन्तु आत्मा आत्मामें रम जाय, सदाके लिए संसारके संकटोंसे छुट्टी पा ले, यह बात तो एक
निर्विकल्प समाधिसे ही प्राप्त हो सकती है। तो जिसने अपना ध्येय इतना शुद्ध बना लिया हो,
ऐसे ज्ञानी पुरुषको व्रतक्रिया भी इष्ट नहीं है, करते हुए भी इष्ट नहीं है। जितने भी कर्म हैं,
जितने भी कर्मफल हैं वे कुछ रागांशोंको लिए हुए हैं, और व्रत धारण करते हुए ज्ञानी पुरुष
के जितना उसके ज्ञान और वैराग्य है उतनी तो उसके मोक्षमार्गकी साधना है और जितना
उसके राग पड़ा हुआ है, जिसके बलपर व्रतक्रियायें उठ बैठती हैं, वह रागांश मोक्षमार्गका
साधन नहीं, किन्तु संसारमें देवादिक सद्गतियोंका कारण होता है। तो जितने भी कर्म और
कर्मके फल हैं वे सदा दुःखके ही कारण हैं, यह बात युक्तिसे भी सिद्ध की गई थी, आगम भी
बताता है और स्वानुभवसे भी प्रसिद्ध होता है। जिस पुरुषने अपना ध्येय विशुद्ध केवल ज्ञान-
स्वरूपमात्र रह जानेका नहीं बनाया है उस पुरुषको मोक्षमार्ग कहांसे प्राप्त हो सकेगा? और
जिसने केवल ज्ञानमात्र स्वरूपमें रमनेका ही उद्देश्य बनाया है उसको यह दिख गया कि यह
बात निर्विकल्पसमाधिसे सम्भव है, रागसे सम्भव नहीं, लेकिन जब वहाँ तक पहुंच नहीं सक
रहे हैं और यहाँ इन कषायोंके परिणाममें बने हुए हैं, ऐसे समयमें उस ही कामको बनानेके
लिए एक परम्पराका यत्न किया गया है। यह साक्षात् मोक्षमार्गका साधन नहीं है। तो जो
साक्षात् कैवल्यको प्राप्त करनेका उद्देश्य बनाये हुए है उसे तो उसकी ओर धुन है, न कि व्रत
की ओर। व्रत तो उस ज्ञान और रागकी मिश्र अवस्थामें करना पड़ रहा है।

अनिष्टफलवत्त्वात् स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥५६८॥

अनिष्टफलवती होनेके कारण व्रतक्रियाओंकी भी अनिष्टार्थताका ज्ञानीका निर्णय—
जितनी भी व्रतक्रियायें हैं वे सब मन, वचन कायकी चेष्टायें हैं, ये बन्धकी ही करने वाली
होती हैं, इसलिए सारी क्रियायें अनिष्ट हैं। तो व्रतक्रिया भी प्रवृत्तिमयी क्रिया है। व्रतक्रिया
का भी फल अनिष्ट है, क्योंकि व्रतक्रिया रागांशके कारण बन रही है और रागांशके फलमें
भी चाहे अनुदिश अनुत्तर विमानोमें स्थित हो जाय, लेकिन क्या उसकी वह स्थिति आदर्श
है? ज्ञानीके निर्णयमें तो जो सिद्ध भगवानकी स्थिति है वह आदर्श है। तो जो सिद्ध स्थिति
का साधन बने वह तो ज्ञानीको इष्ट हो सकता है, मगर जो संसारकी किसी भी गतिका
कारण बने वह बात ज्ञानीको इष्ट नहीं हो सकती। अब इस तरह यों कह लीजिए कि संसारी
प्राणीने पापसे पापक्रिया करके नरकादिक दुःख पाये हैं, कुयोनियोंमें जन्म पाया है तो वह
काम तो बुरा है ही, उन गतियोंमें उत्पन्न होना बुरा ही है। उन गतियोंमें उत्पन्न होनेका जो
कारण बना है वह भी बुरा है। अब यहाँ देखिये कि व्रतक्रिया करनेके फलमें देव हो गए,

ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं। तो ये सब समागम भी क्या भले हैं या बुरे ? संसारके ये सब पुण्य समागम पुण्यके फलमें प्राप्त होने वाले ये सब समागम, भोगके साधन यह भली बात है या बुरी बात ? सोचिये, इसने साधुसम जन्म मरणसे मुक्त होनेका ध्येय बनाया है और वह ध्येय सिद्ध नहीं हो पा रहा है विशिष्ट देव आदिक होनेमें, तो वह भी इस ज्ञानीको बुरा लगता है। तो अब इस व्रतका फल बुरा रहा कि अच्छा ? कोई होता है बहुत बुरा, कोई होता है मंझला बुरा और कोई होता है कम बुरा। चाहे कितना ही कम बुरा हो, है तो बुरा ही। जैसे किसी विपरीत अभिप्राय वाले पुरुषका उद्देश्य बुरे कार्यको ही उत्पन्न करेगा, इसी प्रकार रागांशसे होने वाली क्रिया, वह भी बुरे कार्यको उत्पन्न करने वाली है। इस कारण ज्ञानी कर्म और कर्मफलको चाहता नही है। उसकी व्रतक्रिया चाहकर नहीं हो रही है, किन्तु उस स्थितिमें एक यह उपाय करना पड़ रहा है।

अथाऽसिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात्।
कृते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चाऽसंभवो यतः ॥५६९॥

कर्मोदयकृत होनेसे व्रतक्रियाकी स्वतन्त्रसिद्धताकी असिद्धि—शंकाकारने यह शङ्का की थी कि ज्ञानी तो व्रतको स्वतंत्रतया करता है, किसीकी जवरदस्तीसे नही करता। खुद विचारता है कि मैं ऐसा करूँ, अमुक व्रत लूं, तो वह तो उसकी स्वतंत्र क्रिया हो गयी। ऐसा शंकाकारका आशय था। उसके समाधानमें कहा जा रहा है कि सम्यग्दृष्टिके व्रतक्रिया स्वतंत्रतासे सिद्ध है, यह बात संगत नहीं है, क्योंकि वह क्रिया भी कर्मके फलसे होती है, तो वह व्रतक्रिया कर्मका फल हुई। तो अब क्रिया स्वतंत्र तो न रही। आत्माकी शक्तिमात्रसे, कर्मोदय बिना, किसी परकी अपेक्षा किए बिना हो उसे स्वयंसिद्ध कहना चाहिए। अब यह व्रतक्रिया तो कर्मका फलरूप है, फिर उसे स्वतंत्र कहलाना तो असिद्ध है, क्योंकि कर्मोदय हुए बिना व्रतक्रिया नहीं हो पाती। तो कोई पाप कर्मोदय होता है, उससे असत् क्रिया बनती है। कहीं कुछ सत् कर्मोदय होता है, और-और उपयोगी उदय होता है, उसके साथ कुछ कषायोंके भी उपशम होते हैं, तो इस स्थितिमें व्रतक्रिया बनती है तो व्रतक्रिया आत्माकी स्वतंत्रतासे कहाँ सिद्ध है ? वह तो कर्मोदय हेतुको पाकर हुई है। इस कारण ज्ञानी पुरुष व्रतक्रियाको स्वतंत्रतासे करता है, ऐसा कहना भी संगत नहीं है।

यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चाऽऽत्मनः।
यावत्यस्ति क्रियानाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥५७०॥

क्रियाओंके औदयिकत्वकी सिद्धि—चाहे कोई पुरुष क्षीणमोह हो अथवा अक्षीणमोह हो याने किसीका मोह गल गया है, निर्मोह हो गया है, ऐसा पुरुष हो और किसीके मोह बना हुआ है, ऐसा पुरुष हो, सभीकी जो भी क्रियायें होंगी वे सब औदयिकी क्रियायें कहलायेंगी।

और बात तो जाने दो, अरहंत भगवानके विहार, दिव्यध्वनि आदिक भी औदयिकी क्रियायें है। जो भी कर्म शेष रहे है उनके उदयमें हुई हैं क्रिया। तो औदयिकी क्रियायें हों, लेकिन उनमें अन्तर है। किसी औदयिकी क्रियाके होनेपर बन्धफल नहीं होता और किसी औदयिकी क्रियाके होनेपर बन्धफल हुआ करता है। ज्ञानी पुरुपके जो क्रिया व्रत आदिक हुए हैं वे सब कर्मोदयकी प्रेरणासे हुए है। हाँ व्रतप्रसङ्ग जरूर-जरूर ऐसे हैं कि कुछ ज्ञानका प्रकाश था उस स्थितिमें कुछ उस प्रकारका कर्मोदय भी है, इस तरह उसकी व्रतक्रिया हुई है तो वह है औदयिकी क्रिया, और औदयिकी क्रिया किस तरह है, इसका और भी समर्थन सुनो—

पौरुषो न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥५७१॥

कर्मोदयके प्रसङ्गमें पौरुषकी दैवापेक्षता—देखिये—पुरुपका पुरुपार्थ कर्मोदयके प्रति यथेष्ट नही बन सकता है। जब तक जीवके कर्मोदय है तब तक वह जैसा चाहे वैसा पुरुपार्थ करे और वह सफल हो जाय, यह बात सम्भव नही है। तब जो कुछ कर्मोदयके इस प्रसङ्गमें बन रहा है, वहाँ जो भी क्रिया होती है उसे ऐसा न कहना चाहिए कि वह पुरुपार्थसे हुआ है, किन्तु वह तो कर्मोदयकी प्रेरणासे हुआ है। यहाँ संसारमें जो कुछ क्रियायें बनती है उनको पुरुषार्थ कहते हैं। लोकमें कहते हैं प्रवृत्तिको पुरपार्थ, मगर इस तरहका पुरुपार्थ कर्मसे होता है, इस कारण यह पुरुषार्थरूप क्रिया भी औदयिकी क्रिया कहलाती है। तो यों कर्मोदयसे जितनी भी क्रियायें होती हैं वे सब औदयिकी क्रियायें है, और औदयिकी क्रियायें होनेसे उसे यह नही कहा जा सकता कि यह सब चाह करके हुआ है। मिथ्यादृष्टि जीवके चाह उत्पन्न होती है और क्रिया भी बन जाय। सम्यग्दृष्टि जीवके किसी भी कर्म और कर्मफलमें अन्तः अभिलाषा नही है, इस कारण ज्ञानीकी क्रिया कर्मबन्धफल वाली नहीं है। यह बात जो कही गई है यह संगत है।

सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोप्युदितां क्रियाम्।
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥५७२॥

कर्मोदयप्रसव क्रियाको करते हुए भी निराकांक्ष ज्ञानी—उक्त विवेचनसे यह निर्णीत हुआ कि ज्ञानी पुरुष निःकांक्षित है और वह यद्यपि उदयरूप क्रियाको कर रहा है तो भी उसके अन्तः आकांक्षा नहीं है। जो निष्काम रूपसे कर्म करे तो निष्काम रूपसे किया गया कर्म रागके लिए नहीं हुआ करता। जैसे एक बात यहाँ प्रसिद्ध है कि निष्काम कर्म करना चाहिए। अन्य दार्शनिकोंके यहाँ भी यही बात कही गई है कि फल तो देना ईश्वरके हाथ है, लेकिन कर्म करना चाहिए तो निष्काम होकर करना चाहिए। तो ईश्वरकी जगह वहाँ भवितव्य लगा लेना चाहिए। फल तो भवितव्यके हाथ बात है। फलकी आकांक्षा न करते हुए

कर्म करना चाहिए । तो ऐसी बात यहाँ भी लगाओ कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको कर्मविपाक-वश कुछ कार्य करने पड़ते हैं तो उनकी आकांक्षा उसके नहीं है, इस कारण वह निष्कामकर्म-योग है । इससे सिद्ध है कि ज्ञानी जीव निःकांक्षित ही हुआ करता है । विरागियोंकी कोई कर्मोदयजन्य होने वाली क्रिया रागके लिए नहीं हुआ करती । वह इच्छारहित हुआ करती है ।

नाशंक्यं चास्ति निःकांक्षः सामान्योपि जनः क्वचित् ।
हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥५७३॥
यतो निष्कांक्षता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं बिना ।
नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदूत्यक्षमनिच्छतः ॥५७४॥

सम्यग्दर्शनके बिना निःकांक्षताकी असंभवताके विषयमें शंका समाधान—अब यहाँ शंकाकार कहता है कि कांक्षारहित होना यह तो एक साधारणसी भी बात बन सकती है । जैसे सम्यग्दर्शन न हो, ऐसा पुरुष भी कांक्षारहित देखा जाता है । अनेक मिथ्यादृष्टि जन जिन्होंने आत्माके सहज स्वभावका अनुभव न किया हो, ऐसे पुरुष भी कभी-कभी इच्छारहित हो जाते हैं । और बहुतसी घटनायें देखनेमें भी आती हैं । कोई पुरुष बड़े झंझटमें पड़ गया और उसमें उसको कुछ लाभ भी नहीं दिखता तो वह उसकी आकाँक्षाको छोड़ देता है । ऐसे अनेक पुरुष देखे जाते हैं । फिर यह क्यों कहा जाता है कि निःकांक्षित गुण सम्यग्दृष्टिके हैं ? सम्यग्दर्शनके बिना ही मिथ्यादृष्टि जनोंमें, साधारण जनोंमें यह निरखा जाता है कि उनके आकांक्षा नहीं है, तब इस बातपर जो जोर दिया गया है कि निःकांक्षितपना सम्यग्दृष्टिके ही होता है, यह बात तो युक्त नहीं जंचती । इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि यह सोचना कि सम्यग्दर्शनके बिना भी जीवमें निःकांक्षितपना आता है सो बात असंगत है । सम्यग्दर्शन हुए बिना निःकांक्षितका गुण आ ही नहीं सकता है, क्योंकि निःकांक्षितका अर्थ यह बताया गया है कि लौकिक जनोंके द्वारा पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें जो सुख माना जा रहा है उसकी इच्छा न होना और न सुखपूरक विषयोंमें प्रवृत्ति होना, यही तो निःकांक्षितपनेमें कहा गया है । तो इन्द्रियविषयोंके सुखोंकी इच्छा न होना, यह बात तब सम्भव है जब कि उससे बढ़कर कोई अतीन्द्रिय आनन्द अनुभवमें आया हो । अज्ञानी जनोंको अतीन्द्रिय आनन्दकी बात झाँकीमें भी नहीं आयी । जिसको अतीन्द्रिय आनन्दकी धुन नहीं है, ऐसे पुरुषको इन्द्रियसुखमें वांछा मिट जावे, यह बात असम्भव है । इससे सिद्ध है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके निःकांक्षितपना होता है । निःकांक्षितपनेका अर्थ है कि किसी भी संसारके सुखभोगकी चाह न होना । तो संसारके सुखों की चाहका अभाव हो जाना उसके असम्भव है जिसके अतीन्द्रिय आनन्दकी झाँकी मिली है और उसकी ओर ही जिसकी धुन बनी है यह धुन मिथ्यादृष्टिके नहीं है । भले ही कारणकूट

मिलनेपर किसी एक विषयकी आकांक्षा दूर कर दे, लेकिन अन्य विषयकी आकांक्षा वासना रूपमें पड़ी है, अथवा अन्यकी आकांक्षा करना होता है, जिसके आकांक्षा न रही विवशतासे या द्वेषवश, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवके यह तो नहीं कहा जा सकता कि उसके निःकांक्षित गुण है।

तद्वत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टि स नेच्छति।
दृङ्मोहस्य तथा पाकः शक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥५७५॥

मिथ्यादृष्टि जीवके अतीन्द्रियसुखकी इच्छाकी भी असंभवता—मिथ्यादृष्टि जीवने अतीन्द्रिय आनन्दको समझा ही नहीं है तो वह उसे चाहेगा ही क्या ? अतीन्द्रिय आनन्द उसे कहते हैं कि जहाँ इन्द्रियका कोई व्यापार नहीं, किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं भोगा जा रहा, न अन्यत्र कहीं विकल्प है, ऐसी समताकी स्थितिमें जो आत्मासे उत्पन्न होने वाला आनन्द है, निराकुलता है उसे कहते हैं अतीन्द्रिय आनन्द। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्दको मिथ्यादृष्टि नहीं चाहता, क्योंकि उसके दर्शनमोहका उदय है, बुद्धि ही बिगड़ गई है, दृष्टि ही बदली हुई है। भले ही कुछ लेश्या विशुद्ध होनेसे बाह्य पदार्थोंमें उसकी आकांक्षा या तृष्णा तीव्र नहीं है, लेकिन अज्ञानी जीवके वासनाका अभाव होना सम्भव नहीं हो सकता है। तो मिथ्यादृष्टि जीवके दर्शनमोहनीयकर्मके उदयके कारण अतीन्द्रिय आनन्दकी झाँकी नहीं होती, न उसे वह ध्येय बना पाता। दर्शनमोहनीयका ऐसा ही विचित्र विपाक है कि इस जीवकी बुद्धि या दृष्टि ही अपनेसे विपरीत हो जाती है। वह निरखता है बाहरमें ही अपना सब कुछ है, सो अन्यमें अपनी एकता समझता है और सहजस्वरूपमें जैसा ज्ञानानन्दस्वरूप है उसको नहीं परख पाता है।

उक्तो निष्कांक्षितो भावो गुणः सद्दर्शनस्य वै।
सस्तु का न क्षतिः प्राक्चेत्परीक्षा क्षमता मता ॥५७६॥

सम्यग्दृष्टिके निःकांक्षित गुणका समर्थन—यहाँ तक सम्यग्दर्शनके गुणोंमें निःकांक्षित गुणका वर्णन किया गया है। ऐसा यह निःकांक्षित गुण सम्यग्दृष्टिका एक अविनाभावी गुण है। यह परीक्षासिद्ध बात है। युक्तिसे भी यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि जीवके इन्द्रियविषयोंमें आकांक्षा रंच भी नहीं रहती है। यदि रहे तो वह सम्यग्दृष्टि क्या है ? जिसको संसारके संकटोंसे छूटकर अपने आपके विशुद्धस्वरूपमें समानेकी धुन लगी हो उसे अन्तरङ्गसे किसी बाह्य विषयमें आकांक्षा जगे, यह कैसे संभव हो सकता है ? और यदि कदाचित् प्रवृत्ति होती है उसकी तो समझना चाहिए कि ऐसा ही कोई चारित्रमोहका विपाक है जिससे प्रवृत्ति करनी होती है, लेकिन अन्दरसे वह करना नहीं चाहता। उसकी स्थिति एक इस भाँति होती है कि जैसे कैदीको सिपाहियोंकी प्रेरणाके कारण और उनके दंड दिये जानेपर उस चोटको न

सह सकनेके कारण चक्की पीसनी पड़ती है, कार्य करना पड़ता है, किन्तु उन कार्योंको करते हुए भी उन कार्योंके प्रति क्या उसकी आकांक्षा है ? शब्दभेदसे भी यह भेद है कि इच्छा और आकांक्षा। इच्छा तो तत्कालकी इच्छा जो कि विवशतामें भी हो और स्ववशतामें भी हो, किन्तु आकांक्षा स्ववशमें हुआ करती है। कर्मविपाककी तो विवशता है। ऐसी आकांक्षा सम्यग्दृष्टिके नहीं होती, किन्तु मिथ्यादृष्टिके होती है। तो दर्शनमोहनीयका अनुदय है सम्यग्दृष्टिके तो उसके ऐसी आकांक्षा सम्भव ही नहीं है।

अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः।
सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥५७७॥

निर्विचिकित्स गुणके वर्णनका संकल्प—निःकांक्षित गुणके वर्णनके बाद अब निर्विचिकित्सा नामक गुणका स्वरूप कहा जा रहा है। सम्यग्दर्शनका यह एक उच्च गुण है। निर्विचिकित्सा गुण भी युक्तिसे, स्वानुभवसे और आगमसे सिद्ध होता है। निर्विचिकित्सा गुण क्या है, यह बात आगेके श्लोकोंमें बतायी जायगी, पर शब्दसे अर्थ यह है कि विचिकत्सा न होना सो निर्विचिकित्सा है। निर्विचिकत्स पुरुष वह है जहाँ विचिकित्सा न रहे। तो निर्विचिकित्साका स्वरूप स्पष्ट रूपसे तब समझमें आयगा जब विचिकत्साका स्वरूप ज्ञात हो जाय। सो अब विचिकित्साका स्वरूप बतला रहे हैं।

आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्धया स्वात्मप्रशंसनात्।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकत्सा स्मृता ॥५७८॥

विचिकित्साके लक्षणमें आत्मगुणोत्कर्षबुद्धि व परापकर्षबुद्धिकी प्रमुखता—इस श्लोक में विचिकित्साका ऐसा अनूठा लक्षण बताया है कि जिससे विचिकित्साका जितना विस्तार है उसका आधार समझा जाय। विचिकित्साका अर्थ है अपनेमें अधिक गुण समझकर अपनी प्रशंसा करना और दूसरेकी हीनता सिद्ध करनेकी बुद्धि रखना, इसको विचिकित्सा कहते हैं। प्रसिद्ध तो विचिकित्साका अर्थ ग्लानि है। ग्लानि भी कब होती है जब कभी अपने आपको अधिक गुणी समझा जा रहा हो और दूसरेकी हीन समझा जा रहा हो। कोई रोगी पुरुष है, उससे ग्लानि की जा रही है तो वासनामें यह जान रहा है कि मैं ऐसा साफ हूं और दूसरेकी उच्चता ध्यानमें नहीं रहती है, ऐसी स्थितिमें विचिकत्सा होती है। विचिकित्साके ढंगकी बात कहाँ तक बतायी जाय ? किसी पुरुषको गुरुमें विचिकित्सा हो सकती है। जो गुरुकी सेवा करनेमें अपनी ही ग्लानि समझे। अरे गुरुवोंकी बात तो दूर रही, भगवानकी पूजा करते हुए भी मोही जनोंके चित्तमें यह वासनामें बैठा हुआ है कि बड़े हैं तो हम हैं, और हम इन भगवानको बहका लेते हैं, इनमें कोई चतुराई नहीं है, हम तो बड़े चतुर हैं तभी तो देखो हम उनकी भक्ति करके महावीरजी में या और किसी क्षेत्रमें जाकर मुकदमोंकी जीत कर लेते या

सम्पत्ति बढ़ा लेते हैं। इस तरहकी वासना उनको वहाँ भी नहीं टूटती है। कुछ विचिकित्सा की परिणतिकी बात एक अङ्गुठी ही भीतरमें समायी है मोही जीवोंके। कहनेका अर्थ यह है कि ग्लानिका आधार भी अपनेको गुणाधिक समझना है। जिसके चित्तमें यह बात आयी कि हमें तो पद-पदपर अपनी नम्रता कराना है, अच्छे काम करते हुए। बुरे काम करके नीचे गिरना तो इस जीवकी अनादिकालकी टेक है। किन्तु अपने गुणोत्कर्षके लिए हमें अपनी नम्रता करना है, इस तरहका कोई भाव रखता है तो वह विचिकित्सा दोषको दूर कर सकने वाला होता है। तो यहाँ विचिकित्साका स्वरूप कहा गया है कि अपनेको अधिक गुणी समझ-कर अपनी प्रशंसा करना। प्रशंसा वचनोंसे ही नहीं की जाती, किन्तु कायकी चेष्टाओंसे भी होती है। अपनेमें अपनी श्लाघा और दूसरोंके अपकर्षमें बुद्धि जाना, इसका नाम है विचि-कित्सा।

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः।
गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥५७९॥

विचिकित्सारहित भावके चिह्नोंके कथनका संकल्प—विचिकित्साका लक्षण ऊपर श्लोकमें कहा गया है। ऐसी विचिकित्सा जहाँसे निकल गई हो उस पुरुषको कहते हैं निर्विचि-कित्सक। विचिकित्सासे पृथक् हुए पुरुषको निर्विचिकित्सक कहते हैं। ऐसी यह निर्विचिकित्सा सम्यग्दृष्टि जीवका उच्च गुण है। सो ऐसी निर्विचिकित्सा जिस सम्यग्दृष्टि जीवके प्रकट हो गई है उसकी वृत्ति किस प्रकार हुआ करती है, उसका वर्णन करते हैं।

दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्राऽसाताघृणास्पदे।
यन्नादयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥५८०॥

निर्विचिकित्सकके दुःखित जीवमें अदयापरताका अभाव—निर्विचिकित्सक पुरुष वह है जो पुरुष दुःखी पुरुषोंमें भी अदयाका भाव नहीं रखता। जिन जीवोंके तीव्र असाता वेद-नीयका उदय है और उसके कारण जो निन्द्य सावनरूप बन रहा है ऐसे दुःखी पुरुषके बारेमें अदयाबुद्धि न होना यह निर्विचिकित्सा कहलाती है। इस स्पष्टीकरणमें भी कैसा सुन्दर आधार बताया गया है कि दुःखी पुरुषमें अदयाबुद्धि न होना सो निर्विचिकित्सा है। गुरुजनों की सेवा लोग भक्तिवश करते हैं, पर उस भक्तिके साथ दयाका भी मिश्रण है। दयाकी बात कहते हुए कुछ लोग यों संकोच करते हैं कि जो हमसे बड़े पुरुष हैं उनके प्रति यह कहना कि उनपर दया करके हम सेवा करते हैं, तो यह जरा युक्तिमें ठीक नहीं बैठता है और जब कहते हैं कि हम उनकी सेवाभक्ति करते हैं तो अच्छा लगता है। बात तो सही है कि गुरुजनों की सेवा भक्ति बिना नहीं होती, लेकिन उस गुरुभक्तिके साथ दया भी मिली हुई है। जब कोई पुरुष व्याधिसे बेचैन हो रहा हो और उसकी व्यथा स्पष्ट बड़े क्रन्दनरूप हो रही हो तो

ऐसी व्यथाको देखकर भीतरमें दया बुद्धि भी होती है और भक्ति तो उसकी मूल थी ही। तो उस सेवामें भी दयाका प्रसंग पड़ा हुआ है, अतएव यहाँ कह रहे हैं कि जिसके असाताका उदय है और जिसके कारण कोई ग्लानिरूप अवस्था आ गयी है तो ऐसे दुःखी पुरुषमें अदयारूप चित्तका न होना इसे कहते हैं निर्विचिकित्सा।

नैतत्तन्मनस्यज्ञानस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम्।
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदाँ पदम् ॥५८१॥

निर्विचिकित्सात्माके स्वको सम्पदाधाम व परको विपद्धाम माननेके अज्ञानका अभाव—सम्यग्दृष्टि जीवके विचार किस प्रकार चलते हैं—यह बात बतानेसे पहिले अज्ञानी जनोंकी चित्तवृत्तिकी बात देखिये और उसे समझकर फिर निष्कर्ष यों निकालना कि इस तरहकी दुर्भावना सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं है, इस कारण उसके निर्विचिकित्सा गुण प्रकट होता है। अज्ञानी जन यह वासना बनाये हुए हैं कि मैं सम्पदाका घर हूं और ये बेचारे दीन विपत्तियोंके घर हैं। जिनको महापुरुषोंपर भक्ति नहीं उमड़ी है, और वे कदाचित् असाताके उदयसे व्याधि आदिकमें घिर गए हैं तो उन्हें देखकर ऐसा विश्वास तो होता है कि देखो—मैं कितना सुखी हूं, स्वस्थ हूं और सम्पत्तियोंका घर हूं और ये देखो कैसे विपत्तियोंके घर बने हुए हैं? अज्ञानी जीवको इस शरीरके अन्दर वसी हुई शुद्ध आत्मज्योतिका पता नहीं है कि कोई शरीरसे बड़ा व्याधिग्रस्त होकर भी भीतरमें वह अपने अन्तःस्वरूपके आनन्दको भोग रहा है। वह तो यों ही निरखता है कि मैं तो सम्पत्तियोंका घर हूं, स्वस्थ हूं, बहुत अच्छा हूं और यह दीन बेचारा कितनी विपत्तिमें पड़ा हुआ है? ऐसी दृष्टि सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं है, यह अज्ञानभरी दृष्टि है। ज्ञानी जीवको तो उसके रत्नत्रय गुणपर दृष्टि पहुंचती है। जिस भक्तिके प्रसादसे प्रेरित होकर वह उनकी सेवामें निरत रहता है। तो निर्विकित्सा गुणमें यह अज्ञान नहीं बसा है कि कोई यह समझे कि मैं तो सम्पत्तियोंका घर हूं और यह दीन विपत्तियोंसे घिरा हुआ है, यह मेरे समान नहीं हो सकता, ऐसा अज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं बसा है।

प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः।
प्राणिनः सदृशा सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥५८२॥

निर्विचिकित्सात्माके सर्व प्राणियोंमें स्वरूपसाम्यका परिचय—उक्त श्लोकमें बताया हुआ अज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होता। तो किस प्रकारका ज्ञान होता है इस प्रसंगमें, सम्यग्दृष्टि जीवकी यह बात इस श्लोकमें कही जा रही है। ज्ञानी जीवके ऐसा ज्ञान होता है अथवा होना ही चाहिए कि कर्मके उदयसे जो ये त्रस स्थावर आदिक नाना आकारोंमें, अवस्थाओंमें प्राणी आये हैं ये सभी प्राणी एक समान हैं। जिसने अपने अन्तःप्रकाशमान उस सहज चैतन्यस्वभावका ज्ञान द्वारा अनुभव किया है उस पुरुषको यह विदित है कि इस आत्मा

का मूलस्वरूप, सहजस्वरूप इस तरह चैतन्यस्वभावमात्र है। तब वह बाहरमें भी सब प्राणियोंमें निरखता है कि यह चैतन्यस्वरूप सर्व प्राणियोंमें है। इस चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिसे तो सब प्राणी एक समान हैं, ऐसी समानता जिसने निर्णीत कर ली है, ऐसे पुरुषमें मूलतः यह विचार नहीं आ सकता कि मैं श्रेष्ठ हूं और मेरे समान यहां कोई दूसरा कैसे हो सकता है ? यह ज्ञानी जीव दोइन्द्रिय पशु-पक्षी आदिक अनेक जीवोंको देखकर भी यह दृष्टि रखता है कि स्वरूपतः सर्व जीव सदृश हैं। मैं किसी जीवसे कोई विशिष्ट स्वरूप वाला होऊँ और ये सब मेरे स्वरूपसे हीन स्वरूप वाले हों, ऐसा नहीं है, किन्तु जो वर्तमान स्थिति उत्पन्न हुई है वह सब कर्मविपाकसे उत्पन्न हुई है, यह सब कर्मोंका नाट्य है। जितनी जो कुछ भी ये विषमतायें नजर आ रही हैं वे सब कर्मके नाच हैं। स्वरूप तो सर्वत्र वही एक है जो कि सहज सुन्दर है, ऐसी दृष्टि मिथ्यादृष्टि पुरुषके नहीं होती है।

यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात्।
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना ॥५८३॥

पर्यायभेद होनेपर भी स्वरूपसाम्यकी अविचलताका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—उक्त बात को इस तरह दृष्टान्त द्वारा समझ लीजिए कि जैसे किसी शूद्री, चाण्डालिनीके दो लड़के एक साथ उत्पन्न हुए, अब उस शूद्रीका परिवार बहुत निर्धन था। उसे बड़ा खेद हुआ कि जितने अभी परिवारके लोग हैं उनके ही खानेको पूरा भोजन नहीं मिल पाता, सब अधपेट भूखे रहते हैं तो इन बच्चोंको हम क्या खिलायेंगे, इनकी कौन सम्हाल करेगा ? या अन्य किसी कारणवश मानो वह शूद्री उन बच्चोंको पृथक्-पृथक् जगहोंमें छोड़ आयी। वहांसे कोई एक शूद्र आदमी जो कि निःसंतान था, गुजरा व एक बालकको देखा तो बड़ा खुश हुआ और उठाकर अपने घर ले आया। दूसरे बालकको मानो कोई ब्राह्मण पा गया। वह ब्राह्मण भी निःसंतान था। वह भी एक बच्चा अपने घर उठा लाया। अब दोनों बच्चे दोनों घरोंमें पल-पुषकर तैयार हो रहे थे। शूद्रगृहस्थ बालक तो मद्य-मांस वगैरा अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन करता था, और विप्रगृहस्थ बालक इनका विरोध करता था तथा पूजा-पाठ, धर्म-कर्म आदि करता था। अब देखिये—एक ही माँ के दो बेटे दो जगह पले-पुसे तो बाहरी रूपसे उनकी क्रियाओंमें कितना अन्तर दिखाई पड़ रहा है ? एक बालक तो मद्य आदिक गंदी चीजोंसे नहाया करता है याने मद्यादिका खूब सेवन करता है और दूसरा उनसे छिः छिः करता है। इस तरहसे उनकी वृत्तियोंमें अन्तर आ गया, पर कोई जन्मकी बात समझे तो यह कहा जायगा कि दोनों ही बालक शूद्रीके हैं, दोनों ही जन्मजात शूद्र हैं। तो जैसे यहाँ भ्रमसे मान लिया गया कि यह अच्छा है, यह बुरा है, इसी प्रकार प्रकृत दृष्टान्तमें घटाओ—देखिये—दृष्टान्त यहाँ कुछ विपरीत लग रहा होगा। दृष्टान्तमें तो यह बताना था कि ये सब जीव स्व-

रूपसे बड़े विशुद्ध समान हैं और बाहरमें अन्तर पड़ गया है बिगाड़का, और दृष्टान्त यहाँ यों आया है कि जन्मसे तो ये बालक शूद्र हैं, खराब हैं और अन्तर आ गया है—एक अच्छा काम कर रहा, एक बुरे काम कर रहा, तो मूलमें अच्छे बुरेकी दृष्टि न देकर दृष्टान्तमें यह निहारता है कि मूलमें तो समानता है और व्यवहारमें अन्तर है। इसी तरह इन सब जीवों में मूल स्वरूपसे तो समानता है और व्यवहारमें अन्तर है कि कोई त्रस है, कोई स्थावर है, यह दृष्टान्त पुण्य-पापकर्मके सम्बन्धमें सही घटित हो जाता है कि जैसे मूलमें बालक खराब है और व्यवहारमें अन्तर है, ऐसे ही पुण्य-पापकर्म ये दोनों ही अज्ञानरूप हैं, खराब हैं और व्यवहारमें उनके फलमें अन्तर है। यहाँ दृष्टान्तमें इतना ही ढंग लेना है कि मूलमें समान होकर भी व्यवहारमें सान्तर हो गया। इसी तरहसे ये समस्त जीव मूलमें समान होकर भी ये व्यवहारमें नाना जीव योनियोंके भेदसे सान्तर हो गये। तो ज्ञानी जीव तो यों ही निरख रहा है सभी जीवोंको कि ये सब जीव मूलतः एक समान हैं।

जले जम्बालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम्।
अहंता चाऽविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसः ॥५८४॥

स्वरूपसम संसारी प्राणियोंमें कर्मसम्बन्धके कारण परिणतियोंकी विभिन्नता—जल में जिस तरह काईका सम्बन्ध होता है तो जल तो जल ही है, काई अपवित्र है और उस अपवित्र काईके सम्बन्धसे जल भी उस प्रकार परिणम रहा है या प्रतीत हो रहा है। इसी तरह जीवमें जब तक कर्मका सम्बन्ध है तब तक इस कर्ममलीमस जीवके अविशेषतासे अहं-बुद्धि लगी हुई है अर्थात् परपदार्थमें जो निज आत्मतत्त्वमें विशेषस्वरूप न समझनेके कारण परमें आपाबुद्धि लग गयी है कि यह पर है सो मैं हूं, अर्थात् इस मोही जीवने अन्य पदार्थोंमें आपा मान रखा है। देखिये विचिकित्साका आधार यह है कि जो अपनी पर्याय बन रही है उसमें आपाबुद्धि हो रही है। मैं मनुष्य हू, मैं ऐसी पोजीशन वाला हूं, इस प्रकार परतत्त्वमें जो आत्मबुद्धि लग गयी यह विचिकित्साका आधार बन रहा है तो मोही जीवके इस तरह की आत्मबुद्धि लगी है, इस तरह उसकी विचिकित्सा है, पर पर्यायमें आत्मबुद्धि न होनेसे और सब प्राणियोंको समान समझनेसे सम्यग्दृष्टि पुरुषके निर्विचिकित्सा गुण ही प्रकट होता है।

अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः।
यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित् ॥५८५॥

सुदृष्टिके निर्विचिकित्स गुणकी अवश्यंभाविता—यह निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टि का ही गुण है, किन्तु सम्यग्दृष्टिको छोड़कर अन्य जगह यह निर्विचिकित्सा गुण प्रकट नहीं होता। सम्यग्दृष्टियोंमें निर्विचिकित्सा नहीं आती। यद्यपि कुछ इस गुणके सम्बन्धमें बात

ऐसी लग रही है तो क्या सम्यग्दृष्टि जीव सदा ऐसे ही विकल्पमें रहता है कि सब जीव समान हैं ? मैं जिस स्वरूपमें हूं उस स्वरूपसे यह है, मुझसे यह हीन नही है, क्या ऐसे विकल्प को करते ही रहना होगा ? निर्विचिकित्साका ऐसा व्यावहारिक परिणमन सम्यग्दृष्टि ऐसा करे ही, ऐसी बात नहीं है, किन्तु उसे इस प्रसंगमें यदि कोई विकल्प आये वह तो व्यवहारमें वढ़े तो उसे निर्विचिकित्सा गुण आयगा, विचिकित्साका भाव न आयगा । तो यह निर्विचिकित्सा सम्यग्दृष्टि जीवको छोड़कर अन्यत्र नहीं पायी जाती है, इस कारण यह सम्यग्दृष्टिका ही गुण है ।

कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः ।
सद्विशेषेऽपि सम्मोहाद् द्वयोरैक्योपलब्धितः ॥५८६॥

पर्यायरत जीवोंमें निर्विचिकित्स गुणकी असंभवता—निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टि के प्रकट नहीं होता, इसीके समर्थनमें इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि अज्ञानीके यह गुण क्यों प्रकट नहीं होता है ? जड़ और चेतनमें यद्यपि है तो परस्परमें अन्तर जड़में, जड़ता है, चेतनमें चेतना है, दोनोंमें महान अन्तर है, लेकिन अंतर तो जरूर है, पर मोहवश अज्ञानी जीव इन दोनोंको एक समझमें रखता है । तो इन दोनोंको एककी जो उपलब्धि हो रही है अर्थात् कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए इस रागपर्यायमें जो मुग्ध हो रहा है तो ऐसे स्वरूपसे च्युत हुए जीवके निर्विचिकित्सा गुण कहांसे प्रकट हो सकता है ? यहाँ यह बताया गया है कि चेतन और जड़को एक समझने वाले कर्मकी पर्यायमें उसकी बुद्धि गई है । रागादिक भाव केवल चेतनमें उत्पन्न नही होते और न कर्ममें उत्पन्न होते हैं । कर्मका उदय निमित्त पाकर जीवकी जो झांकी बनती है तो ये सब कर्मके व्यपदेश कहलाते हैं । इनमें इसका उपयोग ठहरा हुआ है, इस कारण अज्ञानी जीवको निर्विचिकित्साकी झांकी नहीं आ सकती । उन सब जीवों की इस सहजस्वरूपकी समानताका वे विश्वास नहीं कर सकते, इस कारण अज्ञानी जीवके निर्विचिकित्सा गुण प्रकट नहीं हो सकता ।

इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
नाविवक्षो हि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ॥५८७॥

सम्यग्दृष्टि जीवके निर्विचिकित्स गुणका समर्थन—उक्त प्रकारसे सम्यग्दृष्टिके यह सब गुण युक्तिपूर्वक प्रतिपादित किया है । यह निर्विचिकित्सा गुण निःशङ्कितता व निराकांक्षता की भांति सम्यग्दृष्टिका निसर्गज गुण है । ज्ञानी पुरुष इन गुणोंको सम्यग्दर्शनके साथ होनेको अवश्यंभावी बताते हैं । हाँ यहाँ धर्मात्मावोंके प्रसङ्गमें व्यवहारतः आने वाले निर्ग्लानि सेवा करने आदिकी अवश्यंभाविता नहीं भी है तथापि निश्चयदृष्टिसे परखा गया शंकानुपलम्भ, भोगाकांक्षानुपलम्भ व विचिकित्सानुपलम्भरूप गुणकी तो सम्यग्दर्शनके साथ अवश्यंभाविता तो

निश्चित ही है। यदि कोई इन गुणोंकी विवक्षा न करे तो कहीं यह अविवक्षा दोषके लिये न बन जावेगी और कोई इन गुणोंकी विवक्षा करे तो कहीं यह न समझ बैठना कि सम्यग्दृष्टि में गुणोंकी प्रतिष्ठा की जा रही है ? सम्यग्दृष्टिमें तो ये गुण सम्यक्त्वके साथ ही आविर्भूत हो चुके हैं। भला सोचिये—होगा कोई क्या ऐसा सम्यग्दृष्टि जो स्वरूपमें शङ्कित हो या भयभीत हो, क्या होगा कोई ऐसा सम्यग्दृष्टि जो इन्द्रियविषयोंके लिये लार टपकाता हो, क्या होगा कोई ऐसा सम्यग्दृष्टि जो अपना स्वरूप अन्य जीवसे गुणाधिक समझता हो ! निःशङ्कता, निराकांक्षता व निर्विचिकित्सा तो सम्यग्दृष्टिमें होती ही है। अहा जयवंत होओ सम्यग्दृष्टिका पवित्र अन्तर्विलास।

॥ इति ॐ शान्तिः ॥

॥ पञ्चाध्यायी प्रवचन एकादश भाग समाप्त ॥

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित "पञ्चाध्यायी प्रवचन" का यह एकादश भाग सम्पन्न हुआ।

पंचाध्यायी प्रवचन द्वादश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

अस्ति चामूढ़दृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी ।
ययालंकृतवपुष्येतद्भाति सद्दर्शनं नरि ॥५८८॥

सम्यग्दृष्टिके अमूढ़दृष्टि गुणका निर्देश—इससे पूर्व सम्यग्दर्शनका माहात्म्य, स्वरूप और सम्यग्दर्शनमें क्या-क्या चमत्कार होते हैं, उनका वर्णन करके सम्यग्दर्शनके अंगभूत निःशंकित, निःकांक्षित और निर्विचिकित्सा अंगोंका वर्णन किया गया। अब अमूढ़दृष्टि अङ्ग का वर्णन चल रहा है। अमूढ़दृष्टि गुण सम्यग्दर्शन सहित होता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के अमूढ़दृष्टि नामक गुण अवश्यंभावी है। अमूढ़दृष्टि गुणसे विभूषित जो आत्मा है उसमें सम्यग्दर्शन शोभायमान होता है। अमूढ़दृष्टि न हो अर्थात् मूढ़दृष्टिपना हो और सम्यग्दर्शन-पना हो यह बात असम्भव है। इस कारण सम्यग्दर्शनके साथ अमूढ़दृष्टिका होना अवश्यंभावी है और इसी गुणके कारण इस सम्यक्त्वकी शोभा होती है। अमूढ़दृष्टिका अर्थ क्या है और इसमें किन-किन बातोंका प्रतिषेध किया गया है, इस सबका वर्णन आगेके श्लोकमें आयगा, जिसमें सर्वप्रथम मूढ़दृष्टि व अमूढ़दृष्टिका लक्षण कहा जा रहा है।

अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढ़दृष्टिः स्वलक्षणात् ।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोस्त्यमूढदृक् ॥५८९॥

अतत्त्वमें तत्त्वश्रद्धानरूप मूढ़दृष्टिका सम्यग्दृष्टि जीवमें अभाव—अतत्त्वमें तत्त्वस्वरूप का श्रद्धान होनेका नाम मूढ़दृष्टि है। मूढ़ कहते हैं मोहित दृष्टिको। मिथ्यात्वकर्मके उदय से जिसकी दृष्टि विपरीत परिचयमें मोहित हो गयी है उसे कहते हैं मूढ़दृष्टि। मूढ़दृष्टिमें यह बात होनी प्राकृतिक है कि अतत्त्वमें वह तत्त्वका श्रद्धान कर लेता है। जैसे जीवको शरीर रूप माना, जीवको क्रिया माना। मैं दूसरेको सुखी कर सकता हूं, दुःखी कर सकता हूं, मार सकता हूं, जीवित कर सकता हूं आदिक धारणायें मानीं तो यह उसके जीवतत्त्वके विषयमें विपरीत श्रद्धान कहलाया। इसी प्रकार कोई शरीरको ही आपा माने, शरीरके उत्पन्न होनेमें

अपनी उत्पत्ति माने, शरीरके नष्ट होने को अपना विनाश माने, यह सब अजीव तत्वमें उसका विपरीत श्रद्धान कहलाता है। रागादिक भावको जो थोड़ा भी विवेकपूर्वक सोचेगा उसे दुःखदायी प्रतीत होगा, लेकिन ऐसा दुःख देने वाले रागादिक भावोंको ही आपा समझना और उनमें चैन मानना सो आस्रवतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है। रागादिकसे दुःखकी वेदना न सह सकनेके कारण प्रयत्न करेगा मिथ्यादृष्टि तो रागादिकको बढ़ानेका ही प्रयत्न करेगा और रागादिककी वृद्धिमें ही चैन मानेगा। यों अहितकर रागादिक भावोंमें ही विश्रामकी मंशा रखने वाले जीवको मूढ़दृष्टि कही जाती है। पुण्यफलकी बातें सुनकर अज्ञानियोंके यह संकल्प बन जाता है कि मेरे पुण्यबंध हो। पुण्यबंधको हितकारी मानना और पुण्योदय आनेपर उसके फलमें हर्ष मानना और कदाचित् पापका उदय आ जाय तो उसके उदयमें जो खोटे साधन मिलते हैं, उनमें अपना विनाश मानना, विषाद मानना—यह सब बन्धतत्त्वके विषयमें इस जीवका विपरीत श्रद्धान कहलाता है। उनमें जीव यह नहीं समझ पाते कि आत्माका हित करने वाला भाव तो शुद्ध भाव है। आत्माका जैसा सहजसिद्धस्वरूप है उस स्वरूपका उस ही रूप श्रद्धान हो और इस ही प्रकार अन्तः उपयोगका पौरुष हो तो जीवका हित हो सकता है। इस बातको मिथ्यात्वके उदयमें समझना असम्भव है। तो संसारके प्राणी इस सम्बर भावको नहीं अपना सकते हैं और कदाचित् ज्ञानी जनोंकी कोई व्रतक्रिया आदिक देखे या उनका वैराग्य आदिक देखे तो उसको वे दुःखदायी समझते है और दूसरोंपर भी ऐसा ही भाव रखते हैं कि देखो बेचारे कितना कष्ट सह रहे हैं और अपने आपको तो शरीरिक कष्ट मानकर सहनेका भाव ही नहीं जगता। ऐसे संवर तत्त्वके बारेमें इस मिथ्यादृष्टि जीवको उल्टा श्रद्धान रहता है। जीवके दुःखका कारण इन कर्मोका भार है। इन कर्मोके विपाकमें इस जीवको नियमतः संक्लेश होता, क्लेश होता, ऐसे कर्मोको दूर कर देना इस ही में तो आत्माका हित है। और ये कर्म दूर होते हैं इच्छाओंके अभावसे। जब तक इच्छा है, रागादिक भाव हैं तब तक प्रकृत्या इन कर्मोका सम्बन्ध रहता है और उस कर्मफलसे विपरीत हुए ये प्राणी चतुर्गतिमें भ्रमण करते हैं। तो इच्छाके अभावमें इस जीवका इतना महान कल्याण है, किन्तु जिस निर्जराभावसे जीवका परमहित है उसे यह नहीं करना चाहता, उससे यह दूर रहता है, ऐसा निर्जरा तत्त्वके सम्बन्धमें विपरीत श्रद्धान होना, इसे कहते हैं मूढ़दृष्टि। मोक्ष को किसीने यों समझ भी रखा हो कि बड़ा सुख है, और सुखका अभिलाषी कोई संसारी प्राणी उस मोक्षकी भी चाह करे तो वह इसी प्रकार सुखकी चाह करता है कि जैसे संसारके सुख देखे जा रहे हैं। उनको देखकर अनुमान करते है कि इन सुखोंसे अनगिनते सुख है मोक्ष में, सो इस प्रकारका श्रद्धान मोक्षका श्रद्धान ही क्या हुआ? वह तो विपरीत श्रद्धान हुआ। और जो वास्तविक मोक्षका स्वरूप है, जहाँ निराकुलता है, किसी प्रकारका क्लेश नहीं है

पंचाध्यायी प्रवचन द्वादश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

अस्ति चामूढ़दृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी ।
ययालंकृतवपुष्येतद्भाति सद्दर्शनं नरि ॥५८८॥

सम्यग्दृष्टिके अमूढ़दृष्टि गुणका निर्देश—इससे पूर्व सम्यग्दर्शनका माहात्म्य, स्वरूप और सम्यग्दर्शनमें क्या-क्या चमत्कार होते हैं, उनका वर्णन करके सम्यग्दर्शनके अंगभूत निःशंकित, निःकांक्षित और निर्विचिकित्सा अंगोंका वर्णन किया गया। अब अमूढ़दृष्टि अङ्ग का वर्णन चल रहा है। अमूढ़दृष्टि गुण सम्यग्दर्शन सहित होता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के अमूढ़दृष्टि नामक गुण अवश्यंभावी है। अमूढ़दृष्टि गुणसे विभूषित जो आत्मा है उसमें सम्यग्दर्शन शोभायमान होता है। अमूढ़दृष्टि न हो अर्थात् मूढ़दृष्टिपना हो और सम्यग्दर्शनपना हो यह बात असम्भव है। इस कारण सम्यग्दर्शनके साथ अमूढ़दृष्टिका होना अवश्यंभावी है और इसी गुणके कारण इस सम्यक्त्वकी शोभा होती है। अमूढ़दृष्टिका अर्थ क्या है और इसमें किन-किन बातोंका प्रतिषेध किया गया है, इस सबका वर्णन आगेके श्लोकमें आयगा, जिसमें सर्वप्रथम मूढ़दृष्टि व अमूढ़दृष्टिका लक्षण कहा जा रहा है।

अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढ़दृष्टिः स्वलक्षणात् ।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोस्त्यमूढदृक् ॥५८९॥

अतत्त्वमें तत्त्वश्रद्धानरूप मूढ़दृष्टिका सम्यग्दृष्टि जीवमें अभाव—अतत्त्वमें तत्त्वस्वरूप का श्रद्धान होनेका नाम मूढ़दृष्टि है। मूढ़ कहते हैं मोहित दृष्टिको। मिथ्यात्वकर्मके उदय से जिसकी दृष्टि विपरीत परिचयमें मोहित हो गयी है उसे कहते हैं मूढ़दृष्टि। मूढ़दृष्टिमें यह बात होनी प्राकृतिक है कि अतत्त्वमें वह तत्त्वका श्रद्धान कर लेता है। जैसे जीवको शरीर रूप माना, जीवको क्रिया माना। मैं दूसरेको सुखी कर सकता हूं, दुःखी कर सकता हूं, मार सकता हूं, जीवित कर सकता हूं आदिक धारणायें मानीं तो यह उसके जीवतत्त्वके विषयमें विपरीत श्रद्धान कहलाया। इसी प्रकार कोई शरीरको ही आपा माने, शरीरके उत्पन्न होनेमे

अपनी उत्पत्ति माने, शरीरके नष्ट होने को अपना विनाश माने, यह सब अजीव तत्वमें उसका विपरीत श्रद्धान कहलाता है। रागादिक भावको जो थोड़ा भी विवेकपूर्वक सोचेगा उसे दुःखदायी प्रतीत होगा, लेकिन ऐसा दुःख देने वाले रागादिक भावोंको ही आपा समझना और उनमें चैन मानना सो आस्रवतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है। रागादिकसे दुःखकी वेदना न सह सकनेके कारण प्रयत्न करेगा मिथ्यादृष्टि तो रागादिकको बढ़ानेका ही प्रयत्न करेगा और रागादिककी वृद्धिमें ही चैन मानेगा। यों अहितकर रागादिक भावोंमें ही विश्रामकी मंशा रखने वाले जीवको मूढ़दृष्टि कही जाती है। पुण्यफलकी बातें सुनकर अज्ञानियोंके यह संकल्प बन जाता है कि मेरे पुण्यबंध हो। पुण्यबंधको हितकारी मानना और पुण्योदय आनेपर उसके फलमें हर्ष मानना और कदाचित् पापका उदय आ जाय तो उसके उदयमें जो खोटे साधन मिलते हैं, उनमें अपना विनाश मानना, विषाद मानना—यह सब बन्धतत्त्वके विषयमें इस जीवका विपरीत श्रद्धान कहलाता है। उनमें जीव यह नही समझ पाते कि आत्माका हित करने वाला भाव तो शुद्ध भाव है। आत्माका जैसा सहजसिद्धस्वरूप है उस स्वरूपका उस ही रूप श्रद्धान हो और इस ही प्रकार अन्तः उपयोगका पौरुष हो तो जीवका हित हो सकता है। इस बातको मिथ्यात्वके उदयमें समझना असम्भव है। तो संसारके प्राणी इस सम्बर भावको नहीं अपना सकते हैं और कदाचित् ज्ञानी जनोंकी कोई व्रतक्रिया आदिक देखे या उनका वैराग्य आदिक देखे तो उसको वे दुःखदायी समझते हैं और दूसरोंपर भी ऐसा ही भाव रखते हैं कि देखो बेचारे कितना कष्ट सह रहे हैं और अपने आपको तो शरीरिक कष्ट मानकर सहनेका भाव ही नहीं जगता। ऐसे संवर तत्त्वके बारेमें इस मिथ्यादृष्टि जीवको उल्टा श्रद्धान रहता है। जीवके दुःखका कारण इन कर्मोंका भार है। इन कर्मोंके विपाकमें इस जीवको नियमतः संक्लेश होता, क्लेश होता, ऐसे कर्मोंको दूर कर देना इस ही में तो आत्माका हित है। और ये कर्म दूर होते हैं इच्छाओंके अभावसे। जब तक इच्छा है, रागादिक भाव हैं तब तक प्रकृत्या इन कर्मोंका सम्बन्ध रहता है और उस कर्मफलसे विपरीत हुए ये प्राणी चतुर्गतिमें भ्रमण करते हैं। तो इच्छाके अभावमें इस जीवका इतना महान कल्याण है, किन्तु जिस निर्जराभावसे जीवका परमहित है उसे यह नहीं करना चाहता, उससे यह दूर रहता है, ऐसा निर्जरा तत्त्वके सम्बन्धमें विपरीत श्रद्धान होना, इसे कहते हैं मूढ़दृष्टि। मोक्ष को किसीने यों समझ भी रखा हो कि बड़ा सुख है, और सुखका अभिलाषी कोई संसारी प्राणी उस मोक्षकी भी चाह करे तो वह इसी प्रकार सुखकी चाह करता है कि जैसे संसारके सुख देखे जा रहे हैं। उनको देखकर अनुमान करते हैं कि इन सुखोंसे अनगिनते सुख है मोक्ष में, सो इस प्रकारका श्रद्धान मोक्षका श्रद्धान ही क्या हुआ? वह तो विपरीत श्रद्धान हुआ। और जो वास्तविक मोक्षका स्वरूप है, जहाँ निराकुलता है, किसी प्रकारका क्लेश नहीं है,

क्लेशका कारणभूत शरीर भी नहीं है, इसी कारण अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्द प्रकट होता है, ऐसे विशुद्ध स्वरूप वाले मोक्षकी बाट भी नहीं जोह सकते हैं ये अज्ञानी पुरुष। लोकमें देखते हैं कि जो पुरुष या जो घटना जीवको सुखदायी मालूम होती है, बड़े चावसे उसकी प्रतीक्षा करते हैं, तो मोक्षकी यदि कोई प्रतीक्षा करे तो उससे यह प्रमाणित होता है कि इसको मोक्षका स्वरूप रुच गया है, लेकिन मोही पुरुषोंको मोक्षतत्त्वकी खबर भी यथार्थ नहीं है। इस तरह मोक्षतत्त्वके सम्बन्धमें विपरीत विश्वास हो, मूढ़दृष्टि हो, तो यों अन्तस्तत्त्वमें तत्त्वका श्रद्धान होना मूढ़दृष्टि है, ऐसी दृष्टि जिस जीवके नहीं होती है, ऐसे जीव को अमूढ़दृष्टि कहते हैं।

अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैर्मिथ्याऽर्थः साधितोऽपरैः।
नाप्यलं तत्र मोहाय दृङ्मोहस्योदयक्षतेः ॥५६०॥

ज्ञानीके कुदृष्टियों द्वारा मिथ्याहेतुदृष्टान्तसाधित अर्थके प्रति मोहका अभाव—अन्य दार्शनिकों द्वारा जिन्होंने स्याद्वादका आश्रय नहीं लिया, किसी एकान्तमें रहकर अथवा सांव्यहारिक प्रत्यक्षसे ही सर्वस्व निर्णय कर अनेक हेतु और दृष्टान्तों द्वारा मिथ्यास्वरूपकी दृष्टि की है और ऐसे विपरीत स्वरूपके प्रतिपादन करने वाले हजारों ग्रंथ भी मौजूद हों और कभी-कभी अपने समझे हुए वस्तुस्वरूपकी दृढ़ता करनेके लिए उनका अध्ययन करे, कोई बात भी सुने, तिसपर भी दर्शनमोहनीयका क्षय हो जानेके कारण, दर्शनमोहनीयका अनुदय हो जानेके कारण वह सब उपदेश इसे मोहित नहीं कर सकते। तो यह सब असद्उपदेश इस सम्यग्दृष्टि पुरुषको मोहित करनेमें समर्थ नहीं हैं। जैसे कि यहाँ किसीने आँखों ही कुछ देख लिया हो और उसके विपरीत कोई कुछ बात कहे तो उसको वह प्रमाणित कर ही नहीं सकता। यद्यपि यहाँ आँखों देखी बातमें भी कोई विपरीतता बन सकती है, जो समझा हो, पर प्रायः आँखों देखी बात बड़ी प्रमाणित मानी जाती है। कोई पुरुष अपनी आँखोंसे कोई घटना देख ले और उसके विरुद्ध कोई कुछ कहे तो उसको माननेके लिए वह राजी नहीं हो सकता। इसी प्रकार दर्शनमोहके अनुदय होनेपर अपने आपके उपयोग द्वारा विशुद्ध स्वरूपका, आनन्दका, ज्ञानज्योतिका जिसने साक्षात्कार कर लिया है उस पुरुषको अब कोई मिथ्या वस्तुका स्वरूप किसी तरह मोहित करनेमें कारण नहीं हो सकता।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः।
नाल्पश्रुतः स मुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ॥५६१॥

कुदृष्टिप्रदर्शित अर्थोंमें ज्ञानीके मुग्ध होनेकी असम्भवता—अनेक कुदृष्टि जनोंने, जिन्होंने आत्माके सहजस्वरूपका अनुमोदन नहीं कर पाया और जिस किसी भी परतत्त्वमें हित मान लिया, ऐसे कुदृष्टिजनों द्वारा सूक्ष्म, अंतरित दूरवर्ती पदार्थोंके सम्बन्धमें भी कुछ उपदेश हुआ,

लेकिन जिनका मूल ही भ्रमपूर्ण है उनकी अनेक युक्तियाँ किस तरह समीचीनताको लिए हुए हो सकती हैं ? तो कुधी जनों द्वारा सूक्ष्म अन्तरित दूरवर्ती पदार्थोंको भी किसी रूप बताया गया है, लेकिन उनमें भी यह सम्यग्ज्ञानी जीव मोहित नहीं होता । जो थोड़ी भी सत्य जानकारी रखता हो, वह उन कथनोंमें मुग्ध न होगा । सूक्ष्म पदार्थोंके सम्बन्धमें अतत्त्वज्ञ पुरुषों ने वर्णन किया है—जैसे शक्त्यांशको ही परमाणु मान लेना । आजकलके वैज्ञानिक लोग शक्त्यांशको अणु मान रहे हैं और जिसे अणु समझ रहे हैं और जिससे काम ले रहे हैं वह स्कंध है । कहाँ तो अनेक परमाणुओंके पिण्डको अणु समझ लेना और कहाँ किसी केवल शक्तिको ही अणु मान लेना ये सन्देह तुलापर चलती हुई धारणायें, ये सूक्ष्म तत्त्वके बारेमें विपरीत श्रद्धान हो तो है । अथवा केवल सूक्ष्म तत्त्वोंके कारण क्या हैं ? किससे भिन्न हैं, किससे अभिन्न हैं, इसका कुछ निर्णय न करके जैसा कुछ विकल्पमें आया बोल दिया, यह सूक्ष्मका विपरीत कथन है । अन्तरित राम, रावण आदिक हुए हैं और अनेक कथानक ऋषि संतोंने गढ़े हैं, वे अंतरितके बारेमें आख्यान हैं । उन्होंने बहुतसी असम्भव बातोंको भी कथानकके रूपमें गढ़ लिया है और जिन्हें यह कहकर छोड़ दिया गया है कि ईश्वर और उनके अवतारोंकी लीलायें हैं । उन कथनोंमें परस्पर विरोध भी जंचता है । कभी कह दिया कि रावण बड़ा विद्वान था, तत्त्वज्ञ था, कुशल था तो कहीं ऐसा कह दिया कि वह तो राक्षस था, मांसभक्षी था । इस तरह परस्पर विरुद्ध और असम्भव कथानक रचना, यह सब तो विपरीत प्रतिपादन है । दूरवर्ती पदार्थोंके सम्बन्धमें जैसे १४ भुवन हैं अथवा अनेक यत्र-तत्र द्वीपोंकी रचनायें बताना, इस तरह दूरवर्ती पदार्थोंके सम्बन्धमें भी विपरीत प्रतिपादन है, इस सबको सुनकर सम्यग्दृष्टि जीव उन कथानकोंमें मुग्ध नहीं होता ।

अर्थाभासेऽपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढ़ता ।
सूक्ष्मामन्तरितोपात्तमिथ्यार्थेऽस्य कुतो भ्रमः ॥५६२॥

अर्थाभासमें भी मूढ़ न हो सकने वाले जीवके मिथ्यार्थमें भ्रमकी नितान्त असंभवता— सम्यग्दृष्टि पुरुष तो जहाँ कहीं अच्छे कथनके बीचमें भी कोई कथन अर्थाभास वाला जंच रहा हो वहाँ ही मुग्ध नहीं होता तब फिर आगमप्रसिद्ध जो कुछ सूक्ष्म अंतरित आदिक पदार्थों के सम्बन्धमें वर्णन हुआ उनमें मुग्ध क्या होगा ? अथवा अन्य पुरुषोंके द्वारा बताये गये जो आभासरूप कथन हों उनमें भी क्या मुग्ध हो सकेगा ? यों सम्यग्दृष्टि पुरुष अतत्त्वश्रद्धानसे दूर रहता है और अपने आपके स्वरूपके विषयमें निःशंकित होकर यथार्थ प्रतीति बनाये रहता है । इस प्रकार सम्यग्दृष्टिके अमूढ़दृष्टि अंगका कुछ स्वरूप बताकर अब आगे यह बतायेंगे कि किस-किस प्रकारके विचारोंमें अपना सम्यग्दर्शन बनाये रहता है जिन विचारोंके द्वारा ज्ञानी अपने उद्दिष्ट मार्गकी ओर द्रुतगतिसे बढ़ता जाता है ।

तद्यथा लौकिकी रूढ़िरस्ति नाना विकल्पसात् ।
निःसारैराश्रिता कुम्भिरथाऽनिष्टफलप्रदा ॥५६३॥

अनिष्टफलप्रदा लौकिकी रूढ़िकी निःसार पुरुषों द्वारा आश्रितताका ज्ञानी द्वारा चिन्तन—सम्यग्दृष्टिकी अमूढ़दृष्टिका वर्णन चल रहा है। मूढ़दृष्टि न होना उसको अमूढ़दृष्टि कहते हैं। तो मूढ़दृष्टि किन-किन कारणोंसे होती है, उनमें से एक कारण यह भी है कि लोग लौकिकी रूढ़िमें अंधे वन जाते हैं। जो अपने कुलमें रूढ़ि चली आयी है, समाजमें, देशमें रूढ़ि चली आयी है उसको छोड़ सकना कठिन है, क्योंकि उस ही आचरण परम्परामें जन्मसे चले आये हैं, ऐसी-ऐसी रूढ़िके वश होकर भी मूढ़दृष्टि वन जाया करती है। तव सम्यग्दृष्टि जानता है इस मर्मको कि लौकिकी रूढ़ि नाना विकल्पोंसे भरी होती है और इस रूढ़िमें आत्मा के हितका कोई प्रकाश नहीं मिलता है। इस लौकिकी रूढ़िको तो निःसार पुरुष करते रहते हैं। निःसार पुरुष उनका नाम है जिनको अपने आपके शरणभूत निज परमात्मतत्त्वका दर्शन नहीं हुआ और इस ही कारण वाहरी पदार्थोंमें ही जो एक लगनसे लग जाते हैं वे पुरुष सार-हीन हैं उनके आत्मामें कोई वजनदार सारभूत तत्त्व नहीं रहा कि जिसके वलपर वे वास्त-विक तृप्त हो सकें, इस कारणसे वे सारहीन पुरुष कहलाते हैं। तो लौकिकी रूढ़िको तो सार-हीन पुरुष ही कर सकते हैं जो कि अनिष्ट फलको देने वाली है। रूढ़िमें आकर कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि मुझे पुण्य होगा, धर्म होगा, सुख-शान्ति होगी, पर उन रूढ़ियोंके चक्रमें फंसे हुए, प्रवृत्ति करने वाले लोग सुखके वजाय दुःख पाते हैं, धर्मके वजाय अधर्म पाते हैं, पुण्यके वजाय पापका बंध करते हैं। इस कारण लौकिकी रूढ़ि अनिष्ट फलके देने वाली है और इनको सारहीन अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जन धारण करते हैं।

अफलाऽनिष्टफला हेतुशून्या योगापहारिणी ।
दुस्त्याज्या लौकिकी रूढ़िः कैश्चिदुष्कर्मपाकतः ॥५६४॥

अफला अनिष्टफला हेतुशून्या योगापहारिणी लौकिकी रूढ़िकी दुष्कर्मपाकवश अज्ञानी जनों द्वारा दुस्त्याज्यता—सम्यग्दृष्टिकी विचारधारा चल रही है। जो लौकिकी रूढ़ि है वह फलरहित है। फल क्या होना चाहिए, कौनसा फल इस जीवके लिए हितकारी है? वह है मोक्षफल, आत्मसंतोष, आत्मरमण। यह फल लौकिकी रूढ़िसे कैसे मिल सकता है? क्योंकि लौकिकी रूढ़ि फलरहित है, और फल भी है उसका तो अनिष्टफल है, संसारपरिभ्रमण करना, कुयोनियोंमें जन्म मरण करना, ऐसा फल प्राप्त होता है तथा वह हेतुशून्य है। क्यों हो रहा है? उसका कारण क्या है? उसका उद्देश्य क्या है, वे सब बातें वहाँ गायब हैं। लौकिकी रूढ़ि इस तरह चलती जिसके मर्मका कुछ पता नहीं, किन्तु जो वर्तमान प्रथा हो उसमें शा

हो जाते। तो जिन रूढ़ियोंमें कोई हित नहीं है, कोई युक्ति नही, कोई फल नही, कोई उद्देश्य नहीं, ऐसी लौकिकी रूढ़ि, जो पाप अभिप्राय वाले जीव हैं, जिनको खोटे कर्मोका उदय आ रहा है उनके द्वारा ये त्यागे नहीं जा सकते है, वे उस रूढ़िमें आकर अपना अनर्थ कर डालते हैं। अनेक लौकिक रूढ़ियाँ ऐसी भी हैं कि जिनका मूल स्रोतमें प्रयोजन रहा, यह रूढ़ि जबसे निकली, जिस कालमें बनी उस कालमें तो उसका कोई मर्म था, लेकिन धीरे-धीरे मर्म तो लोगोंके हृदयसे निकल गया और उस रूढ़िमें जो कुछ किया जा रहा है उसमें ही पक्ष रहेगा। अनेक रूढ़ियाँ ऐसी होती हैं। जैसे कि एक कथानक प्रसिद्ध है कि किसी सेठके यहाँ उसकी ही लड़कीका विवाह था। उसके घर एक बिल्ली पली हुई थी, सो बिल्लीका इधर-उधर फिरना, ऐसे शुभ काममें अपशकुन माना जाता है, इसलिए भांवर पड़ते समय उस बिल्लीको टिपारेके अन्दर बंद कर दिया। अब शादी हो चुकनेके बाद वह सेठ तो गुजर गया। जब उसके लड़के की लड़कीकी शादीका नम्बर आया तो भांवर पड़ते समय उस सेठका एक लड़का बोल उठा—अजी ठहरो, भांवर यों न पड़ेगी। पहिले एक बिल्ली कहींसे पकड़कर लाओ, उसे टिपारेके अन्दर बन्द करो तब भांवर पड़ेगी। सो जब कहींसे बड़ी मुश्किलमें बिल्ली पकड़ंकर उसे टिपारेके अन्दर बंद किया गया तब भांवर पड़ी। अब बतलाओ बिल्लीको टिपारेके अंदर बन्द करनेका प्रयोजन तो कुछ और था, पर समझ लिया कुछ और, इससे वह एक विडम्बना रूप बन गई। ऐसी एक नहीं, अनेक बातें हैं, जिनमें बात तो मर्मकी (प्रयोजनकी) कुछ और होती है, पर उसका मर्म न जानकर लोग रूढ़िवश उन्हें करते रहते हैं, जो कि विडम्बनाका रूप रख लेती हैं। इस तरह रूढ़िवश किए जाने वाले बहुतसे पर्व आते हैं जो कि ये दुष्कर्म इन पापी लोगोंके द्वारा छोड़े नहीं जाते हैं। ऐसी मिथ्या रूढ़ियोंमें फंसकर लोग मिथ्यादृष्टि बने रहते हैं।

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढ़ता ॥५६५॥

देवमूढ़ता, धर्ममूढ़ता व गुरुमूढ़ताका लक्षण—लौकिकी रूढ़िकी वजहसे और उस ही के संस्कारके पले हुए लोगोंके कुछ समझानेकी वजहसे लोगोंको अदेयमें देवकी बुद्धि हो जाती है, अधर्ममें धर्मकी बुद्धि हो जाती है और अगुरुमें गुरु बुद्धि हो जाती है, यह कहलाती है देव-मूढ़ता, लोकमूढ़ता और पाखण्डमूढ़ता। जो देव नहीं उनमें देवबुद्धि होना उसे कहते हैं देव-मूढ़ता अथवा यों कहो कि देवमें कुदेवबुद्धि पैदा करना सो देवमूढ़ता है। कुदेवमें देवबुद्धि करना, ऐसा शब्द कहनेमें दोनों जगह अपराध सिद्ध होता है और अदेवमें देवबुद्धि करना, इसमें केवल एक भक्तमें अपराध सिद्ध होता है। उसका विवरण यों है कि कुदेव कौन कह-लाता? जो देव तो नहीं है, किन्तु अपने आपको देवपना सिद्ध करनेका यत्न करता है उसे

कहते हैं कुदेव । तो जिसे कुदेव कहा गया उसमें भी अपराध बना, क्योंकि देव तो था नहीं और अपने आपको यह साबित कर रहा कि मैं देव हूं, भगवान हूं, तो ऐसा जो अपने आपको देवपनेकी कुछ चेष्टा करे उसका तो नाम है कुदेव और ऐसे कुदेवमें देवबुद्धि करना, सो देव-मूढ़ता है । इसमें जिसने देवबुद्धि की उस भक्तका भी अपराध हुआ तथा जिसने अपनेमें देवत्व-ख्यातिकी चेष्टा की उसका भी अपराध हुआ, किन्तु अदेवमें देवबुद्धि करना, इसमें देवबुद्धि करने वाले उस भक्तका ही अपराध है । यदि वह अदेव स्वयं अपने आपमें देवत्वख्यातिकी चेष्टा नहीं कर रहा और किसीने उसे देव मान लिया तो वहाँ तो उसने कुदेवपना जाहिर करनेका अप-राध तो नहीं किया । तो जो अदेवमें देवबुद्धि करें, ऐसे जो मूढ़ पुरुष हैं उनका ही अपराध बताया जा रहा है । उनके सम्यग्दर्शन कैसे हो सकेगा जो अदेवमें देवबुद्धि करते हैं ? इसी प्रकार जो धर्म नहीं है अथवा जो अधर्म है उसमें धर्मबुद्धि करना, यह कहलाता है धर्ममूढ़ता और जो कुगुरु जन हैं उनमें गुरुबुद्धि करना, यह है पाखण्डमूढ़ता । यहाँ भी इसी प्रकार जानना कि कुगुरुमें गुरुबुद्धि करना, ऐसा कहनेमें दोनों जगह अपराध सिद्ध होता है । कुगुरु वह कहलाता है जो गुरु नहीं है, किन्तु अपनेको गुरु प्रसिद्ध करनेके लिए कोई चेष्टा रख रहा हो और अगुरु वह कहलाता है जो गुरु नहीं है, तो कुगुरुमें गुरुबुद्धि होना, ऐसा वर्णन करनेमें दोनों जगह अपराध सिद्ध होता है और अगुरुमें गुरुबुद्धि करना, इसमें एकान्ततः भक्तका अप-राध तो सिद्ध होता ही है, इस तरह देवमूढ़, लोकमूढ़ और पाखण्डमूढ़ लोकरूढ़िवश भी होते हैं और लोकरूढ़िमें फंसे हुए लोगोंके उपदेश द्वारा भी बनते हैं ।

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः ।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढ़ता ।।५६६।।

लोकमूढ़तावश ऐहिक सुखके लिये दुर्बुद्धियों द्वारा कुदेवोंका आराधन—उक्त जो तीन प्रकारकी मूढ़तायें बतायी गई हैं उन सबको लोकमूढ़तामें शामिल किया जा सकता है, और लोकमूढ़ताका सम्बन्ध रूढ़िके साथ है । तो लोकरूढ़िके वर्णनके प्रसंगमें यहाँ इन तीन मूढ़ताओंको दिखाया जा रहा है । मिथ्यादृष्टि जीव सांसारिक सुखोंको पानेके लिए कुदेवकी आराधना करते हैं । जिनको अपने आपके स्वरूपमें आनन्द स्वयं बसा हुआ है अथवा स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूपसे रचा हुआ है, ऐसे अमूर्त कारणपरमात्मतत्त्वकी सुध नहीं है, ऐसे पुरुष, सुख-शान्ति तो सब चाहते ही हैं, पर वे उस सुख-शान्तिको ढूंढ़ेंगे कहाँ ?....इन विषयोंमें । सांसारिक सुखोंमें ये सुखबुद्धि करते हैं तो उन सुखोंकी चाहसे कुदेवकी आराधना करते हैं । ये मुझे कुछ दे देंगे, पर कुदेव और देव भी क्या ? कोई किसीको सुख-दुःख देनेमें समर्थ नहीं है । यह स्वयंके पुण्य-पापके उदयका फल है । जिससे लोगोंको सुख अथवा दुःख प्राप्त होते हैं, और पुण्य-पापसे रहित शुद्ध अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टि रहे तो वहाँ शान्ति प्राप्त होती

है, लेकिन ये मोही पुरुष कुदेवकी आराधना सांसारिक सुखके लिए करेंगे, क्योंकि उन्होंने न देवका स्वरूप जाना, न अपने आत्माका। तो कुदेवकी आराधना मिथ्यादृष्टि जन ऐहिक सुखों के लिए किया करते हैं, ऐसा करना मिथ्या है, लोकोपचार है, उससे कोई सिद्धि नहीं प्राप्त होती। यदि कोई कुदेव कोई लक्ष्मी दे जाय तब फिर कोई व्यापारादिक कार्य ही क्यों करे? और यदि कुदेवकी आराधनासे लक्ष्मी प्राप्त होती तब तो फिर सभी लोगोंको यही एक काम करना चाहिए था, फिर तो व्यापार आदिक कार्य करनेकी आवश्यकता ही न थी। ये व्यापार आदिकके कार्य करके भी मिथ्यादृष्टि जन ऐसा विश्वास रखते हैं कि यह देव अथवा देवी मुझे धन देगी, मुझे व्यापारादिकके कार्योंमें मदद करेगी, मुझे संतान देगी, मुझे सब प्रकारके सुख साधन देगी, मेरी बुद्धि ठीक रखेगी····यों अनेक प्रकारकी कुबुद्धियाँ लोग रखते हैं, और इन्हीं कुबुद्धियोंके कारण वे उनकी आराधना किया करते हैं। **कदाचित् कोई पुरुष तीर्थंकर देव भगवान जिनेन्द्रकी मूर्तिके समक्ष भी सांसारिक सुखोंकी आशासे उनकी आराधना करे तो समझो कि उसने भी उस देवको कुदेवरूपमें मान डाला।** उसे तो प्रभुके सही स्वरूपका पता ही नहीं है। वह तो यही जानता है कि ये भगवान हमें संतान दे देंगे, धन-दौलत दे देंगे, हमारा मुकदमा जिता देंगे···, इस प्रकारकी अनेक कुबुद्धियोंरूपमें उसने उस सच्चे देवको भी खोटे रूपमें मान डाला। उसकी दृष्टि वहाँ उन्हीं कुदेवोंके स्वरूपकी भाँति ही रहेगी। इन कुदेवोंकी आराधना सांसारिक सुखोंके लिए मिथ्यादृष्टि जन किया करते हैं। तो ऐसे ही कुदेवाराधनादिक लोकोपचार करनेका नाम लोकमूढ़ता है।

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढ़वशादिह।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताऽम्बिका ॥५६७॥

लोकमूढ़ पुरुषों द्वारा कुश्रद्धावश अम्बिकादि देवियोंका आराधन—लोकमूढ़ताके इस प्रकरणसे अपने आपको यह समझ लेना चाहिए कि हम आप कितने ही दंद-फंदोंसे निवृत्त हो चुके हैं। हम आपको अच्छी बुद्धि मिली, पवित्र जैनशासनका शरण मिला, सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी शरण मिली, यह हम आपके लिए कितने सौभाग्यकी बात है? कदाचित् ये उत्तम चीजें हम आपको न मिली होतीं तो अन्य मोही मलिन जीवोंकी जैसी ही दशा तो हम आपकी होती। अपने आपके इस वर्तमान प्रकाशपर सही दृष्टि डालें तो बड़ा संतोष होगा। हम आपको अच्छा क्षयोपशम प्राप्त है, इन लौकिक मूढ़ताओंसे परे हमारी वृत्ति चल रही है और इस ही निजके ज्ञानप्रकाशके लिए साधन भी उत्तम मिले हैं। यह वर्तमान अवस्था हमारे संतोषके लायक है, मगर संतोष करनेमें लाभ नहीं है, यहाँ हमें असंतोष होना ही चाहिए कि हम अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें मग्न नहीं हैं। यदि ज्ञानस्वरूपमें मग्न हो जाते तो फिर कहीं कोई कष्ट न था। तो लोकमूढ़तासे हम बच गए हैं, यह एक **बहुत बड़ी विडम्बना** हम आपने

समाप्त कर लो। लोकमूढताके सम्बन्धमें कह रहे कि उसके वश होकर किसी किसीका ऐसा विश्वास हो गया है कि यदि हम भली प्रकारसे अम्बिका, चंडी, मुंडी आदिककी आराधना करें तो वे देवियाँ निश्चयसे धन-धान्य, सम्पदा आदिक प्रदान करेंगी। यह लोकरूढ़ि, यह लोकमूढ़ता ऐसा विवश कर देती है मनुष्यको कि जिससे वे सही मार्गसे भी हटकर कुमार्गमें लग जाते हैं। बहुतसे जैन लोग भी ऐसी लोकमूढ़तामें जकड़ जाते है कि वे यक्ष, लक्ष्मी, धरणेन्द्र, पद्मावती आदिककी आराधना इस दृष्टिसे करते हैं कि इनकी आराधना करनेसे हमें सुख शान्ति प्राप्ति होगी, धन-सम्पदा आदिकी प्राप्ति होगी…। तो लोकमूढ़ताका इतना विकट जकड़ात्र है कि कुछ ऐसा चाहता हो कोई कि मुझे मिथ्यात्वका दोष न लग जाय और चाहता है धन सम्पदा आदिक, तो इस तरह भी वह कुदेवकी आराधना समझना चाहिए।

अपरेऽपि यथाकामं देवमिच्छन्ति दुर्धियः।
सदोपानपि निर्दोषानिव प्रज्ञाऽपराधतः ॥५६८॥

अज्ञानियोंकी सदोष देवोंमें निर्दोषत्वबुद्धि— उक्त कुछ श्लोकोंमें लोकमूढ़ताका चित्रण किया गया है। इसी प्रकार और भी बहुतसे देवोंको अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार मान रखा था। उन देवताओंके नामका कोई गिनतीका प्रमाण नहीं है। कुछ भी कह दें। कुछ भी देवी देवका नाम लेकर उसे मान लिया। कोई देवी देव बना तो नहीं सकता लेकिन किसी घटनावश किसी भी जगह किसी भी देवी देवका नाम रखकर उसकी आराधना करने लगते हैं। तो ऐसे अनेक प्रकारके लोग अपनी इच्छाके अनुसार देवोंको मान डालते हैं तो वे अपनी अज्ञानताके कारण सदोष देवोंको भी निर्दोष मान बैठते हैं और उनके प्रति ऐसी श्रद्धा होती है जैसी कि योगीश्वरोंको वीतराग सर्वज्ञदेवके प्रति ऐसी दृढ़ श्रद्धा होती है कि वह निर्दोष है। स्वरूपकी दृष्टि रखकर तो वे निर्दोषता नहीं परखते, किन्तु उनकी ऐसी ही दृष्टि रहती कि ये जो हैं सो ही भगवान हैं और जो कुछ कर सकेंगे सो ये ही कर सकेंगे।

नोक्तस्तेपां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः।
लब्धवर्णो न कुर्याद्वि निःसारं ग्रन्थविस्तरम् ॥५६९॥

कुदेवस्वरूप वर्णन विस्तारकी अनावश्यकता—यह प्रसंग ऐसा है कि यहाँ लोकमूढ़ता गृहीतमिथ्यात्व आदिकके सम्बन्धमें अधिकसे अधिक वर्णन कर देना चाहिये था, लेकिन ग्रंथकार यहाँ यह कहते हैं कि कहीं ऐसा न हो जाय कि पूर्व पक्ष तो बहुत विस्तारसे कहने लग जायें तो लोग इससे कुछ अनर्थ न कर लें, इस कारणसे इस प्रसंगको आगे न बढ़ाकर मिथ्या विचार वालोंको कुछ उपदेश कर रहे हैं। यद्यपि प्रसंग तो था कि खूब कह डालना चाहिये था ताकि लोगोंको भली-भाँति पता पड़ जाय कि यह कितनी बड़ी विडम्बना है, लेकिन एक मर्मकी बात कह देनेसे बुद्धिमानोंको उसका पता पड़ जाता है, इस कारण अधिक नहीं कहा

जा रहा है, और मूलमें हमको यदि देवका स्वरूपका जानना है तो देवस्वरूपके विपरीत जो कुदेव आदिक हैं उनका हम विस्तार क्यों करें ? एक लक्षण बाँधकर कह दिया कि जिनमें वीतरागता नहीं, जिनमें सर्वज्ञता नहीं, जो इच्छायें करने वाले हैं, जो नाना खटपट करते हैं, जिनके मोह बना हुआ है, ऐसे पुरुषोंको अगर देवत्व जाहिर करें तो वे सब कुदेव हैं। जहां ज्ञान और आनन्दका पूर्ण विकास न पाया जाय उसे देव नहीं कहते हैं । ऐसे अदेवमें देवबुद्धि करना, सो देवमूढ़ता है । और इसी तरह रागद्वेषमें बसे हुए, व्यर्थकी मन, वचन, काय आदिक की चेष्टायें करने वाले गुरु, कुगुरु कहलाते है । उनमें हितबुद्धि न रखना सो ही मूढ़दृष्टि कहलाती है । तो यहाँ कुदेवके स्वरूपके कहनेकी आवश्यकता विशेष न जानकर अथवा कुदेव स्वरूपका विस्तार आवश्यक न समझकर इस स्थलको यहीं समाप्त करते हैं और संक्षेपमें बताते हैं कि जिनके वीतरागता नहीं, सर्वज्ञता नहीं वे भी अदेव हैं और जो वीतरागता, सर्वज्ञताके मार्गमें नहीं चल रहे वे अगुरु हैं, उनमें हितबुद्धि करना सो **मूढ़दृष्टि है ।**

अधर्मस्तु कुदेवानां यावनाराधनोद्यमः ।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम् ॥६००॥

कुदेवाराधनोद्यमकी तथा कुदेवप्रणीतधर्ममें मन, वचन, काय चेष्टाकी अधर्मरूपता— अदेवमें देवबुद्धि करना देवमूढ़ता है, इसका वर्णन करनेके बाद अधर्ममें धर्मबुद्धि करना भी धर्ममूढ़ता है, इस प्रसंगका वर्णन अब कर रहे हैं । कुदेवकी आराधनाका जितना भी उद्यम है वह सब अधर्म है अथवा उन कुदेवोंके द्वारा, गुरुवोंके द्वारा प्रणीत हुए धर्मोंमें जो मन, वचन, कायकी चेष्टायें हैं उनका काम भी अधर्म है । कुदेव और कुगुरुका अभिप्रायविशुद्ध नहीं है, रागद्वेषसे भरा है । जगतमें अपनेको देव और गुरु जाहिर करके अपनी ख्याति, पूजा, लाभ आदिकको चाह रहे हैं, ऐसे पुरुषोंके द्वारा जो कुछ भी शासन बनाया जायगा वह निर्दोष नहीं हो सकता । तो ऐसे सदोष वचनोंमें अधर्ममें कोई धर्मबुद्धि करे अथवा उस धर्मादेशके अनुसार जो कि कुधर्म है, उसकी आज्ञानुसार जो अपने मन, वचन, कायकी चेष्टायें करे वह सब अधर्म कहलाता है । कुदेवका नमस्कार, पूजन, वंदन करना, कुगुरुका आदर, पूजन, वंदन करना ये सब अधर्म कहलाते हैं । और उन्होंने जो मार्ग बताया है, यज्ञ करना, बलि करना अथवा जो कुछ भी आदेश किया है अथवा मन, वचन, कायसे जो कुछ भी आदेश किया है सो अधर्म है । जैसे पीपल आदिक वृक्षोंका पूजना, गाय आदिक पशुओंका पूजना आदिक कितनी ही लोकरूढ़ियाँ बन गई हैं उन सबमें जकड़े हुए लोग जो मन, वचन, कायकी चेष्टायें करते हैं वे सब अधर्म कहलाते हैं । ऐसे अधर्ममें धर्मबुद्धि करनेका नाम है धर्ममूढ़ता । ऐसी मूढ़ता जहाँ नहीं होती है वहाँ सम्यक्त्वका प्रकाश होता है ।

कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः ।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥६०१॥

कुत्सिताचार सशल्य सपरिग्रह पुरुषकी कुगुरुरूपता तथा सम्यक्त्वव्रतयुक्त पुरुषकी सद्गुरुरूपता—जिसका मलिन आचरण है, जो शल्यसहित है, परिग्रहवान है उसे कुगुरु कहते हैं। इस कुगुरुका लक्षण सुगुरुके लक्षणके जाननेसे स्पष्ट होता है, तब सुगुरुका लक्षण भी समझ लेना चाहिए। सुगुरु होता है सम्यक्त्वसे सहित और व्रतोंसे भी युक्त है। तो जिसमें सम्यक्त्व नहीं है और व्रत भी नहीं है तथा इसी कारण मलिन आचरण है उस आचरणसे वह शल्यवान है, मूर्छा सहित है, उसे कुगुरु कहते हैं। कुगुरुका आचरण मलिन है, इसका अर्थ है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूपसे उसकी प्रवृत्ति चलती है। शल्यवान है, इसका भाव यह है कि कुगुरुमें माया, मिथ्या और निदान ये तीनों ही शल्यें लगी हुई हैं। मायाचार तो यही है कि जो वास्तविक मोक्षमार्ग है उस ओर उसकी दृष्टि नहीं गई है और इसी कारण बाह्य व्यवहारमें उसकी मन, वचन, कायकी सरल चेष्टायें नहीं हो सकती हैं। मिथ्या शल्य यों है कि वस्तुके सही स्वरूपका जब परिज्ञान नहीं है तो अन्य-अन्य प्रकारसे वस्तुस्वरूप जाना जा रहा है, और इस स्थितिमें इस आत्माके शल्य होना स्वाभाविक ही है। मिथ्या परिचयके कारण अज्ञानरूपी शल्य तो निरन्तर बनी ही रहती है, जिसके कारण विपत्तियाँ आती रहती हैं। निदानशल्य कुगुरुमें पायी ही जा रही हैं। वे गुरुपदमें भी इन्द्रादिक पदोंकी चाह रखते हैं, सांसारिक सुखोंकी चाह रखते हैं। इस तरह कुगुरु शल्यवान हैं, परिग्रहसहित हैं, यह बात यों स्पष्ट है कि जब कि आत्माका सहज ज्ञानस्वरूप दर्शनमें नहीं आया है तो अपने आपमें मूर्छायें होना प्राकृतिक है। स्वयं बेहोश है और इस बेहोशीमें बाह्य पदार्थोंको अपना मानता है। कषायोंमें, अपने ज्ञानविकासमें जैसी जो कुछ लौकिक बुद्धि हुई है उसको भी समझता है कि यह मात्र मेरा स्वरूप है। और बाह्य परिकर, शिष्य, वैभव, ऐश्वर्य, सम्पदा आदिकमें मूर्छाबुद्धि रख रहा है तो वह परिग्रहवान ही है। इस तरह कुगुरु तो निंद्य आचरण वाला है जब कि सुगुरु शुद्धव्रत रूप आचरण वाला है। कुगुरु शल्यवान है जब कि सुगुरु अत्यन्त निःशल्य है। कुगुरु परिग्रहवान है जब कि सुगुरु अपने शुद्ध सहजस्वरूपके परिचयके कारण निष्परिग्रह है। साथ ही इस सुगुरुमें तो सम्यक्त्व सम्बन्धी विशेषता तो अपूर्व ही है, पर कुगुरुमें सम्यक्त्वका सद्भाव नहीं है, और उस सुगुरुमें शुद्ध सम्यक्त्व प्रकाशमान है। इस तरहसे कुगुरुके स्वरूपको भली-भांति जानकर उसमें गुरुबुद्धि न रखनी चाहिए।

अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान् सर्वतोतीव विस्तरात् ।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोनुक्त एव सः ॥६०२॥

कुधर्म और कुगुरुके स्वरूपवर्णनविस्तारकी अनावश्यकताका सहेतुक कथन—कुगुरुके

अनन्त चतुष्टय प्रकट हो जाता है। अनन्तचतुष्टय नाम है चार अपूर्व वैभवोंका। भगवानमें केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिक तीर्थ पाया जाता है। उनके अनन्त चतुष्टय प्रकट हो गया है। केवलज्ञानके द्वारा तीन लोक-अलोक और स्वद्रव्य भली-भाँति शुद्ध स्पष्ट ज्ञात होते रहते हैं। केवलज्ञान भी ज्ञानावरणके क्षयसे प्रकट हो जाता है। जहाँ सर्वपदार्थों का परिज्ञान है वहाँ कुछ जाननेकी इच्छा हो ही नहीं सकती है। इच्छा, रागद्वेष नष्ट हो चुके थे तब ही तो केवलज्ञान हुआ है। केवलदर्शन, केवल दर्शनावरण कर्मके क्षयसे प्रकट होता है। केवलज्ञानके द्वारा समस्त लौकिक जनोंका ऐसा परिपूर्ण ज्ञातद्रव्यका प्रतिभास होना चेतनमें यह सम्पूर्ण ज्ञान आया, उसे केवलदर्शन कहते हैं। क्षायिक सुख नाम है इन घातियों कर्मोंका क्षय हो जाना अथवा मोहनीयकर्मका क्षय हो जानेसे जो आत्मामें आत्मासे उत्पन्न हुआ सहज आनन्द है, जो कि अनन्त है, अविनाशी है, जिसकी उपमा किसी सांसारिक सुखसे नहीं की जा सकती है, ऐसा अनन्त आनन्द जहाँ प्रकट हुआ है उसीको देव कहते हैं। यों जहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्तआनंद प्रकट हुआ है तो इससे ही सिद्ध होता है कि उनमें अनंतशक्ति है। अनन्तशक्ति हुए बिना अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्दका धारण नहीं हो सकता। तो वीर्यान्तराय कर्मके क्षय होनेसे ये अनन्त शक्तियाँ प्रकट होती हैं। इस प्रकार देव मे केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिक वीर्य—ये चारों अनन्तचतुष्टय प्रकट हो जाते हैं।

एको देवः स सामान्याद् द्विधावस्था विशेषतः।
संख्येया नाम सन्दर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥६०५॥

विवक्षानुसार देवकी एकविधता, द्विविधता व अनन्तविधता—उक्त सामान्य लक्षणसे जिस देवकी पहिचान करायी गई है वह देव सामान्यसे तो एक ही है, क्योंकि देवत्वका लक्षण जहाँ पाया जा रहा है वह देव कहलाता है। अब उस ही देवके व्यक्त विकासके भेदसे निरखने पर विदित होता है कि देव दो प्रकारके होते हैं, जिनको आगेके श्लोकमें बताया जायगा। वे दो प्रकार हैं—अरहंत और सिद्ध अर्थात् शरीर सहित परमात्मा और शरीररहित परमात्मा। जब सशरीर साधुने अपने आत्मामें ज्ञानसंयमनका उत्कृष्ट तपश्चरण किया है वही तो सर्वज्ञ बना है तो सशरीर साधु जब सर्वज्ञ बन गया है तो वह सशरीर भगवान कहलाता है। सशरीर भगवान होनेके पश्चात् यह शरीर टिक नहीं सकता। शरीरके कारणभूत घातिया कर्मों का क्षय हो जानेसे यह शरीर टिक नहीं सकता। उस समय यह शरीररहित हो जाता है। इसे कहते हैं सिद्ध भगवान। तो इस प्रकार अवस्थाभेदसे भगवान दो प्रकारके कहे गए और उनकी विशेष रचनाकी दृष्टिसे वे तीर्थंकर हुए हैं, सामान्य केवली हुए हैं अथवा अमुक-अमुक क्षेत्रसे सिद्ध हुए है आदिक अनेक रचनाओंके भेदसे देव संख्याते प्रकारके कहे गए हैं और जब

प्रभुके अनन्त गुणोंकी दृष्टि करते हैं तो प्रभु अनन्त प्रकारके कहे गए हैं। इस तरह विवक्षा-भेदसे देवोंके भेद अनेक प्रकारोंमें समझे जा सकते हैं, फिर भी देवोंका जो मूल स्वरूप है उस स्वरूपदृष्टिसे देव एक ही प्रकारका है।

एको यथा सद्द्रव्यार्थात्सिद्धेः शुद्धात्मलब्धितः।
अर्हन्निति च सिद्धश्च पर्यायर्थाद्द्विधा मतः ॥६०६॥

सुदेवकी एकविधता व द्विविधताका प्रकाशन—देव एक प्रकारका है, यह विदित होगा सद्द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे, क्योंकि उस मूल द्रव्यको निरखते हैं और वहाँकी अनन्त चतुष्टयात्मक सिद्धता विदित होती है तो वह एक प्रकारका समझा जाता है। वही देव पर्यायार्थिक दृष्टिसे दो प्रकारका कहा गया है—अरहंत और सिद्ध। अरहंत और सिद्ध इन दो शब्दोंका अर्थ है कि जो पूज्य हो सो अरहंत है। अरह धातु पूजा अर्थमें आयी है और उससे अरहंत शब्द बना है। तो अरहंत पूज्यको कहते हैं। सिद्ध उसे कहते हैं जिसका पूर्ण विकास सिद्ध हो गया है। नोकर्म और अघातिया कर्मका भी सम्बन्ध नहीं रहा है। ऐसी परिपूर्ण विकास वाली अवस्थामें जहाँ कोई और दोष नहीं रहे, बाहरी संपर्क भी नहीं रहा उसे कहते हैं सिद्ध। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे देवोंके दो प्रकार कहे गए हैं।

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥६०७॥

अरहंत देवकी दिव्यौदारिक देहस्थता धौतघातिचतुष्टयता, ज्ञानदर्शनवीर्यानन्दाढ्यता व धर्मोपदेशकता—इस श्लोकमें अरहंत भगवानको विवरणके साथ जाना गया है कि प्रभु अरहंत दिव्य परमौदारिक शरीरमें स्थित रहते हैं। सिद्ध अरहंत ही होते हैं और अरहंत मनुष्य होते हैं। मनुष्योंके औदारिक शरीर होता है। तो उसमें खून, माँस, हड्डी आदिक महा-दुर्गन्धित वस्तुवें व्याप्त हैं। ऐसा देह तो साधु अवस्था तक था, किन्तु जब अरहंत अवस्था होती है तो यह औदारिक शरीर परम हो जाता है, वहाँ कुछ भी अपवित्रता नहीं रहती है। शुद्ध स्फटिक मणिकी तरह वह शरीर भी शुद्ध स्वच्छ हो जाता है। यही कारण है कि अरहंत भगवानके शरीरकी छाया भी नहीं पड़ती है। जैसे शुद्ध स्फटिककी मूर्ति हो तो उसकी छाया नहीं पड़ती, क्योंकि वह स्वच्छ है, इसी प्रकार जहाँ शुद्ध स्वच्छ परमौदारिक शरीर हो गया वहाँ भी फिर छाया नहीं होती। ऐसे दिव्य औदारिक देहमें अरहंतदेव स्थित हैं। अरहंत प्रभुने घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया था। चार घातिया कर्म जहाँ तक रहते हैं वहाँ तक अरहंत अवस्था प्रकट नहीं होती। इन चार घातिया कर्मोंमें प्रबल कर्म है मोहनीय। इस मोहनीयकर्मका विध्वंस तो चौथे गुणस्थानसे लेकर ७वें गुणस्थानके बीच कहीं भी हो जाता है। शेष तीन कर्मोंका अभाव (ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका अभाव) १२वें गुण-

स्थानके अन्तमें हो जाता है। अब चार घातिया कर्मसे रहित सयोगकेवली भगवान बन जाते हैं। तो उनके चार घातिया कर्म नहीं रहे और यही कारण है कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तआनंद करके वह युक्त रहता है। केवल ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे अनंतज्ञान प्रकट होता है, केवल दर्शनावरणके क्षयसे अनन्तदर्शन प्रकट होता है और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयसे समस्त अन्तरायके अभावसे अनन्तवीर्य प्रकट होता है। ऐसा यह अनंत चतुष्टय-सम्पन्न घातियाकर्मसे रहित अरहंत भगवान धर्मके उपदेशक कहलाते हैं। जितना जो कुछ हमारा आज शास्त्रबोध है उसकी मूल धारा अरहंत भगवानसे प्रकट हुई है। प्रभुकी दिव्यध्वनिको समझा गणधर देवने और गणधरसे समझा आचार्यदेवने और उनसे फिर अन्य मुनियोंने समझा। इस तरहकी परम्परासे ये सब शास्त्र चले आ रहे हैं, तो वास्तवमें मूल धर्मोपदेश तो अरहंत प्रभु हैं।

मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो मुक्तो लोकाग्रसंस्थितः।
ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः ॥६०८॥

सिद्धदेवकी देहनिर्मुक्तता, लोकाग्रसंस्थितता, ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतता व निष्कर्मता—इस श्लोकमें सिद्धदेवका स्वरूप कहा गया है। पहिले बताया गया था कि अवस्थाके भेदसे देव दो प्रकारके होते हैं तो सशरीर अवस्थामें जो देव हैं वे अरहंत कहलाते हैं और शरीररहित सिद्ध अवस्थामें जो देव हैं वे सिद्ध कहलाते हैं। वे सिद्ध भगवान मूर्तिमान देहसे निर्मुक्त हैं और इन अष्टकर्मोंसे मुक्त हैं। जो अष्टकर्मोंसे मुक्त है वही देहमुक्त है अन्यथा तो इस जीवके अनादि काल लेकर जब तक सिद्ध नहीं है तब तक निरन्तर यह देह लगा रहता है। देह दो प्रकार की कही गई है—(१) सूक्ष्म और (२) स्थूल। सूक्ष्मदेह तो है तैजस और कार्माण शरीर और स्थूल देह है—औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर। यद्यपि आहारक शरीर भी अप्रतिघात है अर्थात् आहारक शरीरका प्रतिघात नहीं होता और वैक्रियक शरीर भी प्रतिघातरहित है। हाँ जब वह चाहता है प्रतिघात वाला शरीर तो प्रतिघात वाला भी रहता है, किन्तु औदारिक शरीर तो इससे भी स्थूल शरीर है, तो यह स्थूल शरीर तो कभी रहता कभी नहीं रहता। एक शरीरका वियोग होता है तो दूसरा शरीर मिलता है, लेकिन तैजस कार्माणरूप सूक्ष्म शरीर तो इस जीवके साथ निरन्तर रहता है। भगवान सिद्ध ५ प्रकारके शरीरोंसे रहित हैं, अष्टकर्मोंसे रहित हैं और ये प्रभु लोकके अग्रभागमें विराजमान हैं। जब मुक्त होते हैं तो इस शरीरको छोड़कर ये प्रभु ऊर्द्धगमन करते हैं तो एक ही समयमें लोकके अन्त तक पहुंच जाते हैं। यों ये प्रभु लोकके अग्रभागमें स्थित हैं। लौकिक रूढ़ि भी इसी बातको पुष्ट करती है कि परमदेव तो लोकके अग्रभागमें अवस्थित है, क्योंकि जो भी प्रभुकी याद करता है वह अपना सिर ऊपर की ओर उठाकर याद करता है। ये प्रभु ज्ञानादिक अष्ट

गुणोंसे युक्त हैं। उन अष्ट गुणोंका वर्णन आगेके श्लोकोंमें आयगा। ये प्रभु कर्मोंसे अत्यंत रहित है, इनका नाम है सिद्ध अर्थात् जो उत्कृष्ट गतिको प्राप्त हुए हैं। जो समस्त मलिनताओंसे दूर हो गए है, जैसे कि वे स्वयं है वैसा स्वरूप जिनके प्रकट हो गया है उन्हे सिद्ध कहते है।

अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात्।
महादेवोधिदेवत्वाच्छङ्करोपि सुखावहात् ॥६०९॥

प्रथमदेवका अरहंत, नाम होनेका सयुक्तिक वर्णन—देवमें देवबुद्धि करना कि यह देव है, गुरुमें गुरुबुद्धि करना कि यही गुरु है और धर्ममें धर्मबुद्धि करना कि यही धर्म कहलाता है सो तो है सम्यग्दर्शनका अंग और यदि कुदेवमें देवबुद्धि की तो वह है दोष, वह है मिथ्यात्वका उदय और कुगुरुमें यह गुरु है ऐसा माने तो वह भी मिथ्यात्व है और अधर्म जैसे कि बलि आदिक लोग करते हैं अथवा अधर्ममें धर्मबुद्धि करते हैं तो वह भी मिथ्यात्व है। इस प्रसंगमें यह बताया जा रहा है कि देव कौन कहलाता है? देव वह कहलाता है जो वीतराग हो और सर्वज्ञ हो, जिसमें रागद्वेष न रहें और तीनों लोक तथा अलोकका जो जाननहार है वह देव कहलाता है। तो ऐसे देव दो प्रकारके हैं—(१) अरहंत और (२) सिद्ध। अरहंत तब तक कहलाते हैं जब तक कि शरीर है। सशरीर भगवानको अरहंत कहते हैं। और जब शेष अघातियाकर्म दूर हो गए तब शरीर भी दूर हो गया। केवल आत्मा रहा और वह एक समयमें लोकके अग्रभागमें स्थित हो जाता है—उसे कहते है सिद्ध। तो दो प्रकारके भगवन्तोंमें से अरहंत भगवानका स्वरूप कहा जा रहा है। भगवान अरहंत कहलाते हैं क्यों कि वे जगतपूज्य हैं। अरहंत उसे कहते हैं जो पूज्य हो। अरह धातु क्रिया अर्थमें है। तो कितने लोगोंसे पूज्यको अरहंत कहते हैं? अरे समस्त जगतसे को, तीनों लोकसे पूज्यको अरहंत कहते है। तीनों लोक किस तरहसे अरहंतको पूजते हैं सो सुनो—अरहंत भगवानके समवशरणमें तीनों लोकोंके इन्द्र पहुंचते हैं—पाताल लोकसे भवनवासी तथा व्यन्तर देवोंके इन्द्र, ऊर्द्ध लोकसे स्वर्गोंके इन्द्र तथा मध्यलोकसे मनुष्योंके इन्द्र चक्रवर्ती वगैरा तथा तिर्यञ्चोंके इन्द्र सिंह वगैरा पहुंचते हैं। ये सभी प्रभुके चरणोंमें नतमस्तक हो जाते हैं। नरकसे कोई नारकी नहीं आता, मगर उस पाताल लोकके भवनवासी और व्यन्तर देवोंके इन्द्र तो आते है। तो इस ही का अर्थ है कि वे अरहंत प्रभु तीनों लोकके समस्त जीवों द्वारा पूज्य हैं। ऐसे अरहंत परमेष्ठी जगतपूज्य होते हैं।

अरहंत देवका जिन, महादेव व शंकर नाम होनेका सुक्तिक वर्णन—ये भगवान जिनेन्द्र कहलाते हैं। जिनेन्द्र उसे कहते है जो समस्त कर्मशत्रुओंको जीत ले। इन संसारी जीवों के तो चार घातिया कर्म लग रहे हैं जिसकी वजहसे ये सब प्राणी चारों गतियोंमें परिभ्रमण करते हैं, जन्म-मरण करते हैं, रुलते फिरते हैं। संसारमें सबसे कठिन क्लेश है जन्म-मरणका।

हग आपका यह भाव हो कि हे प्रभो, मेरा जन्म-मरण मिटे, यही एक मेरी चाह है, जगतमें अन्य किसी पदार्थकी मेरी चाह नहीं है । खूब धन-वैभव मानो मिल गया तो उससे मेरे आत्मा का क्या पूरा पड़ेगा ? बल्कि जब तक वैभवका संग है तब तक इस जीवको आकुलता है, उसका उपार्जन करना, उसे बढ़ाना, उसकी रक्षा करना, इनमें भी क्लेश मानता है । और यह परिग्रह जब मिटता है तो उस समय भी यह क्लेश मानता है । इन बाहरी पदार्थोंका समागम मिलना तो इसके लिए क्लेश है, दोष है । जीवका भला इसमें नहीं है । इससे पूरा नहीं पड़नेका । इसका तो पूरा पड़ेगा जन्म-मरण मिटनेसे । भगवान भी भगवान क्यों कहलाते ? उनके जन्म-मरणका तांता दूर हो गया, इससे वे भगवान कहलाये । भला बतलाओ—यहाँ कुछ वर्षों तक कोई बड़े आरामसे रहे, मान लो विषयोंके मौजमें रहे तो उससे लाभ क्या ? आखिर मरण तो होगा ही । मान लो यहाँसे मरकर कीड़ा-मकोड़ा हो गए तो फिर क्या हाल होगा ? खोटी गतियोंमें ही यदि परिभ्रमण करते रहे, वहाँके दुःख ही सहते रहे तो फिर क्या हाल होगा ? तो इस जीवका भला है इसके जन्म-मरण दूर होनेमें । प्रभुके ये जन्म मरण दूर हो गए, कर्मशत्रुओंपर उन्होंने विजय प्राप्त कर लिया । ये कर्मशत्रु ही तो इस जीवके जन्म-मरणके कारण बन रहे हैं । तो कर्मशत्रुओंको जीत लेनेके कारण, कर्मशत्रुओंको समूल नष्ट कर देनेके कारण ये भगवाग जिन कहलाते हैं, ये प्रभु महादेव कहलाते हैं । अरहंतका नाम महादेव भी है । जो देवाधिदेव हैं, जगतमें जितने भी देव माने गए हैं अथवा देवगतिके भी जितने देव हैं और कोई मनुष्योंके रूपमें भी कुछ माने जाते हैं उन सबके देवाधिदेव हैं । वास्तवमें देव हैं तो ये अरहंतदेव । देखो सिद्ध भगवान देव हैं, पर इन सिद्ध भगवानका ज्ञान किसने कराया ? वे तो लोकके अग्रभागमें स्थित हैं, उनका ज्ञान कराने वाले भी अरहंत भगवान हैं । जिनकी दिव्यध्वनिको गणधर देवने झेला, गणधर देवसे फिर अन्य आचार्योंने सुना, फिर उससे उपदेश शास्त्रपरम्परा चली । जो भगवान सिद्ध सर्वोत्कृष्ट निर्मल दशाको प्राप्त हैं उनकी सुध भी हमें अरहंतदेवके उपदेशसे होती है, इस कारण वे अरहंतदेव देवाधिदेव हैं, महादेव कहलाते हैं । ये अरहंत भगवान शंकर हैं, क्योंकि ये सुखको उत्पन्न करते हैं । संस्कृत में शं का अर्थ सुख कहा गया है । उस सुखको जो करे उसका नाम है शंकर । वास्तवमें शंकर हैं अरहंत भगवान । जिनके निकट पहुंचनेपर उत्कृष्ट भक्ति जगती है और भविष्यमें बांधे हुए कर्म खिरते हैं, ऐसे प्रभु अरहंत वास्तवमें शंकर कहलाते हैं । इस तरह देवोंमें जो बहुत प्रकार बताये हैं उनमेंसे अरहंत भगवानकी यह व्याख्या की जा रही है ।

विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृत्त्वात्कथञ्चन ।
ब्रह्म ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात् ॥६१०॥

अरहंत देवका विष्णु, ब्रह्मा व हरि नाम होनेका सुयुक्त वर्णन—लोग विष्णुको भग-

वान कहते हैं, पर विष्णु वास्तवमें हैं कौन ? ये ही भगवान अरहंत विष्णु हैं। विष्णुका अर्थ है तो सर्वत्र व्याप जाय। अब आत्मा तो प्रदेशोंसे लोकालोकमें व्यापक नहीं बनता। लोकमें अरहंत भगवानका आत्मा व्यापक होता है तो केवल एक समयको, जब कि लोकपूरण समुद्घात हो रहा हो। जितने पूरे ३ अघातिया कर्म आयुके बराबर हो जायें उस अवस्थामें एक समयके लिए अरहंत भगवानका आत्मा पूरे लोकमें फैल जाता है, बादमें वह सिकुड़ जाता है और जितना उसका शरीर है उतने मात्र रह जाता है, किन्तु वह तो एक समुद्घातकी दशा है। आत्मा सारे लोक और अलोकमें कभी फैल नहीं सकता। ज्ञान फैला है। भगवानका ज्ञान सारे लोकमें फैला है अर्थात् समस्त लोकको वह जानता है और अलोकको भी जानता है। लोक अनन्त है, जहाँ सिर्फ आकाश ही आकाश है उसे अलोक कहते हैं। वह भी ज्ञात है। तो जिसका ज्ञान इतना विशाल है उसे ही विष्णु कहते हैं। तो प्रभु अरहंत विष्णु हैं, क्योंकि समस्त अर्थोंमें उनका ज्ञान फैला हुआ है, और प्रभु ब्रह्मा कहलाते हैं। लोग ब्रह्मा शब्द कहकर भगवानको पुकारते हैं। तो वास्तवमें ये ब्रह्मा अरहंत भगवान हैं, क्योंकि वास्तविक जो आत्मस्वरूप है, ब्रह्मस्वरूप है उसका जाननहार होनेसे ये प्रभु ब्रह्मज्ञ कहलाते हैं। दूसरी बात यह है कि उत्कृष्ट सृष्टिके कारण तो ये अरहंत भगवान कहलाते हैं। संसारकी सृष्टि नो अनादिकालसे चली आ रही है, जो इस संसारसे हटाकर मोक्षमार्गमें ला दे और मुक्ति की सृष्टि करा दे, उसका कारण तो अरहंत भगवानकी भक्ति है, उनका उपदेश है, इसलिए वास्तवमें ब्रह्म अथवा ब्रह्मा तो ये अरहंत भगवान हैं। इन अरहंत भगवानको हरि भी कहते हैं। हरिका अर्थ है जो दुःखोंको हर दे, दुःखोंको दूर कर दे। भगवानने अपने दुःखोंको तो हर ही दिया, उनके दुःख तो नष्ट हो ही गए, पर जो भक्त भगवानकी भक्ति करते हैं, उनके स्वरूपका स्मरण करते हैं, वे भी दुःखोंसे दूर हो जाते हैं। इसलिए वास्तवमें हरि तो ये अरहंत भगवान ही हैं।

इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात्।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥६११॥

अनेक नाम होनेपर भी देवकी एकविधताका प्रतिपादन—जैसे कि कुछ ऊपरके श्लोकोंमें अरहंत भगवानके नाम बताये गए उसी प्रकार अनेक नाम भी अरहंत प्रभुके हैं, और सहस्त्रनामस्तोत्रमें तो १००८ नाम बताये ही गए हैं, ऐसे अनेक नाम हैं, पर वास्तवमें देवका जो लक्षण है वह सब नाम वाले अरहंतोंमें पाया जाता है, वह एक ही स्वरूप है, इसलिए देव एक है। वह देव क्या है ?····जो वीतराग है और सर्वज्ञ है। आत्मामें कलङ्क हैं ये रागद्वेष मोहादिक विकार, जब तक ये रागद्वेष मोहादिक लगे हुए हैं तब तक इस जीवकी भलाई नहीं है। ये कलंक है। ये जीवको चतुर्गतियोंमें भटकाने वाले हैं। ये कलङ्क जिनके रंचमात्र

भी नहीं रहते, ऐसे शुद्ध ज्ञाता भगवान अरहंत कहलाते है। जहाँ रागद्वेप नहीं रहते, तो ये ही आवरण थे ज्ञानको हल्का बनानेमें। जो जीव रागी होता उसका ज्ञान विकसित नहीं होता। तो ये रागद्वेप ही तो इस ज्ञानको दबाये हुए थे। जहां रागद्वेपादिक विकार नष्ट हुए कि यह ज्ञान इतना विस्तृत हो जाता है कि समस्त लोकालोकके त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जान लेता है। ऐसा जो स्वरूप है वह सबमें एक है। चाहे वे ऋषभदेव अरहंत हों, चाहे महावीर हों, चाहे श्रीराम हों अथवा कोई साधारण केवली हो। सभी अरहंतोंका स्वरूप एक ही समान है—वीतराग और सर्वज्ञ जहाँ रागद्वेपादिक रंच भी न हों और समस्त लोकालोकका जो जाननहार हो उसे अरहंत भगवान कहते हैं। तो यों अनेक नाम होनेपर भी स्वरूपकी दृष्टिसे देखा जाय तो प्रभु देव एक ही हैं।

चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता।
तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैमविधत्वतः ॥६१८॥

देवताकी एकविधता होनेसे देवबहुत्वकी दोषानुत्पादकता—यद्यपि व्यवहारदृष्टिसे देव अनेक प्रकारके नामोंसे कहे गए हैं—ऋषभदेव भगवान, अजितनाथ, सम्भवनाथ आदिक २४ तीर्थंकर बताये गए हैं। पर २४ तीर्थंकर बताये जानेसे नहीं यह न समझना चाहिए कि देव २४ प्रकारके हो गए। देव तो एक ही प्रकारका है। उनमें जो अनंतचतुष्टय प्रकट है वह तो सभीमें एक जैसा ही प्रकट है, चाहे वे ऋषभदेव हों, चाहे महावीर हों, चाहे श्रीराम हों अथवा चाहे कोई भी साधारण केवली हो। जो २४ भगवान बताये गए हैं वह तो भरत, ऐरावत क्षेत्रकी बात है। जिस क्षेत्रमें हम आप रहते हैं, यह तो भरतक्षेत्र है। यहाँ ६ कालोंका परिवर्तन होता है। पहिले कालमें उत्कृष्ट भोगभूमि, दूसरे कालमें मध्यम भोगभूमि, तीसरे कालमें जघन्ययोगभूमि, चौथे कालमें ये २४ तीर्थंकर होते हैं, पंचम कालमें तो यही होता है जैसा कि आजकल चल रहा है। इसके बाद छठा काल आयगा, वहाँपर धर्मकी प्रणाली न रहेगी, सभी लोग नष्ट हो जायेंगे, एक-एक हाथके शरीर वाले मनुष्य होंगे। धर्ममार्ग खतम हो जायगा। छठे कालके अन्तमें प्रलय होगी, उसमें सब जीवोंका विध्वंस होगा, लेकिन कुछ पुण्यशाली मनुष्य बचे रहेंगे, उन्हें देव लोग अच्छे स्थानोंमें रक्षित रखे रहेंगे। फिर उनमेंसे कुछ अपने आप पशु, पक्षी, मनुष्य आदिक जगहोंमें पहुंच जायेंगे। उस प्रलयकालके बाद फिर छठा काल आयगा। उसमें भी इसी छठे कालकी प्रवृत्ति रहेगी। उसके बाद फिर पंचम काल आयगा, फिर क्रमशः चतुर्थ, तृतीय और द्वितीय आदि काल आयेंगे। यह उत्सर्पिणी काल कहलायेगा। इस उत्सर्पिणी कालमें जब चतुर्थ काल आयगा तो उसमें भी २४ तीर्थंकर उत्पन्न होंगे। तो प्रत्येक चौथे कालमें २४ तीर्थंकर होते हैं। इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्रमें भी २४ तीर्थङ्कर होते हैं तथा धातकी खंडके व पुष्कराद्ध द्वीपके दोनों भरतों व ऐरावतोंमें २४-२४

तीर्थंकर यहाँके चतुर्थकालके समय होते रहते हैं, परन्तु विदेह क्षेत्रमें सदा तीर्थङ्कर भगवान होते रहते हैं और वे अधिकसे अधिक हों तो कभी १६० तीर्थङ्कर तक हो सकते हैं। जो २० तीर्थङ्कर बताये हैं वह तो महावीर स्वामीके समयकी बात है। वह बात अभी चल रही है, पर २० ही तीर्थङ्कर नहीं होते, अधिकसे अधिक १६० तीर्थंकर तक होते हैं। तो इतने तीर्थंकर देव होनेपर कहीं देव नाना तरहके नहीं हो गए। देवका स्वरूप एक ही है। जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो उसे देव कहते हैं। इस प्रकार देव अनन्त कहलाते हैं। इनका कभी अन्त नहीं होता। भगवान बने तो अन्त काल तक ही बने अथवा जब भगवानके गुणोंपर दृष्टि देते हैं यो उनमें गुण अनन्त हैं। उन अनन्त-गुणोंकी दृष्टिसे देव अनन्त हैं। लेकिन ऐसे अनन्त अथवा २४ अथवा करोड़ों ज्ञात कर लेनेपर भी देवका स्वरूप अनेक नहीं होता है, क्योंकि स्वरूपदृष्टिसे देव एक ही प्रकारका है। यहाँ बहुत हो गए, २४ तीर्थङ्कर हैं तो ऐसे बहुत जान लेना, यह दोषके लिए नहीं है। वे इतने व्यक्ति थे जो कि शुद्ध हुए हैं, पर स्वरूपदृष्टिसे देखा जाय तो देव एक ही प्रकारका है—जो वीतराग है और जो सर्वज्ञ है उसको देव कहते हैं।

प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्त्वहानये।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारता ॥६१३॥

अनेक प्रदीपोंमें प्रदीपत्वकी एकविधताकी तरह नाना देवोंमें देवत्वकी एकविधता—२४ तीर्थङ्कर और अनेक केवली होनेपर भी वे सब एक ही प्रकारके देव हैं। इसके समर्थनमें इस श्लोकमें दृष्टान्त बताया जा रहा है कि जैसे दीपक अनेक रखे हों तो दीपकोंकी अनेक संख्या होनेपर भी उनमें जो दीपत्व है, दीपपना है, प्रकाश करना है, इस प्रकारका जो प्रदीपपना है वह भी अनेक न होगा। अनेक दीप होनेपर भी वे सब दीप एक दीपपनेको सिद्ध करते हैं। तो जैसे दीपककी अनेक संख्या दीपपनेकी वुद्धिको दूर नहीं कर सकती, इसी प्रकार अरहंतकी अनेक संख्या अरहंतके स्वरूपके एकत्वकी देवत्वकी वुद्धिको दूर नहीं कर सकती। ऋषभदेव हैं तो वे भी वैसे ही अरहंत हैं जैसे कि महावीर। ३ इंच हाथकी अवगाहनाके भी अरहंत होते हैं और ५२५ हाथकी अवगाहना वाले भी अरहंत होते हैं, और कोई अरहंतदेव करोड़ों वर्ष तक भी रहते हैं। कोई अन्तर्मुहूर्त तक ही रहते हैं, इतना कालभेद होनेपर भी इतनी अवगाहना होनेपर भी भीतरमें विराजमान जो वीतराग सर्वज्ञ ज्ञानस्वरूप है वह देव कहलाता है। वह सबमें समान है। तो यों अरहंतका स्वरूप वह है जो वीतराग हो और सर्वज्ञ हो। तो उनकी नाना प्रकारता इस ही एक देवपनेको प्रकट करती है। ऐसे नाना अरहंत कहे जानेसे कहीं देव नाना नहीं हो जाते। देव तो एक ही प्रकारका है—जो वीतराग और सर्वज्ञ है।

न चाशक्यं यथासंख्यं नामतोऽस्यास्त्यनंतधा ।
न्यायादेकं गुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥६१४॥

गुणापेक्षया देवोंके नाम कहे जानेके कारण यथासंख्य अनंतविधताकी शंकानास्पदता—प्रभुके अनेक नाम बताये गए हैं, और प्रभुमें गुण अनन्त हैं। तो जिस गुणका नाम लेकर प्रभु को पुकारोगे उस-उस प्रकारके नाम बनते जायेंगे। तो कोई यह शंका न करे कि जब क्रमसे उन नामोंको पुकारा जा रहा है तो भगवान तो अनन्त हो गए। भले ही अनन्त नामोंसे भगवानको पुकारा गया है, लेकिन वास्तवमें एक गुण है। वह क्या ?····आत्माकी स्वच्छता। यह तो सभीमें एक ही प्रकारका है। तो इस स्वच्छताकी दृष्टिसे भगवान अरहंत एक प्रकारके ही हैं, वे नाना प्रकारके नहीं हो जाते। भले ही एक-एक गुणकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न नाम बोल दिए गए हों, लेकिन बात एक ही है—शुद्ध परिणमन। आत्माका जैसा सहज स्वरूप है उस स्वरूपके अनुसार परिणमन हो गया है, इसीको तो अरहंत बोलते हैं। आत्मा अपने आप कैसा है ? ज्ञानमात्र। शरीर वाला है आत्मा। कर्मके उदयसे इस शरीरके झंझट लग गए। रागद्वेषरूप नहीं है आत्मा। कर्मके उदयसे रागद्वेषके झंझट बन गए हैं। भगवान तो अथवा सहजस्वरूप तो केवल एक ज्ञानज्योतिमात्र है। तो ऐसी ज्ञानमात्र ज्योति जहाँ प्रकट हो गई है उसे अरहंत कहते हैं। तो यों एक गुणकी दृष्टिसे वह एक ही भगवान कहलाता है और एक-एक पृथक्-पृथक् गुणकी दृष्टिसे अनेक नाम हो जाते हैं, पर स्वरूप सबमें एक ही प्रकारका पाया जाता है।

नयतः सर्वतो मुख्यसंख्या तस्यैव संभवात् ।
अधिकस्य ततो वाच्यं व्यवहारस्य दर्शनात् ॥६१५॥

व्यवहारनयसे देवके अधिक नाम व संख्याकी योजना—भगवानको अनेक नामोंसे पुकारा जाता है, और इस तरह भगवान अनेक नाम वाले बन गए तो यह केवल गुणोंकी दृष्टिसे समझना चाहिए। भगवानमें जितने गुण हैं उन एक-एक गुणोंका नाम लेते जावो उतने ही भगवानके नाम बन जाते हैं। लेकिन यह सारा कथन नयकी अपेक्षासे है। और इस व्यवहारनयमें प्रभुमें जितने गुण विदित होते जायेंगे उन गुणोंके नामसे उतने ही नाम प्रभुके बनते जायेंगे, पर प्रभुता तो एक ही प्रकारकी है। चाहे वह कोई भी मनुष्य अरहंत बना हो। अरहंत होनेकी स्थितिमें भीतरमें सबका स्वरूप एक समान है और वह स्वरूप क्या है कि ज्ञानज्योतिर्मय जो आत्मा है वह रागद्वेषादिक कलंकोंसे रहित होकर शुद्ध ज्ञान वाला बन गया है। अब रागद्वेष दूर होनेपर शुद्ध ज्ञान जब रह जाता है तो वह ज्ञान इतना विशाल हो जाता है कि तीनों लोक अलोक जिसके ज्ञानमें निरन्तर समाया हुआ रहता है, अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है। तो यों वीतराग सर्वज्ञपनेकी दृष्टिसे भगवान एक प्रकारका है और अरहंत सिद्ध

देव, ये एक ही प्रकारके देव हैं, क्योंकि देवत्वका जो स्वरूप है वह है ही वीतरागता और सर्वज्ञता। ये अरहंत और सिद्ध दोनोंमें एक समान रूपमें पाये जाते हैं। इस तरह द्रव्यार्थिक दृष्टिसे देव एक प्रकारका कहा गया है।

वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिशापि यत्।
द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥६१६॥

तत्त्वकी वागतिशायिता—देवत्व एक ही प्रकारका है और वह भिन्न-भिन्न आत्माओं में जो कि परम आत्मा हो गए हैं, एक ही स्वरूपसे पाया जाता है। इसी कारण ज्ञानवृद्ध आचार्य जनोंने, सूत्र द्वारा तत्त्वको वचनोंके अगोचर बताया है अर्थात् वह शुद्ध आत्मतत्त्व जो द्रव्यरूपसे सहज है और पर्यायदृष्टिसे भी सहज तत्त्वके सही अनुरूप है वह वचनों द्वारा नहीं कहा जा सकता है। जो इस तत्त्वको बतानेमें समस्त द्वादशांग और अङ्ग बाह्य श्रुतज्ञान बताया गया है वह भी तद्विषयक स्थूल पदार्थोंको विषय करने वाला है। सारांश यह है कि वह देवत्व ऐसा अन्तरङ्ग गुण है कि जो अनुभवमें तो आ सकता है, पर जिसके अनुभवमें आता है और जो देवत्वका सत्य स्वरूप है उस स्वरूपको घटना द्वारा नहीं बाँधा जा सकता। हाँ वचनों द्वारा कहा भी जायगा तो उसका स्पष्ट अर्थ वह ही पुरुष समझ सकेगा जिसने देवत्वका कुछ दर्शन किया है। अपने आपमें निर्विकल्पसमाधि बलके द्वारा सहज ज्ञानज्योति का अनुभव करने वाला पुरुष ही उन वचनोंका स्पष्ट अर्थ समझ सकता है।

कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यञ्चेति चतुष्टयम् ॥६१७॥
सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः।
अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्टगुणाः स्मृताः ॥६१८॥

कृत्स्नकर्मक्षयसे उत्पन्न हुए सिद्धोंके आठ गुण—देव अवस्था विशेषसे दो प्रकारके कहे गए थे। प्रथम देव अरहंत और द्वितीय देव सिद्ध। इस श्लोकमें सिद्ध भगवानके ८ गुणों का स्वरूप कह रहे हैं। निर्देश द्वारा ही उनका स्वरूप जान लिया जाता, अतएव नाम बताकर सिद्ध भगवानके अष्टगुणोंकी ख्याति की जा रही है। सिद्ध भगवानमें प्रथम गुण है क्षायिकज्ञान। यह गुण समस्त कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुआ है अथवा जितने आठों गुण कहे गए हैं वे सभी ८ प्रकारके कर्मोंके क्षयसे प्रकट हुए हैं, जिनमें ज्ञान तो केवलज्ञानावरणके क्षयसे प्रकट हुआ है। ऐसी प्रकृति प्रदेशबंध जिसमें स्थिति अनुभाग इस प्रकारका पड़ा था कि जिसके उदयके आनेपर आत्माका ज्ञान रुक जाता था। यद्यपि समस्त ज्ञान नहीं रुका, कुछ रंचमात्र ज्ञान फिर भी रहा, लेकिन ज्ञानावरणका जितना उदय था उतना रुका रहा। उस कर्मके क्षयसे केवलज्ञान प्रकट हुआ है, जिसके द्वारा तीनों लोकालोकके त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ स्पष्ट जान

लिए जाते हैं। दूसरा गुण है क्षायिक दर्शन। यह गुण केवल दर्शनावरणके क्षयसे प्रकट हुआ है। जाननहार आत्माका स्पष्ट प्रतिभास कर लेना दर्शनका कार्य है। तो जहाँ तीनों लोकालोकवर्ती और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ जान लिए गए हैं, ऐसे इतने विशाल ज्ञाता आत्माको प्रतिभासमें लेवे, ऐसे दर्शनको अनन्तदर्शन कहते हैं। तीसरा गुण है अतीन्द्रिय आनंद। अतीन्द्रिय आनन्दका बाधक वास्तवमें मोहनीयकर्म है और फिर चार घातिया कर्म हैं अथवा यों कहो कि आठों ही कर्म इस आनन्दके घातक हैं। तो जहाँ आठों कर्मोंका क्षय हो गया वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट होता है। चौथा गुण है अनन्तवीर्य। वीर्यान्तराय अथवा समस्त अंतराय कर्मोंका क्षय होनेसे भगवानमें अनन्तवीर्य प्रकट होता है। जो अनन्तगुणका अनंत विकास है उसको झेले रहे, इसके लिए अनन्तवीर्यकी आवश्यकता है। वह गुण अंतराय कर्मके क्षयसे प्रकट हुआ है। ५वाँ गुण है सम्यक्त्व। मोहनीयकर्मका क्षय हो जानेसे निर्दोष निर्मल अविकार सम्यक्त्व प्रकट हुआ है। छठा गुण है सूक्ष्मत्व। नामकर्मके क्षय हो जानेसे सूक्ष्मत्व गुण प्रकट हुआ है। आत्मा सूक्ष्म तो है ही, अनादिसे सूक्ष्मत्व गुण उसमें था, लेकिन कर्मसे ग्रस्त होनेके कारण यह आत्मा नर-नारकादिक पर्यायोंमें बंधा रहा। दूसरी बात बतायी गयी थी कि भावमें रंजित रहा, इस कारण भी कथंचित् मूर्त रहा, स्थूल रहा। अब वह स्थूलताका कारण न रहनेके कारण आत्माका सूक्ष्मत्व गुण जैसा सहज है वैसा ही प्रकट हो गया। ७वाँ गुण है अव्याबाधगुण। जहाँ अब किसी प्रकारकी बाधा नहीं रही, वेदनीयकर्मके उदयमें अनेक बाधायें आती थीं, इष्टवियोग अनिष्टसंयोग आदिक रागद्वेषादिकके कारणभूत संग रहा करता था, जिसमें यह अनेक प्रकारकी बाधाओंका अनुभव करता था। अब वेदनीयकर्मके क्षय हो जानेसे अव्याबाध गुण प्रकट हुआ है। ८वाँ गुण है अगुरुलघुत्व गुण। गोत्रकर्मके उदयमें यह जीव कभी नीच-ऊँच कुलमें उत्पन्न होता था। अब गोत्रकर्मका विनाश हो जानेसे अगुरुलघुत्व गुण प्रकट हुआ है, वह अब न लघु रहा, न गुरु अर्थात् इतना गुरु हो गया कि जिससे घटबढ़पना सिद्धमें नहीं पाया जाता। लघुपना तो अब नहीं रहा, इस तरह सिद्ध भगवानमें ये ८ स्वाभाविक गुण होते हैं।

इत्याद्यनन्तधर्माढ्यो कर्माष्टकविवर्जितः।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो न चेतरः ॥६१९॥

अनन्तधर्माढ्य कर्माष्टकविवर्जित अष्टादशदोषरहित देवकी सेव्यता—ऊपर ८ गुणोंको मुख्यतया बताया था। इसी प्रकार और भी यह समझना चाहिए कि वह सिद्ध भगवान अनंत धर्मोंसे युक्त हैं, क्योंकि अनन्त गुणवान आत्मा है और गुणके घातक कर्मोंके नष्ट हो जानेसे वे सभी गुण उच्चविकासको प्राप्त हुए हैं। तब अनन्त धर्मोंसे युक्त सिद्ध भगवान कहे गए वे युक्त ही हैं। ये प्रभु अष्टकर्मोंसे रहित हैं। द्रव्यकर्मका अब कुछ भी निषेक वहाँ नहीं रहा

और साथ ही कोई विभाव वासना भी नही रही, इसी कारण अब सिद्धप्रभुमें कर्माकुर कभी भी न आ सकेंगे। ये प्रभु १८ प्रकारके दोषोंसे रहित हैं। जन्म, जरा, मरण, क्षुधा, तृषा आदिक किसी भी प्रकारका दोष इन प्रभुमें नहीं पाया जाता। इस प्रकार १८ प्रकारके दोपोंसे ये सिद्धप्रभु निर्मुक्त हैं। ऐसे ये सिद्धदेव ही उपासनाके योग्य है। अरहंत भी सिद्ध ही कहलाते हैं। तो इन अरहंतदेवको छोड़कर अन्य लौकिक रूढ़िमें माने गए कोई देवगतिके अथवा कोई कल्पित देवता उपासनीय नहीं कहे गए।

अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयो मार्गोपदेशकः।
आप्तश्चैव स्वतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥६२०॥

वीतराग सर्वज्ञदेवकी गुरुता, मोक्षमार्गोपदेशकता, आप्तता एवं मोक्षमार्गनेतृता—उक्त कथनका सारांश यह है कि कर्मोंसे रहित १८ प्रकारके दोषोंसे मुक्त रागद्वेषादिक विभावों से अतीत सर्वलोकालोकका जाननहार परमात्मा ही वास्तविक गुरु है, और ऐसे अरहंतदेव ही मोक्षमार्गका उपदेश करने वाले हैं। अर्थात् इनका दर्शन, इनकी दिव्यध्वनि श्रवणसे मोक्षमार्गकी प्राप्तिमें सहयोग मिलता है, इस कारणसे ये ही आप्त कहलाते हैं और यहीं आप्त अरहंत भगवान मोक्षमार्गके साक्षात् नेता हैं। नेता उसे कहते है जो मोक्षमार्गको प्राप्त कर चुके हों और दूसरोंको भी मोक्षमार्गकी प्राप्तिका उपाय बताते हों। जैसे जो पुरुष स्वयं नदी पार करके दूसरी पार पहुंच गया है उसी पुरुपको वास्तविक अधिकार है कि वह दूसरेको भी बताये कि इस रास्तेसे आइये तो बिना किसी बाधाके इस नदीको पार करके इस तटपर आ सकते हो। तो जो स्वयं तिर चुके हों और दूसरोंको तिरनेका पंथ बतायें, ऐसे मोक्षमार्गके नेता ये अरहंत भगवान ही है।

तेभ्योर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः।
गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्था विशेपभाक् ॥६२१॥

छद्मस्थावस्थामें भी जिनलिङ्गधारी साधुओंकी गुरुताका कथन—उक्त श्लोकमें परम गुरुका निर्देश किया गया, परमगुरु अरहंत आप्त भगवान हैं और उनमें परमगुरुसे नीचे अल्पज्ञ पुरुष भी जो कि उस जिनरूपको धारण करने वाले हैं वे भी गुरु कहलाते हैं। अरहंत भगवान परमगुरु हैं, और आचार्य, उपाध्याय, साधु ये गुरु है। जो जिनेन्द्र भगवानका रूप है यथाजात रूप। जैसे बालक उत्पन्न होता तब तो उसके शरीरमात्र दिखता है, उसके साथ न कोई आभूषण है, न वस्त्र, किसी भी प्रकारका परिग्रह जिसके साथ नहीं, ऐसे ही निर्ग्रन्थ भेपको लिए हुए और जो संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त साधुजन हैं, वे गुरु कहलाते है, क्योंकि गुरु का लक्षण इन साधुवोंके भी वैसा ही है जैसा कि सामान्य रूपसे परमगुरुका बताया गया है। ऐसी विशेषता पायी तो है वहाँ रागद्वेपका पूर्ण विनाश है और सर्वज्ञता पूर्ण प्रकट है। तो

यहाँ भी ये विरक्त जन हैं और विशुद्ध ज्ञान लिए हुए हैं। और लोगोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट ज्ञान को धारण किए हुए हैं, अतः ये साधु जन गुरु कहलाते हैं। इस गुरुकी अवस्थासे विपरीत अन्य कोई अवस्था-विशेषमें रहने वाले पुरुष गुरु नहीं कहला सकते।

अस्त्यवस्थाविशेषोत्र युक्तिस्वानुभवागमात्।
शेषः संसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥६२०॥

युक्तिस्वानुभवागमप्रसिद्ध गुरुवोंकी अतिशायिता—संसारी जीवोंकी अपेक्षा कोई अवस्था विशेष है—इन गुरुजनोंकी, यह बात युक्ति, अनुभव और आगमसे प्रसिद्ध होती है। संसारी जनोंसे मतलब साधारण रागी, द्वेषी, मोही, गृहस्थ जनोंसे है। जो हिंसा, झूठ चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापोंसे सर्वथा दूर नहीं हुए हैं, जो आरम्भ परिग्रहमें आसक्त हैं, जिन्होंने ब्रह्मस्वरूपमें रमण करनेकी धुन नहीं बनायी है, ऐसे साधारण जनोंसे बहुत विशेष अतिशय गुरुजनोंमें पाया जा रहा है। यह बात युक्तिसे भी सिद्ध है। यहाँ गृहस्थ जनोंमें राग-विशेष है, अशान्ति है, और वहाँ गुरु जनोंमें रागकी अतिमंदता है, बल्कि वैराग्यका प्रकाशन है, इसलिए वे गुरु कहलाते हैं। साधारण जनोंमें ज्ञान ऐसा पाया जाता है कि जो बाह्य पदार्थोंमें अटका हुआ रहता है, उलझा हुआ उनका ज्ञान है, किन्तु गुरु जनोंका ज्ञान आत्म-विषयक है, सुलझा हुआ ज्ञान है, उन्हें हर्ष, विषाद, विपदा आदिकका स्थान नहीं बनना पड़ता है, इसलिए इन गुरु जनोंमें साधारण जनोंकी अपेक्षा विशेष अतिशय पाया जाता है।

भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते।
अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात् सिद्धसाधनम् ॥६२३॥

भाविनैगमनयसे भाविपदमें तद्वत्ताकी दृष्टि—भावीनैगमनयकी अपेक्षासे देखा जाय तो इस नयमें होने वाली चीज हुईकी तरह दिखा करती है। तब इन गुरुजनोंको भी अरहंत ही हैं, ऐसा इस नयमें दिखता है। याने नैगमनय उसे कहते हैं कि जो भावी गुरुमें होने वाली अवस्था है उसको वर्तमानमें ही कह देना। जैसे कोई युवराज आगे राजा तो होगा ही, तब ही उसे युवराज कहा गया है, पर उस युवराजको पहिलेसे ही राजा कहने लगना, अथवा किसी पुरुषके मंत्री आदिक पदपर नियुक्ति हो रही है, अब चाहे वह चार्ज दो दिन बाद सम्हाले, लेकिन उसे मंत्री कह देना, यों आगे होने वाली परिस्थितिको वर्तमानमें कह देनेकी बात भावी नैगमनयमें हुआ करती है। तो ये गुरुजन जो अविकार ज्ञानस्वभावी आराधनाकी धुन ही लिए हुए हैं और क्षण-क्षणमें यथासमय विकल्पोंसे रहित होकर अविकार ज्ञानस्वभाव की उपासनामें अभेद रहा करते हैं, ये गुरु जन अब निकटकालमें ही अरहंत होंगे। इनका स्वरूप वीतरागता और ज्ञानकी स्वच्छताका है, अतएव भावी नैगमनयसे ये अरहंत हैं, या कहो कि अरहंतमें जो गुण हैं वे सब एक देशरूपसे छद्मस्थ गुरुवोंमें पाये जाते हैं, इस कारण ये

गुरु कहलाते हैं। तो परमगुरु हुए अरहंत और गुरु हुए आचार्य, उपाध्याय और साधु नामके मुनिराज।

अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः।
चारित्रं देशतः सम्यक्चारित्रावरणक्षतेः ॥६२४॥

छद्मस्थ गुरुवोंमें सम्यक्त्व व एकदेशसम्यक्चारित्रकी प्रकटता—उन छद्मस्थ गुरुवोंमें भी चूंकि मिथ्यात्वकर्म तो रहा नहीं, वे उपशान्त हैं और सम्यग्दर्शन प्रकट हो चुका है; तो सम्यग्दर्शन प्रकट हो जानेके कारण तथा चारित्रमोहनीयकी क्षति हो जानेसे चारित्र प्रकट हो जानेके कारण ये शुद्ध धर्मकी मूर्ति बन गए हैं। तो छद्मस्थ गुरुवोंमें कषायोंका क्षय हो जानेसे एक देश सम्यक्चारित्र भी प्रकट हो गया है। अरहंत परमगुरु पूर्ण चारित्रकी मूर्ति हैं, यथाख्यात चारित्र उनके प्रकट हुआ है, तो इन गुरुवोंके भी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन आदि कषायोंका क्षय हो जानेसे यहाँ भी यथाख्यात चारित्र प्रकट हुआ है, इस कारण अरहंतदेव परमगुरु हैं। तो ये आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी गुरु कहलाते हैं। ऐसे गुरुवोंमें गुरुत्वबुद्धि करना अमूढ़दृष्टि अङ्ग कहलाता है।

ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात्।
मोहकर्मोदयाभावात्तत्कार्यस्याप्यसंभवात् ॥६२५॥

मोहकर्मोदयका अभाव होनेसे गुरुवोंमें शुद्धत्वकी अभिव्यक्ति—जहाँ दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयका विनाश हुआ है वहां स्वभावतः शुद्धिपना सिद्ध हो जाता है। ये गुरुराज जिनका उपयोग सहज ज्ञानस्वभावकी ओर लगा रहता है, जिनकी धुन इस अंतरतत्त्वमें ही समायी रहती है उन गुरुराजमें शुद्धि है, यह बात स्पष्ट सिद्ध है, क्योंकि मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे कलमपतायें उत्पन्न होना असम्भव है। विकार, कलमपता, मलिनता आदि मोहनीयकर्मके उदयसे हुआ करते हैं, जहाँ मोहनीयकर्मका अभाव हो चुका वहाँ कलमपतायें कहाँसे आ सकती हैं? तो इन गुरुराजमें भी मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे अथवा नामकर्मका, संज्वलन कषायोंका मंद उदय होनेपर उनके कलमपतायें उत्पन्न नहीं हो सकतीं, इस कारण गुरुवोंमें भी ज्ञान और वैराग्यकी स्वच्छता प्रकट हुई है, इस ही कारण वे वास्तविक गुरु कहलाते हैं। गुरुवोंमें जो शुद्धता प्रकट हुई है, रागद्वेषका अभाव होनेसे ज्ञानकी जो स्वच्छता प्रकट हुई है वह निर्जराका समर्थ कारण है, यह बात भली-भाँति प्रसिद्ध है तथा यह सम्वरका भी कारण है। सम्वरके विपरीत है आस्रव तथा आस्रवके द्वार हैं मिथ्यात्व, अविरत आदिक भाव। जहाँ मिथ्यात्व रागद्वेषादिक भाव दूर हो गए वहाँ सम्वर तत्त्व प्रकट हो जाता है। तो जहाँ रागादिक भाव दूर हुए वहाँ ज्ञानकी स्वच्छता ही तो प्रकट हुई है। ऐसी शुद्धता निर्जराका कारण है और रत्नत्रयका भी कारण है और यही शुद्धता मोक्षको प्राप्त कराने वाली है।

मुक्तिमें परमकैवल्य अवस्था प्रकट है अर्थात् आत्मा केवल जैसा सहज स्वरूपमें है उस प्रकार का स्वरूप वहाँ पूर्ण प्रकट है। तो ऐसे कैवल्यकी पूर्णता तब ही तो हुई जब कि पहिलेसे कैवल्यका प्रकाश होवे। तो कैवल्य कहो अथवा शुद्धता कहो, एक ही बात है। जहाँ ज्ञानकी स्वच्छता प्रकट हुई है याने रागादिक विकारोंसे रहित ज्ञानभाव जहाँ प्रकट हुआ है, ऐसी यह शुद्धता ही पूर्णरूपसे जब धारण करता है तो उस ही को मुक्ति कहते हैं। तो ऐसी मुक्तिको प्राप्त कराने वाली यह ज्ञानकी शुद्धता है, ऐसी शुद्धता इन गुरुवोंमें प्रकट है, इस कारण ये साधुपरमेष्ठी गुरु कहलाते हैं। इन गुरुवोंमें गुरुपनेकी बुद्धि रखना सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य गुरुवोंमें, कुधर्ममें, कुदेवमें देवत्व, धर्मत्व, गुरुत्व आदिकी बुद्धि करना सो मूढ़-दृष्टि कहलाता है। ऐसी मूढ़दृष्टि जहाँ रंच भी न रहे उसे अमूढ़दृष्टि कहते हैं।

तच्छुद्धत्वं सुविख्यातं निर्जराहेतुरञ्जसा।
निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥६२६॥

गुरुवोंके शुद्ध परिणाममें निर्जराहेतुता, संवरकारणता व निर्वाणभाजनता—गुरुमें जो शुद्धता पायी जाती है वह शुद्धता निर्जराका समर्थ कारण है, यह बात तो स्पष्ट प्रसिद्ध ही है, साथ ही वह शुद्धता सम्वरका भी कारण है, क्योंकि शुद्धता ज्ञायकभावके विकासमें दोनों ही सामर्थ्य हैं कि बँधे हुए कर्म निर्जीर्ण हो जायें और आगामी कर्म न आ सकें। यों गुरुमें पायी जाने वाली शुद्धता निर्जरा और सम्वर दोनोंका कारण है। साथ ही यह भी बात स्पष्ट है कि वह शुद्धता क्रमसे मोक्षको प्राप्त कराने वाली भी है। जैसे शुद्ध भावमें कर्म निर्जरा और कर्मसम्वर हो रहे हैं तो यह युक्तिसिद्ध बात है कि जहाँ सम्वर हो और निर्जरा हो वहाँ मोक्ष अवश्य है। जैसे छेद वाली नावसे पानी आ रहा था। अब यदि उस छिद्रको बन्द कर दिया जाय और उस नावमें आया हुआ जल क्रमसे उलीच दिया जाय तो नया जल नहीं आता और पुराना जल दूर कर दिया तो उसका फल यह है कि इस जलसे सदा पूरा खाली हो जाता है। इसी तरह जब कर्मोंके दूर आनेके द्वारा बन्द कर दिए गए और वे हुए शुद्ध भावों से तो जहां शुद्ध भाव हुए वहाँ कर्मोंका आना भी रुक गया और बँधे हुए कर्म खिर गए तो इस स्थितिमें क्रमसे नियमसे मोक्ष ही होगा। अतः आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनोंमें पायी जाने वाली जो शुद्धता है वह सम्वर, निर्जरा और मोक्षका कारण होती है।

यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः।
शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥६२७॥

गुरुवोंके शुद्ध परिणामकी निर्जरासंवरमोक्षरूपता—गुरुजनोंमें पायी जाने वाली शुद्धता निर्जरा, सम्वर और मोक्षका कारण है, इतना भी भेद क्यों किया जाय? वह शुद्धता स्वयं निर्जरा, सम्वर और मोक्ष है, ऐसा भी निरखना चाहिए, क्योंकि शुद्ध भावोंका अविनाभावी निर्जरा, सम्वर और मोक्ष है, ऐसा भी निरखना चाहिए, क्योंकि शुद्ध भावोंका अविनाभावी

जहाँ आत्मद्रव्य है वही निर्जरा है, वही सम्वर है और वही मोक्ष है। अर्थात् शुद्ध भाव परिणत आत्मा ही तो निर्जरा कर रहा है। शुद्ध भाव परिणत आत्मा ही तो सम्वर रूप बन रहा है, अर्थात् कर्म न आयें, ऐसी स्थिति इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी हो रही है और जब मोक्ष होता है तो वहाँ भी रहा क्या ? शुद्ध आत्मा ही। इस तरह शुद्धता ही स्वयं निर्जरा है, संवर है और मोक्षस्वरूप है। तो निश्चयनयसे शुद्ध आत्मा ही निर्जरा, सम्वर और मोक्ष इन तीनों उपादान तत्त्वोंरूप है।

निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मनः।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः ॥६२८॥

निर्जरादिहेतुभूत शुद्ध भावकी परमपूज्यता—जो निर्जरा आदिकका कारण आत्माका शुद्ध भाव है वह भाव शुद्ध भाव है। चैतन्य आत्माका जो सहज विकसित भाव है वही तो निर्जराका कारण है और वही भाव पूज्य है। जिस भावसे सम्वर, निर्जरा और मोक्ष होता है वही भाव परमपूज्य है। जो शुद्ध भावको धारण करने वाला आत्मा है वही परमगुरु है। प्रकरण यह चल रहा है कि देवमें देवबुद्धि करना और गुरुमें गुरुबुद्धि करना सो सम्यग्दृष्टिका गुण है। तो देव क्या है ? शुद्ध आत्मा ही तो देव है, गुरु भी यह शुद्ध आत्मा ही है। तो ये देव और ये गुरु पूज्य हैं। तो इसका भाव यह हुआ कि निर्जराका कारणभूत जो आत्माका शुद्ध भाव है वही परमगुरु कहलाता है।

न्यायाद्गुरुत्वहेतुः स्यात् केवलं दोषसंक्षयः।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः ॥६२९॥

दोषसंक्षयकी गुरुत्वहेतुता—उक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि गुरुपनेका कारण मात्र दोषोंका क्षय होना है। परमगुरुमें भी देखो तो उनके परमगुरुता किस कारण हुई है ? भगवान सर्वज्ञदेव वीतरागताके कारण परमगुरु कहलाते हैं। रागद्वेषका होना गुरुताका बाधक है। जहाँ रागद्वेष कतई नहीं हो रहे हैं वहाँ परमगुरुता प्रकट हो जाती है। निर्दोष पुरुष ही जगतको जानने वाला है। निर्दोष पुरुष ही मोक्षमार्गका नेता हो सकता है। अर्थात् स्वयं मोक्षमार्गमें चलकर दूसरोंको मोक्षमार्गमें लगाने वाला होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि परमगुरुताका कारण निर्दोषपना ही है, और जो निर्दोष नहीं है वह न तो सर्वज्ञ हो सकता है और न मोक्षमार्गका नेता हो सकता है। यों दोषवान तो समस्त संसारी जीव जगत में चारों गतियोंमें भ्रमण कर ही रहे हैं, वे कहीं मोक्षमार्गके नेता नहीं हैं और न वे गुरु हैं, न देव हैं। तो गुरुपनेका कारण केवल दोषोंका विनाश ही है। जहाँ रागद्वेष दूर हो गए वही परमगुरु है और जहाँ रागद्वेष अत्यंत मन्द हैं, क्षीण हो रहे हैं वे गुरु कहलाते हैं।

नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः ।
रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥६३०॥

कषायविजयी गुरुकी छद्मस्थतामें गुरुत्वक्षतिकी अकारणता—कोई शंकाकार ऐसा भाव रखे कि आचार्य, उपाध्याय और साधु ये छद्मस्थ हैं, अल्पज्ञ हैं, इस कारण इन्हें गुरु नहीं कहा जाना चाहिए। ऐसी शंका यों संगत नहीं है कि गुरुताको नष्ट करने वाले तो रागादिक अशुद्ध भाव हैं। कहीं वे अल्पज्ञ हैं, इस कारण गुरु नहीं हैं, यह व्याप्ति नहीं बन गई, क्योंकि गुरुताका बाधक रागादिक अशुद्ध परिणाम है। तब जानें कि इससे कहीं गुरुता नहीं नष्ट हो जाती। हाँ कोई विशेषता जगती भी हो अन्य कुछ लोगोंकी अपेक्षा, किन्तु रागादिक, क्रोधादिक भाव विशेष पाये जाते हों तो वह गुरु नहीं कहा जा सकता। तो गुरुताका विनाश करने वाले तो रागादिक भाव हैं और रागादिकका कारण मोहनीयकर्म है। तो जिसके दर्शनमोहनीय कर्मका अनुदय है और चारित्रमोहनीय कर्मके भी संज्वलन मात्रको छोड़कर शेष सभी दूर हो गए हैं तो ऐसे गुरुजनोंमें गुरुता अवश्य है। छद्मस्थ होनेके कारण वे गुरु नहीं हैं, यह बात शङ्का युक्त नहीं है। हाँ यह कह सकते हैं कि वे परमगुरु नहीं हैं। परमगुरु वीतराग सर्वज्ञदेव ही होते हैं, किन्तु छठे गुणस्थानसे लेकर १२वें गुणस्थान तकके सब मुनि गुरु कहलाते हैं।

नान्वावृत्तिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म च ।
अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत् ॥६३१॥

गुरुवोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण व वीर्यान्तरायका सद्भाव होनेसे शुद्धता न हो सकनेकी शंकाकारकी आरेका—अब यहाँ शंकाकार अपनी दूसरी शङ्का रख रहा है कि गुरुजनोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म तो मौजूद हैं, क्योंकि इनका विनाश १२वें गुणस्थानके अन्तमें होता है। जब तक ये तीनों कर्म बाकी रह गए हैं तब तक शुद्धता कैसे प्रकट हो सकेगी ? शुद्धताके ही कारण तो उनमें गुरु बताया जा रहा है। यद्यपि दर्शनमोहनीयकर्म का अनुदय है, तो रहा आये, और संज्वलन कषायका और ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यान्तरायका सद्भाव पाया जा रहा है अथवा अन्य ऊपरके गुरुवोंमें देखा जाय तो मोहनीय कर्म उनके बिल्कुल नहीं रहा, लेकिन ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका विपाक होनेसे उनमें भी शुद्धता कैसे कही जा सकती है ? जिसके कारण उनको गुरु बताया जा रहा है। तो जब शेष ३ घातिया कर्म रह गए हैं, उनका विपाक चल रहा है तो उनमें शुद्धता नहीं मानी जा सकती शुद्धता न होनेके कारण उनमें गुरुता भी नहीं मानी जा सकती।

सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च ।
मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥६३२॥

उक्त कर्मत्रिक के बन्धोदयसत्त्वक्षयोंकी मोहकर्माविनाभूतता बताकर शङ्काकारकी उक्त आरेकाका समाधान—उक्त शङ्काके समाधानमें कह रहे हैं कि शङ्काकारकी यह शङ्का कि गुरुजनोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यान्तराय कर्मका सद्भाव है, सो इतनी बात तो ठीक है। सद्भाव अवश्य तीन घातिया कर्मोंका है, लेकिन इन तीनों कर्मोंका बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय मोहनीयकर्मके साथ अविनाभावी है, अर्थात् मोहनीयकर्मका विपाक होनेपर इन तीन कर्मोंकी प्रबलता चलती है। मोहनीयकर्मका विनाश होनेपर ये तीनों कर्म भी विनष्ट हो जाया करते है। तो इन तीनों कर्मोंका मोहनीय कर्मके साथ कैसा अविनाभावीपना है अर्थात् तीनों कर्मोंके बन्ध, उदय, सत्त्व मोहनीय कर्मके बलपर रहना कहा है और इन तीनोंका क्षय मोहनीयकर्मके साथ कहा है, अविनाभावी है, इस बातको स्पष्ट रूपसे अगले श्लोकमें बताया जा रहा है।

तद्यथा बध्यमानेऽस्मिंस्तद्बन्धो मोहबन्धसात्।
तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः ॥६२३॥

मोहकर्मके बन्ध, सत्त्व, उदय व क्षय होनेपर कर्मत्रिकके यथायोग्य बंध, सत्त्व, उदय व क्षय होनेका कथन—मोहनीयकर्मका बन्ध होनेपर ही तो उसीके आधीन ज्ञानावरणादिक बंध योग्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है। मोहनीयकर्म जहाँ तक बँध रहा है वहाँ तक ज्ञानावरण आदिक कर्म विशेष रूपसे बँधते है। जहाँ मोहनीयकर्मका बन्ध मिटा, भले ही कुछ समय तक ज्ञानावरणादिक कर्मोंका बन्ध हो, लेकिन वह अति निर्बल बन्ध है। तो मोहनीयकर्मके बन्धके साथ ज्ञानावरण कर्मके बन्धका बल चलता है, इसी तरह मोहनीयकर्मके सत्त्व होनेपर ही ज्ञानावरण आदिक कर्मोंका सत्त्व रहता है। दर्शनमोहनीय कर्मका सत्त्व जहाँ तक है वहाँ तक ज्ञानावरण आदिक कर्मोंका सत्त्व बड़ी खूबीके साथ बन ही रहा है, पर दर्शनमोहनीयका अनुदय होनेपर चारित्र मोहका जहाँ तक सत्त्व चल रहा है या दर्शनमोहनीय कर्मका जहाँ क्षय भी हो चुका है और चारित्रमोहका जहाँ तक सत्त्व चल रहा है वहाँ तक ज्ञानावरणकर्मका सत्त्व बना हुआ है। हाँ १२वें गुणस्थानमें चारित्रमोहका सत्त्व नही रहा, तिसपर भी जो ज्ञानावरण आदिकका सत्त्व है वह मात्र अन्तर्मुहूर्त तकके लिए है। उन सत्त्व प्रकृतियोंका क्षय नियमसे अन्तर्मुहूर्तमें हो जाता है। इस तरह मोहनीयकर्मका सत्त्व न रहनेपर ज्ञानावरणादिक कर्मोंका सत्त्व भी नही रहता है। यों मोहनीयकर्मके सत्त्वका अविनाभावी ज्ञानावरणादिक तीन घातिया कर्मोंका सत्त्व सिद्ध हो जाता है। जहाँ तक मोहनीयकर्मका उदय चल रहा है वहाँ तक ज्ञानावरणादिक कर्म भी पकते हैं अर्थात् ज्ञानावरणादिक कर्मोंका सही विपाक जिसका कि फल इस जीवको अनुभवमें रहता है वह मोहनीयकर्मके उदयके साथ बना हुआ है। १२वें गुणस्थानमें मोहनीयकर्मका उदय नहीं है और ज्ञानावरण आदिक तीन घातिया कर्मोंका उदय

है, सो वह उदय कोई फलवान नहीं है, निष्फल होकर खिरता है। १३वें गुणस्थानका विकास हो जाता है, इसी तरह जबकि मोहनीयकर्मके बंधका सत्त्व, उदय और क्षयके साथ ज्ञानावरण आदिक कर्मका बन्धादिक लगा हुआ है तो इससे यह निष्कर्ष निकला कि जहाँ मोहनीयकर्मका अनुदय हो गया या अति मंद उदय चारित्रमोहका हो गया तो वहाँ ज्ञानावरण आदिक कर्मके रहते हुए भी वहाँ गुरुता समाप्त नहीं होती है। वे अपनी शुद्धताके कारण गुरु ही कहलाते हैं।

नोह्यं छद्मस्थावस्थायामवर्गिवास्तु तत्क्षयः।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥६३४॥

छद्मस्थावस्थामें मोहक्षय होनेपर कर्मत्रिकके क्षयकी विधिकी जिज्ञासा व समाधान— अब यहाँ शङ्काकार तीसरी आशङ्का रख रहा है कि छद्मस्थ अवस्थामें मोहनीयकर्मका क्षय तो पहिले हो जाता है और ज्ञानावरणका क्षय बादमें होता है। जैसे दर्शनमोहनीयकर्मका क्षय चौथे गुणस्थानसे ७वें गुणस्थानके अंदर किसी भी स्थानमें हो जाता है, पर ज्ञानावरण आदिक कर्मका क्षय तो १२वें गुणस्थानके अन्तमें होता है। इसी तरह दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय हो जानेपर भी चारित्रमोहनीयकर्मका उदय चल रहा है। सो चारित्रमोहनीयकर्मका क्षय विशेषतः १२वें गुणस्थानके अन्तमें हो जाता है, पर ज्ञानावरण आदिक ३ घातिया कर्मोंका क्षय १२वें गुणस्थानके अन्तमें हो पाता है। तो कुछ समय ऐसी छद्मस्थ अवस्थामें जहाँ कि मोहनीयकर्मका क्षय हो चुका, पर ज्ञानावरणादिक तीन घातिया कर्मोंका क्षय अभी नहीं हुआ। फिर कैसे कहा जा रहा है कि मोहनीयकर्मके क्षयका अविनाभावी ज्ञानावरणादिक तीन घातिया कर्मोंका क्षय है? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि यद्यपि मोहनीयकर्मका समस्त क्षय हो जानेपर ज्ञानावरणादिकका समस्त क्षय नहीं होता, लेकिन अंशतः क्षय तो बराबर होता ही जा रहा है। जहाँ सर्वसंक्रमणके रूपसे हो-हो करके निर्जरा हो जाती है वहाँ तो अंशतः ज्ञानावरणादिकका क्षय प्रकट प्रसिद्ध ही है। अंशरूपसे मोहनीयका क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिकका भी अंश रूपसे क्षय हो जाता है। दर्शनमोहनीयका क्षय होनेके बाद चारित्रमोहनीयकर्मका आंशिक क्षय बराबर होता रहता है, और उसीके साथ ही साथ ज्ञानावरणादिक कर्मोका भी अंशतः क्षय होता जा रहा है। तो मोहनीयकर्मके आंशिक क्षयके साथ-साथ ज्ञानावरणादिकका आंशिक क्षय बराबर चल रहा है। इस कारण यह कथन संगत है कि मोहनीय कर्मके क्षयका अविनाभावी है ज्ञानावरणादिक तीन कर्मोंका क्षय। यों द्वितीय शङ्का निर्मूल हो जाती है कि ३ आवरण जब रह जायेंगे तो कैसे उनमें गुरुता कही जायगी? गुरुता होती है दोषोंके विनाशसे। तब कुछ समय तक अल्पज्ञता बराबर बनी रहे, लेकिन रागादिक दोष न होनेके कारण वे गुरु ही कहलाते हैं।

नासिद्धं निर्जरातत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम् ।
आदृङ्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणं क्रमात् ॥६३५॥

सम्यग्दृष्टिके कर्मनिर्जरणकी सिद्धि—सम्यग्दृष्टि जीवके समस्त कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है, यह बात असिद्ध नहीं है, किन्तु सिद्धान्त शास्त्रमें भली-भाँति प्रसिद्ध है। जब दर्शन मोहकर्मका उदय नहीं रहता है उस समय इस जीवके असंख्यात गुनी निर्जरा होने लगती है। करणानुयोगमें यह भली-भाँति बताया गया है कि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समय असंख्यात गुनी निर्जरा होती रहती है। इसी प्रकार चारित्रमोहके उपशम, क्षय, क्षयोपशमके समयमें भी असंख्यातगुनी निर्जरा होती रहती है और सामान्यतया सम्यग्दृष्टि जीवके तो निरन्तर ही निर्जरा चल रही है। सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मकी निर्जरा होती है और कोई समय ऐसा आता है कि समस्त कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है। तो सम्यग्दृष्टि जीवके समस्त कर्मोंकी निर्जरा होना असिद्ध नहीं है। और यह होता है निर्दोष भावके कारण, अतः निर्दोष भाव ही गुरुओंकी गुरुताका कारण होता है।

ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि साम्प्रतम् ।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥६३६॥

ज्ञानदर्शनावरक व वीर्यविध्वंसी कर्मका सद्भाव होनेपर भी रागद्वेष मोहके अभावमें गुरुताकी सिद्धि—पहिले कही हुई तीन शंकाओंके समाधानके बाद निष्कर्ष यह समझ लेना चाहिए कि छद्मस्थ गुरुवोंमें यद्यपि अभी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय आदिक कर्मोंका सत्त्व पाया जा रहा है, फिर भी रागद्वेष मोहादिकका वहाँ अभाव है, इस कारण उनमें गुरुपना माना ही जाना चाहिए। सारांश यह है कि निर्ग्रन्थ निष्परिग्रह जिनलिङ्ग धारण करने वाले गुरुवोंमें गुरुता इस कारण है कि वहाँ रागद्वेष-मोहादिकका अभाव है। कुछ अंशोंमें रागद्वेष रहा है तो वह इतना बलवान नहीं है कि उसका कोई व्यावहारिक रूप बने। इस कारण रागद्वेष मोहका अभाव होनेसे उनमें गुरुता बराबर मानी जा रही है। तब न तो यह आशङ्का रखनी चाहिए कि वह तो अल्पज्ञ हैं, तीनों लोकालोकके जाननहार नहीं हैं। फिर उनमें गुरुता किस प्रकार मानी जा रही है? और न यह ही शङ्का रखनी चाहिए कि गुरुजनोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका सत्त्व मौजूद है तो उनमें गुरुता कैसे मानी जा सकती है? और न यह आशङ्का रखनी चाहिए कि गुरुजनोंमें दर्शनमोहनीयका क्षय भले ही हो गया हो और चारित्रमोहका भी क्षय हो चुका हो। फिर भी कुछ समय ऐसा रहता है कि जहाँ ज्ञानावरणादिक कर्मोका क्षय नहीं होता है तब ऐसी स्थितिमें उन्हें गुरु कैसे माना जायगा? ये तीनों शंकायें असंगत हैं। इसका कारण यह है कि उन निर्ग्रन्थ यथाजात रूपधारी पूज्य पुरुषोंमें गुरुता रागद्वेष मोहके अभावसे मानी गई है, और रागद्वेष मोहका अभाव होनेसे

उनमें ज्ञानकी स्वच्छता प्रकट हुई है, इस कारण वे गुरु कहलाते हैं ।

यथास्त्येकः स सामान्यात्तद्विशेषात् त्रिधा गुरुः ।
एकोप्यग्निर्यथा तार्णः पार्णो दार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥६३७॥

सामान्यतया एकविध गुरुओंमें उनकी विशेषतासे त्रिविधता—गुरुका लक्षण बताया गया है कि जिसमें रागद्वेष मोहादिक न हों वह गुरु है । तो ऐसे परमगुरु तो अरहंत भगवान हैं और एकदेशगुरु आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी हैं । गुरुके मायने हैं बड़ा । तो सबसे बड़ा कौन है यहाँ ? वैसे सबसे बड़े गुरु तो हैं सिद्ध भगवान, लेकिन सिद्ध भगवानका न तो उपदेश मिला, न उनके दर्शन होते, न उनकी कोई मूर्ति है, न किसी प्रकारसे उनका व्यवहार चलता । वे तो ध्यानके विषयभूत हैं । तो जो दर्शनमें भी आयें, जिनकी वाणी सुननेको भी मिले, ऐसे गुरु तो हैं अरहंत भगवान । उन्हें तो परमगुरु कहते हैं और उनके नीचेमें गुरु कहलाते हैं निर्ग्रन्थ गुरु, क्योंकि अरहंत भगवानमें जो भी गुण पाये जाते हैं वे एकदेशगुण गुरुओंमें भी पाये जाते हैं । जैसे अरहंत भगवानके राग बिल्कुल नहीं है, पूर्ण वीतरागता है तो गुरुओंके एकदेश वीतरागता है । अरहंत भगवानका ज्ञान स्वच्छ है, तो गुरुओंका एकदेश ज्ञान स्वच्छ है । एकदेशका मतलब है थोड़ा स्वच्छ, मगर उनका झुकाव पूर्ण स्वच्छताकी ओर है । इन संसारी जीवोंकी अपेक्षा वे वीतराग हैं, और उनसे अधिक पूर्ण वीतराग हैं अरहंत भगवान, इसलिए वे परमगुरु कहलाते हैं । दूसरी बात यह है कि जिनेन्द्र भगवानका जो रूप है वही रूप इनका है, और इनको (गुरुवोंको) जिनलिङ्गधारी भी कहते हैं । जो जिनेन्द्र भगवानका लिङ्ग है उसे धारण करने वाले गुरु कहलाते हैं । यों गुरु ये साधु परमेष्ठी हैं । तो इन गुरुओंके सम्बन्धमें कह रहे हैं कि गुरुओंमें भी सामान्यतया एक गुरुत्व है, चाहे आचार्य हों, चाहे उपाध्याय हों अथवा साधु हों, सभीमें एक जैसी गुरता पायी जाती है । जैसे कि कई प्रकारकी अग्नि हो, कोई पत्तेकी आग है, कोई कोयलेकी, कोई कंडेकी अथवा कोई लकड़ीकी, तो भले ही वे विभिन्न प्रकारकी अग्नि हैं, लेकिन उन सब अग्नियोंमें अग्निपना एक है । चाहे जिस अग्निपर हाथ धरें, सभीमें हाथ जल जायगा । सभी अग्नि एक जैसी प्रकाशमान हैं । तो जैसे विभिन्न प्रकारकी अग्नि होनेपर भी उनमें अग्निपना समान है, इसी प्रकार जो तीन प्रकारके गुरु हैं उनमें गुरुपना समान है । कैसे गुरुपना समान है और कैसे उनमें तीन भेद पड़े हैं, इसका वर्णन स्वयं ही आगे आयगा ।

आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा मतः ।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोपि मुनिकुञ्जराः ॥६३८॥

आचार्य, उपाध्याय व साधु इन तीनों मुनिकुञ्जरोंमें गुरुता—गुरु तीन प्रकारके हैं—आचार्य, उपाध्याय और साधु । ये तीनों ही मुनि व्यवहारतः विशेष-विशेष पदोंपर नियुक्त हैं

तो उन विशेष-विशेष पदोंके अनुसार ही आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन प्रकार बनते हैं। उनके क्या विशेष पद हैं, क्या विशेष कार्य हैं, इसका वर्णन आगे आयगा। वहाँ यह बात जाननेमें आ जायगी कि आचार्यका क्या कार्य है, उपाध्यायका क्या कार्य है और साधुका क्या कार्य है? तो यद्यपि कुछ अवस्थाओंमें उनके ३ प्रकारके कार्य हो जाते हैं, फिर भी गुरुता उनमें समान है। मोक्षमार्गके लिए आगे बढ़ना, वीतरागताकी वृद्धि होना आदि ये सब तीनोंमें एक समान पाये जाते हैं। ये तीनों ही जब ध्यानमें स्थित हो जायें, इनके शुक्लध्यान हो जाय तो तीनोंका ही मोक्ष हो सकता है। यहाँ ऐसा नहीं है कि साधुको मोक्ष हो और आचार्य, उपाध्यायको न हो। ग्रंथोंमें यद्यपि यह वर्णन है कि आचार्य महाराज अंतमें आचार्य पद छोड़कर फिर अपने ध्यानमें मग्न रहते हैं, लेकिन कोई आचार्य अपना आचार्यपद न छोड़ सके और उसका ध्यान बन जाय तो उसके भी मोक्ष होनेमें रुकावट नहीं है। यह एक मार्ग बताया है कि निर्विकल्प ध्यान निरन्तर रखनेके लिए आचार्य भी आचार्यपद दूसरेको दे दे, फिर निर्विकल्प होकर साधना करे, लेकिन आचार्यमें इतनी सामर्थ्य है कि सब साधुवोंकी संभाल करे और साधुवोंके समान अपने अन्तरङ्गमें आत्मविकासकी बुद्धि करते रहें, ऐसी विशिष्ट सामर्थ्य है और ऐसी सामर्थ्य वाले साधु ही आचार्य बनाये जाते हैं। तो आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों मुनिश्रेष्ठ विशेष पदोंपर आरूढ़ हैं, फिर भी इन तीनोंमें गुरुपना समान है। इस बातको अब आगे बता रहे हैं।

एको हेतुः क्रियाप्येका वेषश्चैको बहिः समः।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥६३६॥

आचार्य, उपाध्याय व साधु इन तीनों गुरुओंमें हेतु, क्रिया, वेष, तप व व्रतकी समानता—आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इन तीनोंका हेतु एक ही है। ये तीनों अवस्थायें किस कारणसे अंगीकार की गई हैं, उनका कारण एक है।....क्या ?....संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त होना, और इतना वैराग्य बढ़ा कि बाह्य आलम्बनोंसे प्रयोजन न रहा और एक अपने आत्मध्यानकी धुन बनी। तो यह हेतु यह कारण तीनोंमें एक समान है। इसी प्रकार तीनोंकी क्रिया भी एक समान है। तीनो पंच आचारोंका आचरण करते हैं, तीनों ही २८ गुणोंका पालन करते हैं, तीनों ही आत्मध्यानमें निरत रहा करते हैं। इस प्रकार इन तीनोंकी क्रिया भी समान है। आचार्य, उपाध्याय और साधु इनमें यद्यपि किसी विशिष्ट प्रयोजनसे भेद हो गया है, लेकिन मूल बात तीनोंमें समान है। भेष ही इन तीनोंका (आचार्य, उपाध्याय और साधुका) एक समान है। १२ प्रकारके तपश्चरणोंका आचरण तीनोंमें समान बताया गया है, इसलिए गुरुतामें क्या अंतर आया? तीनों ही एक समान गुरु कहे गए हैं। तो तीनोंका व्रत भी समान है, और वे व्रत जो ५ प्रकारसे बताये गये हैं वे भी सबमें समान पाये जाते

हैं। ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति, पंचाचार, १० धर्म आदिक जितने भी साधुके आवश्यक कर्तव्य बताये गए हैं वे सब समान पाये जाते हैं। इस कारण तीनोंमें गुरुता एक समान है।

त्रयोदश विधं चापि चारित्रं समतैकधा ।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमोप्येकधा मतः ।।६४०।।

मुनित्रयमें चारित्र, समता, मूलगुण, उत्तरगुण व संयमकी समानता—और भी समानता देखिये—आचार्य, उपाध्याय और साधुवोंके भी १३ प्रकारका चारित्र कहा गया है, वह तीनोंमें समान है। आचार्य भी ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिके धारक हैं। उपाध्याय और साधु भी ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिके धारक हैं। चारित्र भी तीनोंमें समान है। समता भी तीनोंमें एक प्रकारकी है। रागद्वेषसे रहित होकर एक ज्ञायकस्वभावकी आराधना करना, ये तीनोंमें एक समान पाये जाते हैं। इस कारण ये तीनों ही एक हैं, गुरु हैं, समान हैं। मूल गुण और उत्तर गुण भी एक ही प्रकारसे है। २८ मूल गुण आचार्यके हैं, उपाध्यायके और साधुवोंके भी हैं। तीनों ही बराबर २८ मूल गुणोंका पालन करते हैं। एक व्यावहारिक विशेषताके कारण मूल गुणोंमें आचार्य और उपाध्यायमें भिन्नता कही गई है, लेकिन मूल प्रयोजन मोक्षमार्गमें जो कुछ है वह मूल गुण तीनोंमें एक समान है। इसी प्रकार जब उत्तर गुणोंमें बढ़ते हैं तो वे सब उत्तरगुण भी तीनोंके लिए एक समान कहे गए हैं। संयम भी एक ही प्रकारका माना गया है। निश्चयसे तो संयम यही है कि ज्ञानस्वरूप आत्मामें ज्ञानको संयत करना और व्यवहारसे संयम सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र आदिक ये सब एक समान पाये जाते हैं। इस कारणसे ये तीनों ही एक समान गुरु हैं। जैसे पहिले अरहंत और सिद्ध भगवानमें देवपना एक समान बताया था कि देवत्वबुद्धिसे दोनों ही बराबर हैं, फिर भी कुछ बाहरी बातोंका भेद था, इस प्रकार इन ३ प्रकारके गुरुओंमें गुरुपना समान है, मात्र एक व्यावहारिक रूप प्रवृत्तिमें कुछ भेद आया है, पर मोक्षमार्गकी दृष्टिसे तीनोंमें एक प्रकारकी बात है।

परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ।।६४१।।

मुनित्रयमें परीषहसहन, उपसर्गसहन, आहारादिविधि व चर्या स्थान आसन आदिकी समानता—परीषहका सहन करना, उपसर्गका सहन करना, ये तीनोंके एक समान माने गए हैं—आचार्य, उपाध्याय और साधुवोंपर कोई उपसर्ग आ जाय तो तीनों ही एक समान रूपसे सहन करेंगे। वहाँ भेद नहीं पाड़ा गया है। इसी प्रकार आहार आदिककी विधि भी तीनोंकी एक समान है। जिस चर्याविधिसे आहार करेंगे, जैसा निर्दोष निरंतराय आहार साधु करेंगे

वैसा ही आचार्य और उपाध्याय करते हैं। तो आहार आदिक विधिकी दृष्टिसे इन तीनोंमें अंतर नहीं है, एक समान है। इसी तरह चर्या, स्थान, आसन, उठना-बैठना आदिक सब एक समान है, अतः आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये तीनों एक समान रूपसे गुरु कहे गए हैं।

मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञानं चारित्रमात्मनः।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्वहिस्स्थितम् ॥६४२॥

आचार्य, उपाध्याय, साधु इन तीनों गुरुवरोंमें रत्नत्रयकी समानता—मोक्षका मार्ग तीनोंमें समान है। मोक्ष कहते हैं अष्टकर्मोंसे और शरीरसे छुटकारा पा लेनेको। तो ऐसी मुक्ति तीनोमें समान है। मोक्षका मार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। तो यह मोक्षका मार्ग तीनोंमें एक समान पाया जाता है, दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी धारा जैसे साधु महाराज हैं, ऐसे ही इन तीनोंमें रत्नत्रयकी भी समानता है और अन्तरङ्गमें जो ज्ञानस्वरूपकी ओर ज्ञान रहता है, उपयोग रहता है, यह अन्तःसंयम, अन्तःध्यान भी तीनोंमें एक समान है, इस कारण ये तीनों ही गुरु कहलाते है।

ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात्।
चतुर्धाऽऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥६४३॥

मुनित्रयमें स्वरूपाचरण व चतुर्विधाराधनाकी समानता—जो साधुवोंके आचरण बताये हैं तो वह स्वरूपाचरण इस प्रकार कहा कि वह ही ध्यान बना, वह ही ध्याता बना और वह ही ध्येय हुवा, वही ज्ञान हुवा, वही ज्ञाता हुवा, और वही ज्ञेय हुआ। तो यह स्वरूपाचरण तीनोंमें एक समान पाया जाता है। आचार्य भी ध्यान, ध्याना, ध्येयकी एकता करता है और उपाध्याय, साधु भी ध्यान, ध्याता, ध्येयकी एकता करता है। इस कारण इस स्वरूपाचरणको दृष्टिसे तीनों एक समान हैं। इन गुरुवोंके लिए चार प्रकारकी आराधना बतायी गई है—सम्यक्त्वकी आराधना, ज्ञानकी आराधना, चारित्रकी आराधना और तपकी आराधना। तो ये चार प्रकारकी आराधनायें भी तीनोंमें एक समान कही गई हैं। सभी गुरु एक प्रकारसे ही चार प्रकारकी आराधनायें करते हैं, इस कारण आराधनाकी अपेक्षा भी इन तीनोंमें विशेषता नहीं है अर्थात् एक समान है। इसी प्रकार यह उपदेश किया गया है कि साधुपरमेष्ठी क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक चार प्रकारकी कषायोंको जीतते हैं और उनको उत्तरोत्तर जीतनेमें प्रगति रखते हैं। तो ऐसी कषायोंको जीतनेकी प्रकृति तीनोंमें एक समान पायी जाती है अर्थात् ये तीनों परमेष्ठी कषायविजयी होते हैं, इस कारण इनमें गुरुपना एक-समान पाया है।

किंचात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते।
विशेषाच्छेदनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥६४४॥

आचार्य, उपाध्याय व साधुवोंमें गुरोंकी समानताके कथनका उपसंहार—आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठीमें गुरु एक समान हैं, इस सम्बन्धमें ज्यादा क्या कहा जाय ? इतनेसे ही सब समझ लेना चाहिए। अगर इससे अधिक कुछ कहना चाहते हो तो यह कहा जा सकता है कि इन तीनोंमें कोई आपसमें फर्क नहीं है। तीनोंमें गुरुता एक समान है। यह विशेषता बराबर तीनोंमें पायी जा रही है। आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनोंके नाम क्यों अलग हैं ? इसका कारण यह है कि इन तीनोंके कुछ कार्य भी अलग हैं। तीनोंके कुछ कार्य जो कुछ अलग माने गए हैं वे व्यवहारमें तीर्थ चलानेके लिए बनाये गए हैं। अब मोक्षमार्गमें चलनेकी दृष्टिमें इन तीनोंमें एक ही प्रकारका मोक्षमार्ग पाया जा रहा है, उसमें रंचमात्र भी अन्तर नहीं है, इस कारण तीनों परमेष्ठियोंमें गुरुपना एक समान है।

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचरयति संयमी ॥६४५॥

रूढ़ि व योग दोनों अपेक्षाओंसे आचार्यकी निरुक्ति—आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीनोंमें ये संज्ञायें, ये नाम अनादिपरम्परासे चली आ रही हैं। आचार्य नाम भी अनादिपरम्परासे रूढ़ है और आचार्यपनका जो अर्थ है उसकी दृष्टिसे भी आचार्य नाम सही बैठता है। रूढ़ि वाला आचार्य पद है, इसमें तो कोई कारण नहीं बताया जाना चाहिए। हाँ यौगिक दृष्टिसे आचार्य नाम क्यों है ? इसका कारण है कि ये आचार्य परमेष्ठी स्वयं पंचाचारोंका आचरण करते हैं और अन्य साधु जनोंसे आचरण कराते है, इस कारण इन्हें आचार्य, यौगिक अर्थसे कहा गया है। और स्वयं पंचाचारोंको करें और दूसरोंको आचार करायें तो आचार्य परमेष्ठी स्वयं पंचाचरणोंमें आचरण करते हैं और साधु भी इस दृष्टिसे समान है, पर आचार्य की ऐसी विशिष्ट जातिकी कारुण्यबुद्धि है जिससे रत्नत्रयकी दृष्टि रखकर उसे भी उपदेश करते हैं तो यद्यपि इस तरहका शुभराग उनके है, ऐसे शुभराग साधुओंमें भी पाये जा सकते हैं, इस कारण शुभरागके कारण आचार्य और मुनिमें अन्तर नहीं किया जा सकता है। गुरुता तीनोंमें समान है, पर आचार्यमें इतनी बड़ी सामर्थ्य है कि अन्य साधुजनोंके वात्सल्यका उनको आचरण करानेका उपदेश करते हैं, तिसपर भी उनके आत्मामें बाधा नहीं पहुंचती है। जब लोग इस दृष्टिसे देखते हैं कि हम लोग जैसे कार्य करते हैं—मकान बनाया या दुकान बनाया आदि तो इसमें इसको मूलसे राग करना पड़ता है तब सफल होते हैं, लेकिन इस तरहका मौलिक राग उन्हें नहीं करना पड़ता है। उनका यह शुभराग इतना सूक्ष्म और बाह्य है कि उसके कारण आत्माके मोक्षमार्गके चलनेमें बाधा नही आती, इस कारण शुभराग अवश्य है, पर ऐसा शुभराग साधुजनोंमें भी पाया जाता है। उस रागसे परमेष्ठियोंमें बाधा नहीं आती।

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छति ।
तत्समाज्ञेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ।।६४६।।

आचार्यमें छिन्नव्रती साधुवोंको प्रायश्चित्तदान करनेकी विशेषता—आचार्य परमेष्ठी गुरुपनेसे साधु जनोंके ही समान हैं, फिर भी व्यावहारिक दृष्टिसे यौगिक अर्थसे आचार्यकी क्या विशेषता है, यह बताया जा रहा है। तो उक्त श्लोकमें बताया था कि आचार्य परमेष्ठी स्वयं ५ आचारोंका पालन करते हैं और दूसरोंसे पालन कराते हैं। अब इस श्लोकमें और विशेषता बतायी जा रही है कि ये आचार्य परमेष्ठी साधु परमेष्ठीको प्रायश्चित्त दान भी करते हैं। किसी साधुका व्रत भंग हो जाय और व्रत भंग होनेपर भी वह साधु पुनः उस व्रतमें जुड़ना चाहता है, जैसे पहिले निर्मल व्रत धारण किया था उस प्रकारके निर्मल व्रतको पाना चाहता है ऐसे साधुको आचार्य फिरसे व्रत धारण कराते हैं और उनको प्रायश्चित्त देते हैं। उक्त श्लोकमें पंचाचारोंके पालन करानेकी बात थी, जिसका सम्बन्ध दीक्षासे था कि आचार्य दीक्षा देते हैं और इस श्लोकमें बताते हैं कि दीक्षाके अतिरिक्त वे प्रायश्चित्तका भी दान करते हैं। प्रायश्चित्त प्रदान आचार्य करते हैं तो ऐसे नियमके भंगका प्रायश्चित्त देते हैं कि साधु उस नियम का पालन करते हुए थोड़ा उससे चिग जाय, उसका प्रायश्चित्त होता है। जो ऐसा भाव रखे कि हम प्रायश्चित्त लेकर भंग कर लें, ऐसे नियमका पालन करते हुए यदि कोई एक देश भंग हो जाय तो ऐसे भंगोंका भी प्रायश्चित्त हुआ करता है। तो इस तरह आचार्य परमेष्ठी दीक्षा देते हैं, साधु जन दीक्षा नहीं देते। आचार्य परमेष्ठी प्रायश्चित्त देते हैं, साधु जन प्रायश्चित्त नहीं देते हैं। इन दो विशेषताओंके अतिरिक्त तीसरी विशेषता है कि आचार्य परमेष्ठी आदेश प्रदान करते हैं जब कि साधु जन आदेश प्रदान नहीं करते। हाँ साधु जन उपदेश दे सकते। इस तीसरी विशेषताको आगेके श्लोकमें कहेंगे।

आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक्।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ।।६४७।।

आदेश और उपदेशमें अन्तर—आचार्य परमेष्ठी स्वयं ५ आचारोंका आचरण करते हैं और दूसरे साधुवोंको आचरण कराते हैं अर्थात् दीक्षा देते हैं, यह उनका विशेष कार्य है। साथ ही प्रायश्चित देना भी उनका विशेष कार्य है और तीसरी बात इस श्लोकमें बतायी जा रही है कि आदेश देना आचार्यका विशेष कार्य है। आदेश और उपदेशमें अन्तर है। आदेश देनेपर साधु उस आदेशको ग्रहण करते हैं। गुरुके दिये हुए व्रतको मैं ग्रहण करता हूं, इस प्रकार आदेश लेने वालेकी प्रतिज्ञा होती है, पर उपदेशमें यह विधि नहीं है। आदेश और उपदेशमें यह अन्तर है कि जिस बातका आदेश दिया हो वह आज्ञारूप होती है। जिसे आदेश दिया गया हो उसको ग्राह्य करना ही पड़ता है, परन्तु उपदेशमें आज्ञारूप ग्रहण करना पड़े,

ऐसा वहाँ नियम नहीं है। आचार्यको आज्ञा देनेका अधिकार है। वह जिस बातका आदेश करे वह आज्ञा प्रधानरूपसे माननी ही होती है, पर उपदेशमें आज्ञा प्रधान नहीं होती। शक्ति अनुसार कोई करना चाहे तो करता है, न करना चाहे तो नहीं करता है।

न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम्।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥६४८॥

दीक्षाचार्यकी तरह गृहस्थाचार्यको भी आदेशदानाधिकारिताका संकेत—इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि जिस तरह आचार्यको आदेश देनेका अधिकार है, इसी प्रकार गृहस्थाचार्यको भी गृहस्थोंको आदेश देनेका अधिकार है। आचार्य तो साधुवर्गको आदेश देते हैं और गृहस्थोंको भी आदेश दें तो उन्हें भी उस आदेशको ग्रहण करना चाहिए, परन्तु गृहस्थाचार्य गृहस्थोंको गृहस्थोंके योग्य कार्योंके लिए आदेश दिया करते हैं। तो ऐसा गृहस्थाचार्य जो कि आदेश देगा, वह व्रत धारण करने वाला होता है। तो व्रत धारण करने वाले गृहस्थोंके अर्थात् गृहस्थाचार्योंको भी अधिकार है कि वे गृहस्थोंको आदेश दें और गृहस्थ उनके आदेश को पाकर उस प्रकारका वर्ताव करें। जैसे कि दीक्षाचार्य अर्थात् आचार्य परमेष्ठीके दिए हुए आदेशोंको मुनिजन नियमसे ग्रहण करते हैं, इसी प्रकार गृहस्थाचार्य-जनोंकी वृत्ति है। उसके किए हुए आदेशको गृहस्थ-जन भी ग्रहण करते हैं। धर्मप्रवृत्तिमें कितनी सुन्दर व्यावहारिक व्यवस्था है जिस व्यवस्थाके कारण संगठन एकता एक रूप प्रवृत्ति ये सब व्यवस्थायें साधुवोंमें भी रहती हैं और गृहस्थोंमें भी रहा करती हैं। इस व्यवस्थाके विपरीत जब उद्दण्डता छा जाती है साधु जनोंमें अथवा गृहस्थ जनोंमें तब उससे धार्मिक शिथिलता अनर्गल प्रलावको उत्पन्न करती है और निरंकुश प्रवृत्ति बन जाती है, जिससे सामाजिक व्यवस्थाके साथ-साथ धार्मिक व्यवस्था भी समाप्त हो जाती है। अनेक पंथोंके उदय इस फूटके कारण ही हुआ करते हैं। कोई बात न रुची तो उस प्रसंगमें ऐसा कोई स्वीकार तो नहीं करता कि रुचे अथवा न रुचे, यह तो आचार्यका आदेश है, इसको करनेमें ही भलाई है, इसके विपरीत कुछ भी न किया जाना चाहिए, जहाँ यह चिन्तन न रुका, स्वच्छन्दता हो गयी वहाँ ही अनेक विवाद उत्पन्न हो जाते हैं। तो साधु जनोंमें तो दीक्षाचार्यका आदेश चलता है और गृहस्थोंमें व्रती गृहस्थाचार्यका आदेश चलता है।

स निषिद्धे यथाम्नायादव्रतिना मनागपि।
हिंसकश्चोपदेशोपि नोपयुज्ज्योत्र कारणात् ॥६४९॥

अव्रतीमें आदेशदानकी अपात्रता—जो कुछ भी व्रती नहीं हैं, ऐसे पुरुषको आदेश देने का अधिकार बिल्कुल नहीं है, और वहाँ भी प्रकृत्या यह बात चलती है कि जो स्वयं उस मार्गपर नहीं चल रहा, व्रतको धारण नहीं कर रहा, उसके आदेशका प्रभाव दूसरोंपर नहीं

पड़ सकता है। तो अव्रती पुरुष आदेश देनेका बिल्कुल अधिकारी नहीं है। तो यों अव्रती गृहस्थ अधिकारी नहीं है आदेश देनेका, यह तो शास्त्रसम्मत बात है ही, पर वार्तालाप भी वह करे तो हिंसक उपदेश वाला वार्तालाप न करे, ऐसी पूर्णतया निषेध्य बात है। हिंसक उपदेश तो किसी तरह न करना चाहिए। अव्रतीको आदेशका अधिकार तो है ही नहीं, पर हिंसक उपदेशके लिए तो वह जिह्वा भी न चलाये। यह एक उसके प्रति धर्मशास्त्रोंमें कठोर उपदेश किया गया है।

मुनिव्रतधराणां हि गृहस्थव्रतधारिणाम्।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः ॥६५०॥

बधाश्रित आदेश व उपदेश करनेका निषेध—मुनिव्रत धारण करने वाले दीक्षाचार्य अथवा व्रत धारण करने वाले गृहस्थाचार्य आदिक सभीके लिए जैनसिद्धान्तका यह आदेश है कि वह बधाश्रित आदेश और उपदेश न करे। जिस आदेश या उपदेशसे जीवोंका बध हो, ऐसा आदेश और उपदेश न तो मुनिवर्गको करना चाहिए और न गृहस्थ व्रत धारण करने वाले पुरुषको करना चाहिए। अहिंसा मार्गमें बधाश्रित उपदेशकी कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं है, जिसमें जीवहिंसा हो, किसीका दिल दुःखे, ऐसा कोई भी आदेश अथवा उपदेश जैनशास्त्र-सम्मत नहीं माना जाता है। तो गृहस्थाचार्य भी बधाश्रित उपदेश नहीं कर सकते और मुनि-व्रत धारण करने वाले दीक्षाचार्य भी नहीं कर सकते। यह जैनसिद्धान्तका कठोर हुक्म है।

नचाशङ्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम् ॥६५१॥

बधाश्रित आदेश उपदेशके निषेधकी निरर्थकताकी शंकाकार द्वारा आशङ्का—व्रत धारण करने वाले मुनिजनोंको भी यह बात कही गई है कि वे बधाश्रित उपदेश न करें। तो जहाँ एक ऐसी आशङ्का हो सकती है कि यह बात तो प्रमाणसिद्ध ही है। मुनिजनोंको बधाश्रित उपदेश तो क्या, जिह्वा भी नहीं हिलाना चाहिए। जो कुछ प्रसिद्ध बात है उसका निषेध करनेका यहाँ कष्ट क्यों किया जा रहा है? मुनिव्रत धारण करने वाले दीक्षाचार्योंने तो मूर्तिमान पदार्थकी सर्वशक्तियोंको हस्तरेखाके समान जान लिया। तो जो व्रतधारी मुनि मूर्त पदार्थोंकी समस्त शक्तियोंका परिज्ञान रख रहे हों, जिनको जीवोंके स्थान, शरीर, कुल, योनि का भली-भाँति परिचय है वे तो सदा त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षामें सावधान रहते ही हैं। तो षट्काय जीवोंकी रक्षा उनके जीवनका एक मुख्य प्रवर्तन बन गया है। ऐसे मुनि जनोंको भी बधाश्रित उपदेश करना निरर्थक है। फिर उक्त श्लोकमें यह क्यों कह दिया गया कि मुनिव्रत-धारियोंको बधाश्रित उपदेश न करना चाहिए। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

नूनं प्रोक्तोपदेशोपि न रागाय विरागिणाम् ।
रागिणामेव रागाय ततोवश्यं निषेधितः ॥६५२॥

रागियोंके लिये वधाश्रितादेशोपदेशनिषेधकी आवश्यकता बताते हुए उक्त शंकाका समाधान — प्रकृत प्रसङ्गमें यह कहा गया है कि मुनिव्रतधारियोंको वधाश्रित आदेश अथवा उपदेश न करना चाहिए। उसका लक्ष्य रागी पुरुषोंके लिए समझना है अर्थात् यह उपदेश रागी जीवोंके लिए कहा गया है। विरागी पुरुषोंके इस प्रकारका भाव ही नहीं होता, और इस तरहका उपदेश उनके रागका कारण भी नहीं हो सकता है। यह उपदेश तो रागी पुरुषों के रागके निषेधके लिए कहा गया, क्योंकि रागियोंके लिए ही रागका कारण हो सकता है, इस कारण वधाश्रित उपदेश न करना चाहिए। आदेश रागियोंके लिए किया गया है। उपदेश जो दिया जाता है उसका लक्ष्य होता है उपदेश्य पुरुषको उन्नत बनानेका। मुनिवरोंका राग तो हीन हो ही गया है, वे मोक्षमार्गके अनुगामी हो चुके हैं, उनको तो सदा विशुद्ध मार्ग का उपदेश दिया जाता है। कैसे आत्मध्यानमें बढ़ें, किस तरह निर्विकल्पसमाधिमें प्रसिद्ध हों, ऐसा उपदेश दिया जाता है। यदि उनको वधाश्रित उपदेश दिया जाय कि जिनपूजन करो, जिसमें कुछ न कुछ आरम्भका दोष लगे, ऐसे व्रतका उपदेश यदि मुनिजनोंको दिया जाय तो यह उनकी अवनतिका ही कारण बनेगा। इस कारण मुनिजनोंके लिए शुभप्रवृत्तिमय उपदेश न देकर निवृत्ति मार्गका ही उपदेश दिया जाया करता है। अब प्रकृत प्रसंगमें वधाश्रित आदेश उपदेशका जो कथन किया गया है वह गृहस्थोंके लिए दूसरी प्रकारका समझ लेना चाहिए अर्थात् गृहस्थोंमें शुभ प्रवृत्तियाँ बहुत पायी जाती हैं। तो वे अशुभ प्रवृत्तियोंसे हट जायें और शुभ प्रवृत्तियोंमें लगें, इसके लिए आदेश उपदेश दिया जाता है। चूंकि गृहस्थ एकदम शुद्धमार्गमें नहीं लग सकते हैं तो उनको आवश्यक है कि वे शुभ मार्गको कभी ग्रहण करें, इस ही कारण शुभमार्गका उपदेश उनको दिया गया है। जिसमें रंच आरम्भ भी होता हो, किन्तु भक्ति उपदेश आदिक विशेष होता हो तो ऐसा उपदेश उनको दिया जाना उचित है। इसी प्रसंगका विवरण अगले श्लोकमें कर रहे हैं।

न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः ।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥६५३॥

श्रावकोंके लिये सत्पात्रदान व देवपूजनके कर्तव्यके आदेशका अनिषेध—गृहस्थ जनों के लिए सत्पात्रदान और अरहंतपूजाका विधान बताया गया है। यद्यपि दान देना, पूजन करना आदिक आरम्भजनित कार्य हैं, जैसे जिनपूजनमें सामग्री बनायी अथवा जल लाये, कुछ भी क्रिया करे तो वह निरारम्भ स्थिति नहीं है। इसी प्रकार पात्रदान देना, रसोई आदिक का आरम्भक कार्य होना, यह कोई निरारम्भ कार्य तो नहीं है। तो पात्रदान देना, जिनपूजा

करना, ये दोनों ही आरम्भक कार्य हैं। जहाँ आरम्भ है वहाँ हिंसा होना अवश्यंभावी है। जब जिनपूजा और पात्रदानका उपदेश किया जाता हो तो उसे बधाश्रित उपदेश समझना चाहिए। यद्यपि वह निरर्गल उपदेश नहीं है। जीवोंके वधकी बात नहीं कही गई है, केवल एक शुभभाव और प्रभुभक्ति बढ़ानेके साधनकी बात कही गई है। जैसे बताया गया है कि थोड़ा दोप हो और आत्मगुणकी अधिक प्राप्ति हो तो ऐसा दोप अथवा आरम्भ गृहस्थजनोंके लिए बताया भी जा सकता है। तो यों दान देनेमें और जिनपूजन करनेमें आरम्भजनित दोष लगा तो इतना बधाश्रित उपदेश मुनिजनोंके प्रति नहीं किया जाता, अथवा इतना मात्र ही उपदेश गृहस्थोंके लिए है, किन्तु स्पष्ट बधाश्रित उपदेश बिल्कुल निषिद्ध है अथवा जिनपूजा और पात्रदानके सम्बन्धमें अन्तर्दृष्टिसे विचार करें तो इन दोनोंमें शुभराग होया है और राग हिंसाका रूप है तो अपने आत्मपरिणामोंसे ही हिंसन हुआ। यद्यपि पात्रदान जिनपूजामें जो सिद्ध गुणोंके प्रति अनुराग जगा तो वह गुणके लिए ही है, उससे इस गृहस्थको लाभ ही लाभ है, पर साथ ही उसके साथ शुभराग भी चलता है और रागभाव हिंसारूप है। तो यद्यपि पात्रदान, जिनपूजा आदिक शुभरागके उत्पादक विधान हैं, अतएव वहाँ अपने आपका किसी अंशमें बध है, तो भी गृहस्थोंके लिए पात्रदान, जिनपूजा आदिक शुभकार्य निषिद्ध नहीं हैं, किन्तु विधानमें शामिल है। गृहस्थजनोंको प्रधानतया यह उपदेश दिया गया है कि वे चाहे पूजा और दानका आचरण करें और कहा भी है कुन्दकुन्दाचार्य देवने कि—"दानं पूजा मुक्खो" अर्थात् गृहस्थजनोंके दान और पूजा मुख्य कार्य हैं। तो ऐसा आदेश उपदेश करना निषिद्ध नहीं है, इस तरह भी समझ लेना चाहिए, पर इतना भी उपदेश मुनिजनोंके प्रति नहीं किया जाता है, इस बातका निषेध किया गया है।

यद्वादेशोपदेशौ द्वौ स्तो निरवद्यकर्मणि।
यत्र सावद्यलेशोस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ॥६५४॥

साधुपरमेष्ठीके लिये निरवद्यकर्मके कर्तव्यके आदेशका ही विधान—अथवा इस प्रसंग को इस तरह घटित करिये कि मुनियोंके लिए सर्वथा निर्दोष कार्य विषयक ही उपदेश किया जाता है। जहाँ पापका लेश भी लगता हो, ऐसा उपदेश मुनियोंको कभी नहीं हो सकता है। मुनिधर्म साक्षात् मोक्षधर्म है। कैसे जन्म मरण आदिक संकटोंसे मुक्ति प्राप्त हो उसका उपाय बताया गया है निर्विकल्पसमाधिभाव। बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धमें विकल्प न रहे और ऐसा परविकल्प न रहनेकी स्थितिके कारण स्वतः आत्मामें समाधिभाव जागृत हो अर्थात् ज्ञानस्वरूपमें ज्ञान मग्न हो जाय, इस स्थितिको पानेके लिए सर्व आरंभ और परिग्रहोंका त्याग किया गया है। तो यों निर्विकल्पसमाधिके उद्देश्यसे समस्त आरम्भ परिग्रहोंके त्याग करने वाले मुनिजनोंको उपदेश निर्वद्ध कार्यका ही सही हो सकता है, जिसमें अंतः संयम प्रकट हो, अंदर

की भावना विशुद्ध बने, शुद्ध केवलज्ञानमात्र निज अन्तस्तत्त्वका आलम्बन बने, इस प्रकारकी दृष्टि दृढ़ हो, ऐसा ही मुनिजनोंके प्रति किया जाता है। प्रयोजन एक समताका है। समता प्राप्त होती है रागद्वेषके अभावमें। तब रागद्वेषका अभाव जिस तरह बने उस प्रकारका ही उपदेश मुनिजनोंके लिए करना श्रेयस्कर कहा गया है। यह बात बनेगी अध्यात्म उत्साहसे। समस्त बाह्य परिकरका पूज्योपयोग राग अथवा द्वेषके लिए हुआ करता है। कोई बुद्धिपूर्वक किसी इन्द्रिय और मनसे इष्ट अनिष्ट विषयोंका उपयोग करे तो उसका फल गंदा है, निर्विकल्प समाधिभाव होना उसका फल नहीं है और जिस क्रियाका फल समता नहीं है वह क्रिया मुनिवरोंके लिए युक्त नहीं है। उनका संग साथ और अन्तःप्रवृत्ति संभी निर्विकल्प समाधिभावके लिए होते हैं। आत्मतत्त्व क्या है? एक शुद्ध निर्विकल्प ज्ञायकभाव, जो सहज ज्ञानज्योतिस्वरूप है, आत्माका सहज स्वरूप है, जो न किया गया, न जिसमें प्रवृत्ति हो, जो सर्व अवस्थाओंका आधारभूत है, ऐसे सहज ज्ञायकभावके उपयोगमें परिस्थिति बने, यही तो कार्य मुनिजनोंको करना योग्य है। सो जैसे यह अध्यात्मशक्ति वृध्यंगत हो, इसी प्रकारका उपदेश मुनिजनोंके लिए करना उचित बताया है। जिनपूजा पात्रदान आदिक गृहस्थोचित शुभोपयोगके कार्य मुनिजनोंको बताये जायें, यह बात अयुक्त है, क्योंकि जिनका निर्विकल्पसमाधिके लिए संकल्प है, उनके लिए यह उपदेश बाधक है। वे आरम्भके कार्योंमें लगें तो उससे मुनिधर्मकी रक्षा नहीं, किन्तु मुनिधर्मका विघात है।

सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम्।
कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हतः ॥६५५॥

असंयमी जनोंके साथ संसर्ग व संभाषण करनेका आचार्योंके लिये निषेध—कोई पुरुष ऐसा कहते हैं कि आचार्य महाराज संयमी पुरुषोंके साथ संसर्ग करें, भाषण करें और प्रेम भी करें, किन्तु यह बात युक्त नहीं है। आचार्य पुरुषोंको संयमी पुरुषोंके साथ सम्बंध रखना उचित नहीं है। आचार्यका सम्बन्ध मात्र मनुष्योंके साथ होता है। तो उनका सम्भाषण भी मुनियोंके साथ होता है। जहाँ दस लक्षण धर्ममें सत्य धर्म बताया गया है तो उसके अनुसार भाषण करने वाले साधु पुरुषोंमें ही हित-मित बचन बोलते हैं। सत्य धर्मका सम्बंध केवल अध्यात्म और आध्यात्मिक पुरुषोंसे है, तब ऐसी स्थितिमें आचार्यका सम्बन्ध असंयमी पुरुषोंके साथ होना उचित नहीं है। आचार्यका मुनियोंके साथ जो सम्बंध होता है वह भी धार्मिक सम्बन्ध होता है, रागांशको लिए हुए सम्बन्ध नहीं होता। ये मेरे शिष्य हैं, इनसे मेरी शोभा है, हमें इनको राजी रखना चाहिए, ऐसा सम्बन्ध मुनिजनोंके साथ आचार्य नहीं रखते हैं, उनका धार्मिक सम्बन्ध रहता है। इस कारण जो लोग ऐसा कहते हैं कि आचार्यका संयमी पुरुषोंके साथ भी सम्बंध होता है और उनसे प्रेम भी रखते हैं, तो यह बात असंगत है।

संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह ।
धर्मादिशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥६५६॥

धर्मादेशोपदेशके सिवाय अन्यविध संघसम्पोषणका आचार्यके लिये निषेध—कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आचार्यका काम है संगका पोषण करना, तो उनकी यह बात भी असंगत है। अरे वे संगका पोषण नहीं करते। सभी मुनियोंको अपने-अपने भाग्यके अनुसार आहार प्राप्त होता है। जैसा उनके अन्तरायका क्षयोपशम हो उसके अनुसार व्यवस्था बनती है। उसमें आचार्य क्या करें ? और आचार्य उनके खाने-पीनेके सम्बन्धकी चिन्ता नहीं रखते हैं। आचार्यका सम्बन्ध तो मुनियोंके लिए धार्मिक आदेश और उपदेशभरका है, किन्तु सम्पोषण करनेका नहीं। आचार्य मुनिराजोंका पालन-पोषण करते हैं, यह बात असंगत है। आचार्यका तो इतना ही उपकार है कि वे धर्मका आदेश और उपदेश देते हैं। धर्मका पालन-पोषण करना आचार्यका कर्तव्य है, ऐसा जो लोग कहते हैं उन्होंने आचार्य और मुनि दोनोंका ही स्वरूप बिगाड़ दिया। मुनिजन पालन-पोषण किसीसे भी नहीं चाहते हैं। वे स्वयं आतमाकी आराधनाके लिए इतना तत्पर हुए हैं कि वे किसीसे अपना पालन-पोषण नहीं चाहते हैं और न उनके पालन-पोषणका विचार होता है। उनका मुख्य कर्तव्य तो ज्ञाताद्रष्टा रहना मात्र है। जब वे ज्ञाताद्रष्टा नहीं रह पाते हैं तब वे ध्यानके स्थित होते हैं। जब ध्यानमें भी बाधा होती है तो वे अनेक प्रकारके तपश्चरणोंमें रत रहा करते हैं। वे तो केवल शरीरकी परिस्थिति रखनेके लिए आहारके वास्ते नगरमें जाते हैं। वहाँ यदि किसीने नवधाभक्तिपूर्वक आहार दिया और कोई अन्तराय न आया तो जो अन्तरायके क्षयोपशम अनुसार आहार लेकर तृप्त रहते है, अथवा आहार कभी न भी पाया तो भी आहार लिए हुए की भाँति तृप्त रहा करते हैं। मुनियों की वृत्ति तो भिक्षाभोजनकी है। उनको आहारमें राग नहीं होता, लेकिन आहारके लिए बाध्य उन्हें यों होना पड़ता है कि शरीर यदि स्थित न रहेगा तो संयम साधन न बन सकेगा और असमयमें मरण करना अच्छा नहीं होता। तब मुनियोंको जब कोई वस्तुकी आशा ही न रही तो उनकी तो सिंहवृत्ति है, उन्हें कोई याचक समझे तो यह उनकी भूल है। श्रावक भी जब मुनिजनोंको आहार देते हैं तो श्रावक उन्हें पात्र समझकर, भक्ति योग्य समझकर आहारदान देते हैं, न कि उनपर दया करके या उसके पालन-पोषणका ध्यान करके आहारदान देते हैं। भक्ति उपजती है रत्नत्रयकी मूर्ति दिखते हैं तो वे आहार देकर अपना जीवन सफल मानते हैं। तो मुनियोंके पालन-पोषणकी इच्छा नहीं है। तो जो ऐसा कहते हैं कि आचार्य मुनियोंका पालन-पोषण करते हैं, तो उन्होंने मुनिका स्वरूप ही बिगाड़ दिया। मानो उनके कहनेमें यह टपकता है कि मुनि पालन-पोषणकी इच्छासे कि मेरा गुजारा चले, इस कारण आचार्यके साथ रहते हैं, सो बात तो नहीं है। दूसरी बात यह है कि आचार्य यदि

मुनियोंके पालन-पोषणसे सम्बंध रखें तो इसके मायने हैं कि उनके रागांश बढ़ा कुटुम्ब परिजनकी भांति। तो इससे आचार्यका स्वरूप भी बिगड़ जाता हैं। आचार्य महाराज तो मुनियों के साथ एक धार्मिक सम्बंध रखते हैं। मुनियोंको दीक्षा दें, मुनियोंके आचरणको शिथिल न होने दें, उन्हें सावधान करें, प्रायश्चित दें, तपश्चरणमें लगायें, समाधिमरण करायें, ये काम आचार्यके हैं। पालन-पोषण करनेका काम आचार्यका नहीं है।

यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम्।
तावत्कालं स नाऽऽचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रतच्युतः ॥६५७॥

आचार्य द्वारा मोहसे अथवा प्रमादसे लौकिकी क्रिया की जानेपर व्रतच्युत होनेसे आचार्यत्वका अभाव—अथवा आचार्यका कार्य कोई कहे कि वे मोहके वश होकर अथवा प्रमादसे कुछ लौकिकी क्रियायें भी करते हैं तो उनकी यह बात संगत नहीं है। क्योंकि ऐसा यदि कोई करे, लौकिक क्रियावोंको करे, लौकिक कामोंको करे, यहांके पूजा आडम्बर आदिक में लगे तो आचार्य भी अपनी अन्तरङ्ग वृत्तिसे च्युत हो गये, ऐसा समझना चाहिए। सारांश यह है कि आचार्यका केवल धर्मक्रियावोंसे सम्बन्ध है। आचार्य मुनियोंकी धार्मिक वृत्तियोंके शासक हैं, उनके आहार आदिकका इन्तजाम करनेके शासक नहीं हैं। यदि मोहके उद्वेगसे कोई लौकिक क्रियायें आचार्य कर डाले तो समझो कि उस कालमें आचार्यकी वास्तविक पदवी नहीं रही है। उस समय वे आचार्यपदसे गिर चुके हैं और भीतर भी महाव्रतसे हीन हो गए हैं। इस कारण यह समझना चाहिए कि आचार्य महाराजके साथ जो हजारों मुनि रहते हैं तो आचार्य महाराज केवल मुनियोंकी धार्मिक क्रियावोंके शासक हैं, अन्य क्रियायें करने वाले नहीं होते।

उक्तव्रततपः शीलसंयमादिधरो गणी।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥६५८॥

व्रततपशीलसंयमधारी गणीकी ही गुरुता व नमस्यता—आचार्यके स्वरूपके कथनके प्रसंगमें उपसंहार रूपसे आचार्योंका सामान्यतया गुण व्रतक्रिया आदिककी प्रशंसा रूपसे वर्णन कर रहे हैं कि जो व्रत तप, शील, संयम आदिकको धारण करने वाला हो, ऐसा ही आचार्य हो सकता है। जो स्वयं व्रतसे हीन हो, तपश्चरणमें प्रमादी हो, शील संयमसे च्युत रहता है वह आचार्य तो क्या सामान्यतया धर्मात्मा भी नहीं कहला सकता। तो आचार्य महाराज व्रत तप आदिकमें प्रधान रहते हैं। अन्य साधुवोंसे अधिक विशेषता रहे, ऐसी उनकी वैराग्यवृत्ति रहती है और वे आचार्य महाराज गणि कहलाते हैं, गणके स्वामी कहलाते हैं। बहुतसे मुनि जन आचार्य महाराजकी छत्रछायामें रहकर अपने श्रेयोमार्गकी क्रियायें आचरते हैं। ये ही आचार्य साक्षात् गुरु हैं, परमगुरु तो अरहंत देव हैं, सो वे वीतराग हैं। इसके पश्चात् गुरु हैं

आचार्यदेव । ये निमित्त करने योग्य हैं और व्रत, तप, संयम आदिक स्वरूपसे भिन्न कोई स्वरूप धारण करे, ऐसा कोई गणि नहीं कहला सकता है, आचार्य नहीं कहा जा सकता है। आचार्य परमेष्ठीमें साधुके समस्त गुण होने चाहियें।

उपाध्यायः समाधीयान् वादी स्याद्वादकोविदः ।
वाङ्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥६५६॥
कविर्व्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात् ।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्योवक्तृत्ववर्त्मनाम ॥६६०॥

उपाध्यायके विद्यावत्त्व, वाग्मित्व आदि गुणोंका निर्देशन—आचार्य परमेष्ठीका स्वरूप कहकर अब उपाध्यायका स्वरूप बताया जा रहा है। उपाध्याय परमेष्ठी विद्वानोंके बड़े अधिपति होते हैं और आचार्य महाराज द्वारा उपाध्याय पदपर नियुक्त हुआ मुनि उपाध्याय कहलाता है। ये प्रत्येक प्रश्नका समाधान करने वाले होते हैं। इनके ज्ञानमें इतनी बड़ी क्षमता है कि कोई कैसा ही प्रश्न करे, समस्त प्रश्नोंका ये समाधान कर सकने वाले होते हैं। जब स्याद्वादमें सर्वप्रकारके बनाये गए धार्मिक आचरण सम्बन्धी, वैद्यक सम्बंधी, ज्योतिष सम्बंधी, निमित्त सम्बंधी ऐसे सर्वशास्त्रोंके विद्वान हैं तो फिर सभी प्रकारके प्रश्नोंका उत्तर देनेमें ये समर्थ होते हैं। उपाध्याय परमेष्ठीवादी होते हैं अर्थात् कोई उनसे शास्त्रार्थ करे तो उस शास्त्रार्थमें वे पूर्ण कुशल होते हैं। ये स्याद्वादके विद्वान हैं। स्याद्वादका रहस्य भली प्रकार जानते हैं। प्रत्येक विषयका स्याद्वादकी रीतिसे समाधान करने वाले होते हैं। ये पुरुष वचन बोलनेमें चतुर होते हैं, क्योंकि ये समस्त ब्रह्मके जानकार हैं। यों कहो कि वचन ब्रह्मके विषय में ये सर्वज्ञ कहलाते हैं। इस कारण ये वचन बोलनेमें चतुर हैं और वागब्रह्म सर्वज्ञ हैं। ये सिद्धान्तशास्त्रके पारगामी हैं। जैसे बहुत बड़ा समुद्र हो और उसके पार कोई पहुंचे तो समुद्रका विलोडन करके पहुंचता है, इसी प्रकार ये उपाध्याय सिद्धान्तशास्त्रके, आगमके पार पहुंचने वाले हैं, उस समस्त सिद्धान्तके रहस्यको समझने वाले हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी वृत्ति और अग्र सूत्रोंके बड़े विद्वान हैं और वृत्ति और सूत्रोंका शब्द और अर्थ दोनों ही पद्धतियोंसे सिद्ध करने वाले हैं। सिद्धान्त शास्त्रोंमें बड़े-बड़े दिग्गज आचार्योंने संक्षेपमें सूत्र कहे हैं, उन सबके रहस्योंके ये जानकार हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी अर्थके गमक हैं। जो सिद्धान्तसूत्रोंका अर्थ है उन समस्त अर्थोंके बहुत अधिक परिचय कराने वाले हैं, ये माधुर्यमें धुर्य हैं, मधुर वचन बोलनेमें बड़े चतुर हैं और ये जितने भी वक्ताओंके मार्ग हैं उनसे अग्रणी हैं अर्थात् शब्दब्रह्मका समुचित उपयोग करने वाले हैं। ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी बड़े विद्वान साधु हुआ करते हैं।

उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासो हि कारणम् ।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥६६१॥

श्रुताभ्यासकी उपाध्यायत्वमें कारणता—उपाध्याय परमेष्ठी उपाध्याय हैं, बहुत विद्वान हैं। उनके उपाध्यायपनेका कारण है श्रुतका अभ्यास, सिद्धान्तशास्त्रोंका इतना प्रचुर अभ्यास है कि जिसके कारण उन्हें इतनी विद्वत्ता प्राप्त हुई है कि वे दूसरोंको भली-भाँति निर्दोष पाठन करनेमें समर्थ हैं। उपाध्याय परमेष्ठी स्वयं भी अध्ययन करते हैं और शिष्योंको भी अध्ययन कराते हैं। भले ही ये समस्त शास्त्रोंके पारगामी हो गए, फिर भी अभ्यास न रखें तो उनकी विद्वत्तामें कमी आ जायगी। अतः वे निरंतर अपना अभ्यास बनाये रहते हैं और शिष्यजनोंको भी पढ़ाते हैं। इस तरह जो शिष्योंको भी पढ़ायें व स्वयं भी विद्याका अधिकाधिक अभ्यास रखें और आचार्य परमेष्ठी द्वारा घोषित कर दिए गए हों उनको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं।

शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः।
कुर्याधर्मोपदेशं स नाऽऽदेशं सूरिवत्क्वचित् ॥६६२॥

उपाध्याय परमेष्ठीको धर्मोपदेशका विशेषाधिकार—उपाध्याय परमेष्ठीमें व्रत आदिक की सर्वसाधारण विधि वही है जो साधुवोंकी बतायी गई है। मूल गुणोंका होना, तपश्चरण करना, संयम शीलका धारण करना, रागद्वेषसे रहित होकर समताभावमें रहना आदिक जितने भी गुण कहे गए हैं साधुवोंके वे सभी गुण उपाध्याय परमेष्ठीमें होते हैं। विशेषता इतनी है कि वे धर्मोपदेशको किया करते हैं, किन्तु आचार्य महाराज जैसा आदेश दिया करते हैं उस तरहका आदेश उपाध्याय परमेष्ठी नहीं देते हैं। इनका कार्य तो धर्मोपदेश करना है, जिसे सुनकर वे मुनिजन सम्यक्त्व प्राप्त करें और अपने अध्यात्ममार्गमें अपनी गति बनायें। एतदर्थ उनका उपदेश होता है, पर किसी तरहकी आज्ञा वे नहीं देते हैं। आज्ञा करना आचार्य परमेष्ठीका कार्य है। चूंकि आचार्य, उपाध्याय और साधु मूलतः साधु ही हैं। तो साधुवोंमें कहे गए २८ मूल गुण इन तीनों प्रकारके गुरुवोंमें हैं। केवल एक व्यावहारिक विशेषता यह है कि आचार्य महाराज तो आज्ञा प्रदान करते हैं और उपाध्याय परमेष्ठी उपदेश देते हैं।

तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरीणां संयमं तपः।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ॥६६३॥

उपाध्याय परमेष्ठी द्वारा अन्य साधुजनोंकी भांति शुद्ध चारित्र व पञ्चाचारका आश्रयण—ये उपाध्याय परमेष्ठी साधुवोंके संगमें रहते हुए यथाजात मुनिलिङ्गको धारण करते हुए संयम और तपका आश्रय करते हैं। संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त और रागद्वेष विषयकषाय आदिक विभावोंको जीतनेमें उद्यमी रहा करते हैं। मुक्तिमार्गमें तो ये भी लग रहे हैं। यों उपाध्याय परमेष्ठी संयम और तपका आश्रय लेते हैं, साथ ही शुद्ध चारित्र और पंचाचारोंका ये निर्दोष पालन करते हैं। ये तीनों ही गुरु मोक्षमार्गमें सावधान हैं और आत्मकल्याणका ही कार्य करते हैं, पर व्यवहारदृष्टिसे इसमें आचार्य और उपाध्याय पदकी बात कही गई है।

मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् ।
परीषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्वशी ॥६६४॥

उपाध्याय परमेष्ठी द्वारा मूलोत्तरगुणधारण परीषहोपसर्गविजय व इन्द्रियविजयका आचरण—ये उपाध्याय महाराज मूल गुणोंमें और उत्तर गुणोंमें जैसा कि आगममें बताया गया है, इस प्रसंगमें ऊपर कहा गया है उन सबका भली-भाँति आचरण करते हैं और जैसे साधुपरमेष्ठी परीषह और उपसर्गके आनेपर समतासे उनपर विजय प्राप्त करते हैं इसी प्रकार ये उपाध्याय परमेष्ठी भी परीषह और उपसर्गके विजयी होते हैं। जब कभी परीषह और उपसर्ग आता है तो ये गुरुराज अन्तर्वृत्तिमें दृढ़ बनते हैं और ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानमग्न हों इस दिशामें उनका चलना होता है और उस अन्तः प्रयत्नके द्वारा ये परीषह और उपसर्ग के विजय करने वाले होते हैं। ये उपाध्याय साधुवोंकी तरह इन्द्रिय विषय कषायोंको वश करने वाले होता है। जहाँ शरीरसे इन्द्रियसे इन विचारमालावोंसे विविक्त एक शुद्ध ज्ञानस्वभावका आलम्बन है, वहाँ ये विषय कषाय सहज ही जीत लिए जाते हैं। इस तरह अन्तर्बलके द्वारा साधुपरमेष्ठी विषयकषायोंके जीतने वाले होते हैं।

अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः ।
शुद्धवेषधरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गुणाग्रही ॥६६५॥

गुरुवोंकी अन्तर्बहिःशुद्धता—इस प्रसंगमें यह बताया जा रहा था कि अदेवमें देवबुद्धि करना, अगुरुमें गुरुबुद्धि करना, यह मूढ़ दृष्टि है। ऐसी मूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जनोंके नहीं होती है। सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको तो देवमें ही देवबुद्धि जगती है, गुरुमें गुरुबुद्धि जगती है, तब देवका स्वरूप बताकर गुरुका स्वरूप बताया जा रहा था। ये गुरु सामान्यतया एक हैं, क्योंकि इनकी अन्तसाधना एक समान है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टिसे तीन भेद बन गए हैं। जो केवल शुद्धताका ही प्रयोज़न रखते हैं, आत्मसाधना करना, यही जिनका लक्ष्य है, आदेश तो किसी विषयका करते ही नहीं, किन्तु उपदेशमें भी ये उपेक्षित हो रहे हैं, ऐसे साधु जन शुद्ध कहलाते हैं। साधु होकर जो उपदेशकी प्रधानता रखते हैं, स्वयं बहुत विशेष विद्यावोंके अधिपति होते हैं, स्वयं अध्ययन करते हैं और शिष्यजनोंको अध्ययन कराते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं। वे सर्वसाधुवोंके जो नायक है, और इन साधुजनोंकी धार्मिक क्रियावोंके शासक हैं वे पुरुष आचार्य कहलाते हैं। तो इस प्रसंगमें उपाध्याय परमेष्ठीका स्वरूप बताकर इस अंतिम श्लोकमें कह रहे हैं कि इस सम्बन्धमें अत्यन्त विस्तार करना व्यर्थ है अर्थात् विस्तार करने से कुछ भी प्रयोज़न नहीं है। इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उपाध्याय परमेष्ठी मुनिके समान ही अन्तरङ्ग और बहिरङ्गमें शुद्धस्वरूपको धारण करने वाले होते हैं। जैसे कि साधुपरमेष्ठी रत्नत्रयसे पवित्र हैं, अंतः आत्मस्वरूपकी आराधनाकी धुनमें रहते हैं इसी

प्रकार ये उपाध्याय भी अध्यात्मके साधक होते हैं। ये विशिष्ट बुद्धिमान होते हैं, क्योंकि जिन-शास्त्रोंका रहस्य और सार इन्होंने प्राप्त किया है ये निष्परिग्रह हैं। जीवके कल्याणमें बाधा करने वाला मुख्य दोष परिग्रह है। परिग्रह केवल बाह्य वस्तुओंका ही नहीं होता, किन्तु अपने विषय कषाय, विचार विकल्पको 'यह मैं हूं,' ऐसा मानना और उन विचारोंके सम्बन्धमें रागद्वेषकी वृत्ति रखना यह भी परिग्रह है और खास परिग्रह है। तो जो अन्तरङ्ग और बहिरंग परिग्रहसे रहित हैं ऐसे ही पुरुष विद्वान होकर उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं। ये नग्न दिगम्बर हैं। भीतर भी नग्न हैं और बाहर भी नग्न हैं, वसन आभूषणसे रहित हैं। यों शरीरमात्र ही जिनका परिग्रह है, यों तो ये बाह्यमें नग्न हैं और अन्तरंगमें विचार विकल्प विषय कषाय आदिक विभावोंसे अत्यन्त दूर हैं। केवल एक निज ज्ञायकस्वरूपमें ही धुन बनाये रहते हैं, इस कारण अन्तः भी ये नग्न हैं। नग्न कहते हैं शुद्धस्वरूपको। जहाँ बाहरी कोई प्रसंग न रहा उसे नग्नता कहते हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी गुणोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। रागद्वेषादिकपर विजय पाकर समतामें रहते हैं। ये तो समता है ही, किन्तु सर्वप्रकारके शास्त्रोंके जानकार होनेसे ये ज्ञानगुणमें भी अधिक श्रेष्ठ होते हैं।

उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणैः।
अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥६६६॥

उपाध्यायका लक्षण कहकर साधुपरमेष्ठीके लक्षणके कथनका संकल्प—यहाँ तक उपाध्यायका लक्षण बताया गया है। जिसका स्वरूप अपने लक्षणसे प्रसिद्ध ही है, उपाध्यायका यह स्वरूप कहकर अब साधु परमेष्ठीका लक्षण कहा जाता है, जो कि आगमसे भली-भाँति सिद्ध है। यद्यपि साधुताकी दृष्टिसे तीनों प्रकारके मुनि समान हैं, फिर भी व्यावहारिक विशेषताके कारण चूंकि मुनियोंके नायक हैं, अतएव आचार्य परमेष्ठीको पहिले कहा है, और ज्ञान से विशेष हैं, इस कारण साधुसे पहिले उपाध्यायको कहा है। अब साधु परमेष्ठीका स्वरूप कहा जा रहा है। साधुका शब्दसे अर्थ है—जो आत्माके स्वरूपको साधे सो साधु है। यद्यपि आत्मस्वरूपकी साधना वाले तीन प्रकारके गुरु हैं, फिर भी एक आत्मसाधनाका ही काम साधुपरमेष्ठीका है, इस कारण साधु शब्दसे साधुपरमेष्ठीको कहा गया है और इससे अधिक विशेषताओंके कारण उपाध्याय और आचार्यको कहा गया है। आचार्य—उपाध्याय और साधु दोनोंके नायक हैं। इस कारणसे उपाध्यायसे प्रथम आचार्य परमेष्ठीका वर्णन किया गया था। अब उपाध्यायका वर्णन कुछ कर चुकनेके बाद साधुपरमेष्ठीका लक्षण कहा जा रहा है।

मार्गो मोक्षस्य चारित्रं तत्सद्भक्तिपुरस्सरम्।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥६६७॥

आत्मसिद्धिके अर्थ चारित्रकी साधना करने वाले साधुके साधुनामकी अन्वर्थसंज्ञाका

कथन—मोक्षका मार्ग चारित्र है, तो भक्तिपूर्वक आत्मसिद्धिके लिए जो चारित्रकी साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। प्रथम तो मोक्षके मार्गका दर्शन होना चाहिए कि यह है मोक्षका मार्ग, फिर उस मोक्षमार्गके सभी स्थलोंका ज्ञान होना चाहिए, फिर उस मोक्षके मार्गपर चलना चाहिए। मार्गपर चलने वाले पथिकोंका यही क्रम रहता है—पहिले मार्गका श्रद्धान है, ज्ञान है, फिर मार्गपर चलते हैं तो पथिक अपने इष्ट स्थानपर पहुंच जाते हैं। इसी प्रकार मोक्षके मार्गके श्रद्धान और ज्ञान रखने वाले पुरुष जब मार्गपर चलेंगे तो अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। मोक्षके मार्गका दर्शन क्या है कि आत्माका जो सहज ज्ञानस्वरूप है उस स्वरूपका दर्शन होना, अनुभव होना और उस ही स्वरूपके सम्बन्धमें विशेष परिज्ञान होना सो ज्ञान है, और जब उपयोग द्वारा ऐसे ही मोक्षमार्गस्वरूप सहज ज्ञायकस्वभावमें रमते है तो यह हुआ मोक्ष-मार्गपर चलना। इस तरह भक्तिपूर्वक आत्माकी लगन धुन उपासना पूर्वक जो आत्मस्वभावका आचरण किया जाता है वह है चारित्र। ऐसे चारित्रको साधु सिद्ध करते हैं।

नोच्याच्चायं यमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया।
न किञ्चिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥६६८॥

साधुके मन, वचन, कायके संयमका वर्णन—ये साधु पुरुष आजीवन संयमके धारण करने वाले होते हैं, ऐसे ये यमी साधु हस्त पैर आदिकके इशारेसे कुछ भी बोलते नहीं हैं। साधु परमेष्ठी भी कार्य आत्मस्वभावकी साधना करते हैं। वे आत्मस्वभावमें लगकर उसके ही दर्शन कर-करके तृप्त रहते हैं। यह उनकी एक धारा रहती है। ऐसे साधु पुरुषोंको किसी भी प्रकारका संकेत संज्ञा करनेका प्रयोजन नहीं रहता, अतएव साधु पुरुष हाथ-पैर आदिकके इशारेसे कुछ भी बात बताते नहीं हैं, व्यावहारिक लौकिक प्रवृत्ति करते नहीं हैं और वे तो स्वस्थ ही रहते हैं, अतएव जैसे वे नहीं बोलते हैं, इसी प्रकार न कुछ संकेतसे दिखाते हैं और न मनसे भी चिन्तन करते हैं। इस श्लोकमें साधु पुरुषकी ३ गुप्तियोंका निर्देश किया गया है। मनोगुप्तिके कारण मनको कहीं अन्यत्र नहीं लगाते, केवल एक स्वमें स्थिर रहता है। वचन-गुप्तिके कारण कोई परविषयक वचन भी नहीं बोलते और कायगुप्तिके कारण कोई हाथ-पैर आदिकका संज्ञा संकेत भी नहीं करते हैं।

आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिध्नुवानश्च परम्।
स्तिमिन्तान्तर्वहिस्तुल्यो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनिः ॥६६९॥

साधुपरमेष्ठीके शुद्धात्मध्यानकी प्रधानता—ये साधु परमेष्ठी आत्माको प्राप्त करते हुए ही रहते हैं। जैसे शुद्ध आत्माका ध्यान हो, ऐसे एकाग्रचित्त होकर केवल ज्ञानमात्र अनुभूतिको किया करते हैं, ऐसे उत्कृष्ट शुद्ध ज्ञायकस्वरूपको ये प्राप्त करने वाले होते हैं। इनकी अंतरङ्ग प्रवृत्तियाँ और बहिरङ्ग प्रवृत्तियाँ शुद्ध हो चुकी हैं, इस कारण वे निस्तरंग समुद्रकी तरह

गम्भीर होते हैं। ये मुनिराज चित्तमें कोई विकल्प उत्पन्न नहीं करते। उनको जिस मार्गसे चलना है, जो आनन्द और तृप्तिका साधन है वह अत्यन्त स्पष्ट बना हुआ है, इस कारण उन्हें अन्य कुछ विचारना नहीं होता है। निस्तरंग समुद्रकी तरह गम्भीर रहा करते हैं, क्योंकि उपयोगको जहाँ रमाना है, वह स्थान वह निजपद उनकी दृष्टिमें स्पष्ट रहा करता है, अतः कोई आकुलता नहीं उत्पन्न होती। आकुलता उनके उत्पन्न होती है जो यह ढूंढ़ते हैं कि मुझे मन रमानेके लिए कौनसी जगह पानी चाहिए ? उन्हें तो यह आत्मधाम स्पष्ट है, इस कारण उनके व्याकुलता नहीं होती।

नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत् स मनागपि।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥६७०॥

साधुका आदेश व उपदेशके श्रमसे छुटकारा—ये साधु परमेष्ठी स्वर्ग और मोक्षके मार्ग तकका भी आदेश और उपदेश नहीं करते, फिर स्वर्ग और मोक्षमार्गके विरुद्ध अन्य लौकिक सांसारिक बातोंका तो आदेश व उपदेश करेंगे ही क्या ? साधु तो केवल आत्मसाधना के लिए निर्ग्रन्थ दिगम्बर हुआ है। उसकी धुन आत्मसिद्धिके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, इस कारण अपनी ही स्वरूपसाधनामें तृप्त रहा करता है। यद्यपि सामान्य रीतिसे कभी-कभी मोक्ष और स्वर्गका आदेश व उपदेश कर दिया करते हैं, किन्तु उसकी प्रमुखता नहीं है और साधुताके नाते उनको आदेश उपदेशकी चाह भी नहीं उत्पन्न होती। ऐसे ये साधु परमेष्ठी स्वर्ग और मोक्षमार्गविषयक भी आदेश और उपदेश नहीं किया करते। इससे यह स्पष्ट होता है कि उपदेश करनेका मुख्य काम तो उपाध्याय परमेष्ठीका है और आदेश करनेका मुख्य काम आचार्यपरमेष्ठीका है। आचार्यपरमेष्ठी आदेश और उपदेश दोनोंके अधिकारी हैं, उपाध्याय—आदेश देनेके अधिकारी हैं और साधु परमेष्ठी आदेश और उपदेश दोनोंकी उपेक्षा करके एक आत्मसाधनाकी धुनमें ही रहा करते हैं।

वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढ़ोधिकप्रभः।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥६७१॥

साधुपरमेष्ठीके वैराग्यकी पराकाष्ठा—ये साधु परमेष्ठी वैराग्यकी उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए हैं। जहाँ पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी वाञ्छा नहीं है, कोई मानसिक चिन्ता नहीं है, जिनको संसारके किसी भी भोगके प्रति रंच मात्र भी इच्छा नहीं होती, केवल शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें लिए रहें, इसके लिए ही कमर कसे हुए रहते हैं, ऐसे साधुपरमेष्ठी वैराग्य की उत्कृष्ट काष्ठापर पहुंचे हुए हैं। यही कारण है कि उनकी आत्मप्रभा अधिकाधिक शुद्ध रहती है। ये साधुपरमेष्ठी दिगम्बर कहलाते हैं। दिशायें ही जिनकी अम्बर हैं, दिशायें ही जिनके वस्त्र हैं, ऐसे दिगम्बर भेषमें रहने वाले साधु उत्कृष्ट दयाकी मूर्ति सिद्ध होते हैं। किसीसे द्वेष

नहीं, तब शास्त्र आदिक लेनेकी उन्हे क्या जरूरत ? किसीसे राग नहीं तो कुछ भी आवश्यक वैभव रखनेकी क्या जरूरत ? गात्रमात्र ही जिनका परिग्रह रह गया, ऐसे ये साधुपरमेष्ठी होते हैं। इनका रूप होता है यथाजात। जैसे बालक जो कि जल्दी ही उत्पन्न हुआ तो न उसके शरीरमें वस्त्र हैं, न आभूषण, ऐसे ही ये साधुपरमेष्ठी भी वस्त्राभूषणसे रहित होते हैं। बच्चे निर्विकल्प होते हैं। (यह एक सामान्य लौकिकदृष्टिका कथन किया जा रहा है।) जैसे छोटे बच्चे निर्विकल्प होते हैं, विकार तो उनमें तब आते-जाते हैं जब कुछ बड़े होते जाते हैं। तो जैसी सरलता एवं निर्विकारता बच्चोंमें पायी जाती है, ऐसी ही और इससे भी उत्कृष्ट इन साधुजनोंमें पायी जाती है। ये साधु यथाजात रूपके धारी होते हैं। ये साधु परमेष्ठी दयामें लीन रहा करते हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय आदिक छहों कायके जीवोंकी रक्षामें ये साधु लीन रहा करते हैं। यही कारण है कि वे न कभी आरम्भ करते हैं और न कभी कुछ परिग्रह अपने साथ रखा करते हैं।

निर्ग्रन्थोन्तर्वहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपोंशुभिः ॥६७२॥

साधुकी निर्ग्रन्थता, कर्मनिर्जरकता व तपस्विता—ये साधु गुरु निर्ग्रन्थ हैं, अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग शल्य मोहरूपी गाँठके ये खोलने वाले है। जहाँ परका यथार्थ परिज्ञान हुआ है, यह ज्ञानमात्र मैं हूं, इसका उत्पादव्यय इस ही में है। इसका किसी भी अन्य द्रव्यके साथ रंचमात्र सम्बंध नहीं है, इस तरह समस्त परसे निराले निज ज्ञानमात्रको जिसने समझा है वह पुरुष मोहकी गाँठ खोलने वाला कहा गया है। ऐसा पुरुष यमी होता है अर्थात् आजीवन उनके संयमका धारण रहता है। ये तपस्वी श्रेणी द्वारा उत्कृष्ट कर्मोंकी निर्जरा करते हैं, श्रेणी में आरूढ़ होकर जैसे-जैसे उत्कृष्ट परिणाम होते हैं ऊँचे-ऊँचे गुणस्थानोंमें पहुंचते हैं। ऐसे ही कर्मोंकी विशेष निर्जरा हो जाती हैं। इनका तपश्चरण ही किरण है, जिस किरणके द्वारा कर्मईंधनको जला देते हैं, वह किरण तपश्चरण ही है। निश्चयनय तपश्चरण है। अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपको निरखकर उस ही ज्ञानस्वरूपमें मग्न रहना, इसमें इतना परम-प्रताप प्रकट होता है कि भव-भवके बाँधे हुए कर्म क्षणमात्रमें दूर हो जाते हैं और इस ही अन्तरङ्ग तपश्चरणकी साधनाके लिए अनशन आदिक वाह्य तपश्चरण भी किया करते हैं।

परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्यतः।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥६७३॥

साधु परमेष्ठीकी एषणाशुद्धि, प्रत्याख्यानपरायणता व अजेयता—ये साधु परमेष्ठी परीषह और उपसर्ग आदिकसे अजेय हैं। इनपर कोई तिर्यञ्च, मनुष्य अथवा क्रूर देव उपसर्ग करे अथवा क्षुधा, तृषा, रोग आदिककी कठिनसे कठिन वेदनायें हो जायें, किसी पुरुषके द्वारा

सताये जायें, इतनेपर भी वे अपने स्वरूपसे चिगते नहीं हैं, इस कारण वे परीपहोंसे अजेय हैं। परीपह कैसे ही आयें, पर उन्हें विचलित नहीं कर सकते। कोई प्रकारका उपसर्ग भी उन्हें विचलित नही कर सकता। ये साधु परमेष्ठी कामके विजयी होते हैं, काम सम्बन्धी विकार इनमें रंच नही रहता है। जिन्होंने सर्वलोकके तीनकाल सम्बंधी सुखोंसे बढ़कर अनुपम आत्मीय आनन्दका अनुभव किया है वे पुरुप कामविकारमें क्या चित्त लगायेंगे? तो ये काम के विजयी होते हैं। इनकी आहारविधि एपणासमितिपूर्वक होती है। क्षुधाकी वेदना होनेपर दिनमें योग्य समयपर भिक्षाचर्याके लिए निकलते हैं। किसी दातारने सम्मानपूर्वक पड़गाहा तो वहाँ जाकर अन्तराय टालकर आहार ले आते है, वहाँ वे शुद्ध भोजन ही लेते हैं, इस कारण उनकी एपणा शुद्ध पवित्र है। ये साधु पुरुप कभी किसी व्रतमें अतिचार आनेपर प्रत्याख्यानावरण स्वीकार करते हैं, आलोचना, प्रायश्चित आदिक द्वारा आये हुए विकारोंकी शुद्धि करके फिर अपने ज्ञानमार्गमें लीन हो जाते हैं।

इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुपां महान् ॥६७४॥

उत्तमगुणाधार साधुपरमेष्ठीकी नमस्यता—इस प्रकार साधुपरमेष्ठी अनेक तरहके उत्तम गुणोंके धारी होते है, उत्तम-उत्तम गुणोंका इन साधुपरमेष्ठीने आश्रय लिया है, अर्थात् साधुवों में दोप कुछ भी नही रहते, गुणोंके ही ये निधान रहते हैं। ऐसे ये साधु परमेष्ठी कल्याण-प्राप्तिके लिए नमस्कारके योग्य हैं। संसारमें यदि कोई शरण हो सकता है मनुष्योंमें तो ये गुरुजन ही शरण होते हैं, क्योंकि इन्हें कोई विपयकपाय नहीं लगे हैं, इस कारण स्वयं भी शुद्ध मार्गपर चलते हैं और दूसरोंको भी शुद्धमार्गका ही आदेश उपदेश किया करते हैं, अतएव बड़े-बड़े व्रती पुरुपों द्वारा भी ये साधु पुरुष वन्दनीय होते हैं, अन्य कोई पुरुष वन्दनीय नहीं होते।

एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि।
तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥६७५॥

मुनित्रयकी समानता व परस्पर विशेषताका संकेत—यहाँ तक मुनिगणका वर्णन किया गया। आचार्य, उपाध्याय और साधु ये ३ प्रकारके मुनिराज, गुरुराज समस्त महान पुरुषोंमें श्रेष्ठ गिने गए हैं और ये तीनों अन्तरङ्ग विशुद्धिके नातेसे एक समान हैं, फिर भी इनमें कुछ बाहरी विशेषतायें हैं, जिनसे कुछ तारतम्य माना जाता है। वे बाहरी विशेषतायें क्या हैं, इस सम्बंधमें पहिले वर्णन आ चुका है कि आचार्य आदेश और उपदेश दोनोंके अधिकारी हैं, उपाध्याय मात्र उपदेशके अधिकारी हैं और साधु केवल आत्मसाधनाके लिए ही प्रयत्नशील रहा करते हैं। अन्तरङ्गमें उद्देश्य तीनोंका मोक्षमार्गमें लगनेका है। तीनों ही कर्मोंकी निर्जरा

करने वाले विशुद्ध कैवल्यको प्रकट करते हैं । तो इस मूल उद्देश्यकी अपेक्षा तीनोंमें समानता है, फिर भी विशेष कार्योंकी दृष्टिसे इन तीनोंमें परस्पर विशेषता है । जिस विशेषताका पहिले वर्णन किया गया, फिर भी कुछ उनकी विशेषताएँ बतायी जा रही हैं ।

तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गणाग्रणीः ।
स्यायाद्वाऽऽदेशतोऽध्यक्षात्सिद्धः स्वात्मनि तत्परः ॥६७६॥

आचार्यपरमेष्ठीकी दीक्षादेशके कारण गणाग्रण्यता व स्वात्मतत्परता—आचार्य महाराज दीक्षा देते हैं, आदेश करते हैं, अतएव समस्त गणके ये स्वामी कहे जाते हैं । सर्व साधु पुरुष और उपाध्याय मुनि भी आचार्यदेवके हुक्मको सर्वोपरि मानते हैं । जो उनका आदेश हो उसे निष्कपट होकर, कोई शङ्का न करके उसको मस्तकपर चढ़ाते हैं, क्योंकि आत्मकल्याणके अर्थी ही ये साधु पुरुष होते हैं और यह श्रद्धा है उनकी कि हमारे गुरु आचार्य जो भी उपदेश करेंगे वह हमारे हितकी साधनाका ही उपदेश करेंगे । इस कारण सर्व साधु पुरुष आचार्यके आदेशको पूर्णरूपेण पालन करते हैं । वे आचार्यदेव दीक्षा देने तथा आदेश देने आदिका कार्य करते हैं, साथ ही वे अपने आत्मामें तल्लीन भी रहते हैं । यह बात भी प्रसिद्ध है । आचार्य परमेष्ठीमें इतनी क्षमता है । बाहरमें अनेक साधुवोंको धर्ममार्गमें सम्हाले रहते हैं, साथ ही अपने आपके आत्माकी सावधानीमें भी वे निरन्तर तत्पर रहते हैं । ऐसी एक बड़ी विशेषता है । तब वे कितने विशिष्ट पुरुष हैं जो कि सर्व साधुजनोंके नायक हो पाते हैं अन्यथा स्वात्मदृष्टिवश न हों तो क्या तो उनमें आचार्यपना हो सकेगा और क्या साधुवोंको आदेश ही दे सकेंगे ।

अर्थान्नात्तत्परोप्येष दृङ्मोहानुदयात्सतः ।
अस्ति तेनाविनाभूतः शुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥६७७॥

दर्शनमोहका अनुदय होनेसे आचार्यके शुद्धात्मानुभवकी स्फुटता—आचार्य परमेष्ठीके दर्शनमोहका अनुदय हो, उपशम हो, क्षय हो अथवा क्षयोपशम हो । प्रयोजन यह है कि दर्शन मोहनीय कर्मका उदय नहीं चलता, इस कारण वे इस आत्मामें तल्लीन रहते हैं । साधु पुरुष की इतनी धार्मिक क्रियाओंका विधान करके भी ये आचार्य परमेष्ठी अपने आत्मामें तल्लीन रहते हैं, इस विषयमें शङ्का न करना चाहिए, क्योंकि शुद्ध आत्माका अनुभव दर्शनमोहनीयके अनुदयके साथ लगा हुआ है । भले ही संज्वलन कषायका वहाँ योग्य उदय पाया जा रहा है जिससे अपने संगमें रहने वाले अनेक मुनिजनोंका धार्मिक पोषण करते रहते हैं, फिर भी दर्शनमोहका अनुदय होनेके कारण वे शुद्ध आत्माके अनुभवसे दूर नहीं रहते हैं । इसी कारण आचार्य महाराज शुद्ध आत्माका अनुभव भी निरन्तर किया करते हैं । अब जरा आचार्य परमेष्ठीकी पात्रतापर ध्यान दें तो यह विदित होगा कि इस शुद्ध आत्मामें कितना अतुल प्रताप

है कि वे अपने आपके स्वरूपकी सावधानी नहीं खोते हैं और कितनी उनकी परमकरुणा है कि अनेक साधुवोंको मोक्षमार्गमें जैसे वे सावधान रहें, वैसा आदेश और उपदेश भी करते हैं। लोकमें प्रायः देखा जाता है कि जो किसी परपदार्थकी ओर अपना उपयोग लगाये वह अपने आपकी ओरसे चिग जाता है। इसी कारण साधारण जनोंके लिए यह उपदेश किया गया है कि किसी परपदार्थका उपयोग न करें, केवल स्वका ही उपयोग करें, किन्तु ये आचार्य महाराज स्वमें इतने सावधान हैं कि दूसरे अनेक मुनिराजोंको धर्मके मार्गमें सावधान रखते हुए भी अपने आत्माके शुद्ध अनुभवसे चिगते नहीं हैं। ऐसी आचार्यपरमेष्ठीमें विशेषता अन्य साधु जनोंकी अपेक्षा पायी जाती है।

अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः।
बाह्यार्थात्केवलं न स्यात् क्षतिर्वा च तद्क्षतिः ॥६७८॥

मात्र बाह्यार्थसे चारित्रकी क्षति व अक्षतिका अभाव—यहाँ यह प्रकरण चल रहा है कि आचार्य परमेष्ठी साधुवोंके साधक होते हैं और समस्त मुनियोंके मुखिया होनेके कारण आचार्य महाराज साधुवोंको प्रायश्चित देते हैं, आदेश करते हैं। इतने सब कार्य करनेपर भी आचार्य महाराजका आत्मा इतना प्रबल होता है कि उनके इन व्यवहार कामोंके होनेपर भी आत्माके ध्यानमें बाधा नहीं आती। यदि आत्माके ध्यानमें बाधा आये, फिर मुनियोंकी धार्मिक क्रियावोंका वे पालन करायें तो भी उनका मोक्षमार्ग न रहेगा। मोक्षमार्ग होता है रागद्वेष मोहके न होनेसे। तो यह अंतरङ्गकी बात आचार्य महाराजमें बराबर बनी रहती है। इस कारण उनका मोक्षमार्ग भी चलता है और अनेक साधुवोंको मोक्षमार्गमें लगाये रहते हैं। तो क्यों नहीं आत्माकी सुध वे भूलते हैं? जब कि मुनियोंके अनेक कार्य करा रहे हैं तो फिर उन्हें आत्माकी सुध न रहना चाहिए। पर उनके सुध रहती है, इसका कारण यह है कि शुद्ध आत्माके अनुभवका कारण दर्शनमोहका अनुदय है। अष्टकर्मोंमें मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है। मोहनीयकर्म जब हट जाता है तो शेष कर्मोंको नष्ट होना ही पड़ता है। बाकी ७ कर्मोंकी जड़ इस मोहनीय कर्मने सींच रखा है। मोहनीय कर्म २ प्रकारके होते हैं—(१) दर्शनमोहनीय, (२) चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयका उदय रहे तो आत्माकी सुध नहीं रहती, मिथ्यात्व रहता है, मोह बसता है। दर्शनमोहका तो क्षय रहे नहीं, उपशम हो, क्षयोपशम हो और क्षायिक हो और चारित्रमोह बना रहे तो चारित्रमोह सम्यग्दर्शनको नष्ट नहीं कर सकता। सम्यग्दर्शनका नाश करनेमें समर्थ दर्शनमोह है। तो आचार्य महाराजके दर्शनमोहका तो अनुदय है। एकदेशचारित्रका भी क्षय हो गया है। चारित्रमोहकी २१ प्रकृतियाँ हैं। उन २१ प्रकृतियोंमें जो अत्यन्त अशुभ हैं, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण ये ८ प्रकृतियाँ शान्त हो गयी हैं, इस कारण उनके आत्मामें बाधा नहीं आती। भले ही चारित्रमोहके उदय

में शुभ राग हो रहा है, मुनियोंके चारित्रका पालन करा रहे हैं, इतनेपर भी उनके आत्मामें बाधा नहीं आती है। चारित्रमोहके क्षय होनेमें या उदय होनेमें बाह्यपदार्थ कारण नहीं है। केवल बाह्य पदार्थसे ही चारित्रमोहका क्षय हो जाय या उदय हो जाय सो बात नहीं, किन्तु क्या है? इस बातको अगले श्लोकमें कह रहे हैं।

अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः।
तदापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः ॥६७९॥

उपादान हेतुसे चारित्रकी क्षति व अक्षतिका निर्णय—उन मुनिराजोंके आत्मामें जैसी ताकत है, जैसी योग्यता है उसके अनुसार बात बनेगी। यदि उपादान प्रबल है तो वहाँ चारित्रका लाभ है, रागद्वेषका अभाव है। उपादान यदि कमजोर है तो वहाँ चारित्रका लाभ नहीं रहता और रागद्वेष आदिक भी उत्पन्न होते हैं। तो चारित्रका नाश होनेमें बाहरी पदार्थ कारण नहीं है। जैसे कोई मुनिराज आज ही या कभी भी दीक्षित हुआ हो तो इसके सामने स्त्री पुत्रादिक परिजन भी आ जायें तो उनमें उसका राग न जगेगा। हाँ यदि उस मुनिका ही आत्मा अज्ञानी बन जाय तो राग आयगा। तो बाहरी पदार्थ होनेसे कहीं रागादिक नहीं आ जाते। इसी तरह बाहरी पदार्थ कहीं रागादिक मिटा नहीं देते। भीतरमें ज्ञानप्रकाश जगे तो रागादिक दूर होंगे। तो आचार्य परमेष्ठी बाहरमें साधुवोंको आदेश देते हैं, पंचाचारोंका आचरण कराते हैं। इससे कहीं उनके रागादिक न हो जायेंगे, कहीं आत्माकी सुध वहाँ न समाप्त हो जायगी। वे अपने आत्माके ध्यानमें तत्पर रहा करते हैं। इस आत्माका यदि कोई बैरी है तो मोह रागद्वेषका सद्भाव ही बैरी है। जीव सब स्वतंत्र हैं, सबकी सत्ता न्यारी-न्यारी है। कोई जीव किसीका न साधक है, न बाधक। अज्ञानमें यह मान रखा है कि ये लोग मेरे मित्र हैं, ये लोग मेरे विरोधी हैं। वस्तुतः इस जीवका न कोई मित्र बन सकता, न कोई शत्रु। इसका कारण यह है कि वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने उपादानके अनुसार अपनी परिणतियाँ करता है। हाँ, उन परिणतियोंमें जो विषम परिणतियाँ हैं उनमें बाह्य पदार्थ निमित्त हो जाते हैं, परन्तु परिणति होगी अपने उपादानके अनुसार। तभी तो कहते हैं लोग कि कोई ज्ञानी पंडित हो और वह शत्रु हो तो भी भला है और कोई मित्र हो, पर मूर्ख हो तो भी वह भला नहीं है। कारण क्या बताया है कि जो ज्ञानी पुरुष है वह शत्रुताकी भी कुछ बात करेगा तो भी अहित हो जाय, ऐसी बात न कर सकेगा। कषायके उदयमें भले ही थोड़ा क्रोधरूप प्रवृत्ति हो जाय, मगर उसका अहित न करेगा, और जो मूर्ख पुरुष है वह चाहे दूसरेका हित सोचता हो, लेकिन अपनी मूर्खताके कारण उसकी कोई ऐसी प्रवृत्ति बनेगी कि उस दूसरेका अहित ही हो जायगा। तो अपने-अपने उपादानके अनुसार अपना-अपना भविष्य बनता है। तब यदि शान्ति चाहिए, अपने आपको आनन्द चाहिए तो अपने आत्माको विशुद्ध

बनानेका प्रयत्न करें।

परविविक्तत्वध्यानकी विशुद्धिहेतुता—विशुद्धिमें सबसे पहिला प्रयत्न यह होना चाहिए कि यह जान जायें कि मैं आत्मा जगतके सर्व पदार्थोंसे निराला हूं, केवल ज्ञायकस्वरूप हूं। मेरा मेरेपर ही सब कुछ निर्भर है, दूसरे जीवपर मेरा कुछ वश नहीं चलता, दूसरेका मेरेपर कुछ वश नही चल सकता। यहांके ये प्रसंग सब झूठ हैं, मिथ्या हैं, स्वप्नवत् हैं। मिल गए परिजनोंमें कुछ लोग तो क्या है? अपने-अपने उदयके अनुसार अपना-अपना फल भोग रहे हैं, अपने ही उदयानुसार जन्ममरण कर रहे हैं। कोई किसी गतिसे आया, कोई किसी गतिसे। थोड़े दिनोंको ये मिल गए तो इतनेमें मेरा क्या आयगा उनसे? मैं उनसे भी निराला हूं, और तो क्या कहें—खुदमें जो भाव उत्पन्न होते हैं कषायोंके इच्छावोंके, विषयोंके, किसी भी प्रकार के विचार तक भी मेरे साथी नहीं बन पाते, उन्हें भी नष्ट होना पड़ता। मैं तो सदाकाल ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा अपने आत्माका बोध हो तो यही सच्ची मित्रता है। खुद ही मित्र बन सकते हैं। खुद ही आत्मा अपना गुरु हो सकता है और खुद ही यह आत्मा अपने आपको उत्तम कार्यमें लगा सकता है, ऐसा जानकर सर्व बाह्यपदार्थोंसे उपेक्षा करना और इन्द्रियको संयत करके अपने आपमें अपने आत्माके स्वरूपको लखना, यही है अपने साथ सच्ची मित्रता। तो आचार्य महाराजके दर्शनमोहका अनुदय है, इस कारण मोहभाव उत्पन्न हो इसकी तो गुंजाइश ही नही है, किन्तु चारित्रमोह भी बहुत कुछ मन्द हो गया है। इस कारणसे ऐसा रागद्वेष भी नहीं होता कि जो आत्माके अनुभवमें बाधा डाले, इस कारणसे ये आचार्य महाराज साधुवोंको इतनी धार्मिक क्रियायें करते हुए भी अपने आत्मामें सावधान रहते हैं। इस प्रकरणसे हम आपको भी यह शिक्षा लेनी चाहिए कि हम आपकी भी वृत्ति अपने आपके ध्यानकी रहा करे, जिससे कि बाहरी व्यापार, लेन-देन व्यवहार आदिक कार्य करते हुए भी भान रहे अपने आत्माका कि इन बाहरी सम्पदाओं मात्रसे मेरा कुछ पूरा नहीं पड़नेका, इन बाहरी मित्रमंडलियोंसे भी मेरा कुछ काम नहीं बननेका। मेरा काम बनेगा तो मेरे ही पवित्र परिणामसे बनेगा।

सति संज्वलने ,नोच्चैः स्पर्धका देशघातिनः।
तद्विपाकोस्त्यमन्दो वा मन्दोहेतुः क्रमाद्द्वयोः ॥६८०॥

अनन्तानुबन्धी कषायके विपाकमें इष्टसम्बंधित पीड़ा—कषायें मुख्य १६ प्रकारकी होती हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, जिनके उदयमें मोह उत्पन्न होता है और आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि नहीं जगती है, इनका उदय मिथ्यादृष्टिमें पाया जाता है। अनन्तकाल तक भी इनकी परम्परा बनी रहे या मिथ्यात्वको ये बढ़ाते रहें, अगले भवमें भी वैर विरोधको न छोड़ें, इस प्रकारकी वासना अनन्तानुबंधी कषायमें रहती है। इसके उदयमें

जोवकी बुरी तरह बरबादी होती है। अब यहीं देखिये कि इस जीवका दूसरा कोई साथी नहीं है। जगतमें जितने अनन्त जीव हैं वे सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, ऐसा अपने आपमें विचार करें। तो घरमें आये हुए दो एक लोग अथवा १०-५ जो परिजन हैं, उनमेंसे एक भी जीव तो अपने आपका कुछ नहीं लगता, बल्कि वे अपने आपके रागके कारण बन रहे हैं। इस कारण यों कहो कि कुछ बैर ही तो निभा रहे हैं। मगर आपका कोई काम नहीं साध रहे। देखो परिवारमें कोई बड़ा भला हो, प्रिय हो, दूसरोंकी सेवा करता हो, सबका बहुत प्यारा हो, लेकिन उसका वियोग (विछोह) तो होगा ही। जब उस इष्टका वियोग होता है तब उसके पश्चात् फिर उसको जीवनभर बड़ी वेदना रहती है। हायका इतना प्रिय था, इतना चतुर था और वह गुजर गया। अब इष्ट पदार्थका मिलना इस जीवके लिए भला हुआ या बुरा ? इष्ट-समागम होना भी बुरा है और अनिष्ट समागम भी बुरा है। बाहरी पदार्थोंमें स्नेह करना नियमसे बुरा है। उससे इस जीवको कोई भलाई नहीं मिलती है। तो अनन्तानुबंधी कषायके उदयमें जीवको अपने स्वरूपका भान नहीं रहता। तो यह बहुत अनर्थ करने वाली कषाय है। प्रकृतिपर क्या दृष्टि दें, अपने भावपर दृष्टि देना चाहिये। यदि वैभवमें आसक्ति है, तीव्र राग है तो हम बड़ा पाप कर रहे हैं। उसमें हमको बड़ी हानि उठानी पड़ेगी। संसारमें जन्म मरण खोटी-खोटी गतियोंमें करना पड़ेगा। नरक आदिक कुयोनियोंमें में जन्म होगा तो देखो इष्ट जन उसके लिए बुरा ही रहा। यदि बाह्य पदार्थोंमें राग अधिक है, मोह बना हुआ है तो इस मोहके कारण ही तो अब तक संसारमें रुलते आये हैं। मान लो आज मनुष्य हुए हैं और मनुष्य होकर भी यही काम करते रहे जो कि अनेक भवोंमें करते आये। जो लोग मिले परिवारमें उनमें राग बढ़ाना, मोह करना, उनको ही अपना सर्वस्व समझना, उनके लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन अर्पित करना जो कुछ हैं सो ये ही हैं, ऐसा उनमें अपना सर्वस्व समझ लेना, यह तो महापाप है, आत्माकी बरबादीका कारण है। इससे कुछ भलाई नहीं होनेकी। और ऐसा करते-करते मान लो जीवन खतम हो गया तो फिर क्या लाभ पाया ? अगला जन्म लेना होगा। कहाँ जन्म लेगा ? कोई खोटी योनि ही मिलेगी, इससे फायदा क्या ? तो इष्ट पदार्थोंको पाकर हर्ष न करना चाहिए। यह ध्यानमें रखना चाहिए कि ये भी नष्ट हो जाने वाले हैं।

अनन्तानुबन्धी कषायके विपाकमें अनिष्टसम्बंधित पीड़ा—अब अनिष्ट समागमकी बात देखिये—किसी अनिष्ट पदार्थका समागम हुआ है, मानो निन्दक लोग मिले हैं अथवा विषयोंमें बाधा डालने वाले लोग मिले हैं तो ऐसे बाधक लोग अनिष्ट पुरुष मिल जायें तो उनसे भी मेरे आत्माका नुक्सान क्या होता है ? उनके कषाय है, परिणाम है, वे अपने परिणाममें अपना कषायभाव रख रहे हैं। रखते रहें, उनका काम उनके परिणामसे होगा। उनसे मेरेमें क्या

बात आयी ? मानो किसीको गाली देनेकी आदत है, गाली दे रहा है तो वह कर क्या रहा है ? अरे उसकी इतनी ही योग्यता है कि वह गाली ही बक सकता है । तो वह अपना काम कर रहा है, मेरेमें उसकी गाली नहीं आती, न उससे मेरेमें कोई बंध होता है । यहाँ तो अपने अज्ञानसे कर्मका बन्ध होता है । न रखे अज्ञान, मान लो भली प्रकारसे वह सब कुछ करे, पर उससे मेरेमें कुछ आता-जाता तो नहीं । यदि अपनी एक ऐसी ही दृढ़ता बना लें तो उसने कुछ नुकसान तो नहीं है । अनिष्ट समागम मिले तो उनमें भी विषाद न करें, ज्ञाताद्रष्टा रहें, यह भी एक सम्यग्दृष्टिकी चीज है । तो जिसके इस प्रकारकी आत्मामें सावधानी रहती है उस पुरुषको कोई वेदना नहीं है । और जिसके अज्ञान बसा है उसके चाहे कितने ही भोगके साधन मिले हों, लेकिन वह संक्लेशमें रहता है और दुःखी रहता है । तो अनन्तानुबंधी कषायमें उदय में जीवको आत्माका भान नहीं रहता ।

सर्वघाती कषायका अभाव होनेसे मुनिकुञ्जरोंको आत्मसावधानी—अब समझिये अप्रत्याख्यानावरण कषायकी बात । अनन्तानुबंधी कषाय तो रहे नहीं और अप्रत्याख्यानावरण हो तो उसके सम्यक्त्व तो है, मगर ११ प्रतिमा लेनेका भाव नहीं होता है और प्रतिमावोंका न वह पालन करता है । अनन्तानुबंधी न होनेसे सम्यग्दर्शन तो जग रहा है पर अप्रत्याख्या-नावरण कषायके होनेसे प्रतिमाका भाव नहीं जग रहा, सो उसके कोई व्रत नहीं होता । अप्रत्याख्यानावरण कषाय दूर हो तो ११ प्रतिमाके धारणके भाव होते हैं । मुनिव्रतका तो धारण कर हो न सकेगा, जिसके अप्रत्याख्यानावरणका उदय है, वह एक देशव्रत भी नहीं कर सकता, और जिसके अनन्तानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरण नहीं, मगर प्रत्याख्यानावरण है वह मुनिव्रत तो धारण नहीं कर सकता, किन्तु श्रावकव्रत ले लेगा । तो इतनी कठिन कषायें मुनि के नहीं रहीं, इस कारण वे आत्मामें निरन्तर सावधान रहते हैं ।

लोक और कालके विस्तारके परिचयमें वैराग्यका सुगम अभ्युदय—इस प्रसङ्गमें एक बात शिक्षाके लिए और जानना चाहिए कि साधुजनोंके संस्थानविचय नामका धर्मध्यान पुष्ट रहता है याने लोक कितना बड़ा है और काल कितना लम्बा है, यह ज्ञान उनके चित्तमें साक्षात् बना रहता है, जिसके फलसे उनके राग नहीं जगता । लोक कितना बड़ा है ? पहिले तो आजकलकी परिचित दुनियाको ही देख लीजिये । रूस, अमेरिका आदिक दूर-दूरकी जगह कितनी लम्बी-चौड़ी है, और यह सब जगह इस एक भरतक्षेत्रके, आर्यक्षेत्रके एक कोनेमें समायी हुई है । इससे कितना ही बड़ा अभी आर्यखण्ड है और इनके सिवाय ५ म्लेच्छ खण्ड हैं, इतना तो एक भरतक्षेत्र है । यह जम्बूद्वीपका एक छोटा क्षेत्र है । जम्बूद्वीप बहुत बड़ा है, उससे दूना लवण समुद्र है, उससे दूना दूसरा द्वीप है, उससे दूना दूसरा समुद्र है, उससे दूना तीसरा द्वीप है । इस तरह दूने-दूने द्वीप समुद्र हो गए और वे हैं अनगिनते द्वीप समुद्र । इतने द्वीपसमुद्र जितने जगहमें समाये हैं, वह अभी एक राजू भी पूरा नहीं है । फिर ऐसे एक राजू

लम्बे, एक राजू चौड़े और एक राजू मोटे क्षेत्रका नाम है एव घनराजू। ऐसे ३४३ घनराजू-प्रमाण यह लोक है। इतने बड़े लोकमें हम आपको जितनी जगहमें आज परिचय बना हुआ है वह तो अत्यन्त अल्प जगह है। इतनीसी जगहमें क्या मोह रखना? अगर हमारे निन्दक बढ़ गए हैं या हमारे बाधक बढ़ गए हैं तो बढ़ जायें, उससे हमारी क्या हानि अथवा इतनीसी जगहमें कोई राग बढ़ानेके कारण मिल गए हैं, परिजन अच्छे मिल गए हैं तो इससे पूरा क्या पड़नेका? इन्हें तो छोडकर जाना ही होगा, और इतने बड़े लोकमें न जाने कहाँ उत्पन्न हो जायें? तो जिसको लोकके विस्तारों खबर है उसके रागद्वेष मोह आदिक नही जगते। इसी प्रकार कालकी भी बात समझिये। काल कितना बड़ा है? कोई बता सकता है क्या कि किस समयसे काल शुरू हुआ है? जिस दिन पहिली बार सूर्यका उदय हुआ हो, उससे पहिले सूर्य ही न हो, ऐसा कोई समय बता सकता है क्या? अनन्तकाल व्यतीत हो गया और आगे भी अनन्तकाल व्यतीत होगा। इतने लम्बे कालके सामने अगर जीवनका १००-५० वर्षकी उम्र भी पा लिया तो वह भी क्या उम्र है? इतनासा जीवनकाल तो शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला है। इसके बाद फिर जन्म-मरण चलेगा। तो वर्तमानमें पाये हुए समागममें हर्ष मत मानो और उसमें विषाद भी मत मानो। उसके ज्ञाताद्रष्टा रहो। ये मिले, ठीक, जान लिया, अनिष्ट समागम मिले—ठीक, जान लिया। इससे अपने आत्मामें रागद्वेष न बढ़ाना चाहिए।

आचार्य परमेष्ठीके आत्मभावनमें बाधाका अभाव—अब देखो आचार्यपरमेष्ठीके जब चारित्रमोहके कठिन कर्म भी नही रहे तो उनके आत्माको साधारण संज्वलनकषाय बाधा दे दे, इतना भी नहीं होता। हाँ संज्वलनकषाय उनके मौजूद है, वहाँ सर्वघाती स्पर्धक नहीं हैं, सो आत्माके चारित्रका पूर्णतया घात कर दे, ऐसा कर्म उनका न रहा, देशघाती कर्म रहे, जिनके उदयमें थोड़ा राग चलता है शुभराग। जैसे साधुजनोंके प्रति लोग यह ख्याल रखते हैं कि उनका आवरण विशुद्ध बने, इनकी दृष्टि निर्मल हो, और साधुवोंका ही क्या, सभी जीवोंके प्रति गुरुवोंकी हित-कामना रहती है। सब लोग हित पायें, आत्मदृष्टि प्राप्त करें, सबके चित्त में ऐसी हितभावना रहती है। तो ऐसा हित चाहने वाले आचार्य परमेष्ठीके आत्माका भान न रहे, ऐसा उदय नहीं आता। तो संज्वलनकषायमें थोड़ासा दोष है, वह यही है कि प्रकृतियोंका उदय रहता है। सो उस संज्वलनका जितना तीव्र उदय आता है तब इस चारित्रमें उतनी कमी आती है और जब इसका मंद उदय आता है तब चारित्रमें कोई कमी नही आती है। सो मुनिराजके आचार्य परमेष्ठीके संज्वलन कषायका उदय भी तीव्र नही है, इस कारण इतने साधुजनोंके कार्य करते हुए भी आत्माकी बेसुधी आचार्यके नहीं रहती है।

आत्मस्वरूपभावनाका शरणभूत कर्तव्य—इस प्रसङ्गमें अपने आपको यह जानना चाहिए कि हम अपने आत्मस्वरूपकी भावना बनाये रहें तो नियमसे संसारसे पार हो जायेंगे।

खूब विचार कर लीजिए कि क्या आपका यहाँ साथी है कोई कुछ ? जब धन वैभव बड़े-बड़े लखपति, करोड़पति तथा अरबपतियों वगैराके भी सदा नहीं रहा, चक्रवर्तीके भी छह खण्डका वैभव सदा न रहा, तो फिर हम आपको जो कुछ थोड़ी बहुत सम्पदा मिली हुई है वह भी क्या सदा साथ रहेगी ? और इसके लिए ज्यादा क्या सोचना ? जो लोग गुजर गए हैं बड़ी-बड़ी सम्पदा पाने वाले, उनसे भी सबक सीख सकते है कि जब उनके साथ भी यह सम्पदा न गयी तो फिर मेरे साथ क्या जायगी ? परिजनोंका भी यही हाल है । बड़े आज्ञाकारी पुत्र हों, बड़ी विनयशील स्त्री हो तो ये भी क्या साथ जाते हैं ? मरनेपर जीवको अकेला ही जन्म लेना होता है । यहाँ कोई मेरा साथी नहीं है । ऐसी स्थितिमें हमें अपना साथी किसे मानना चाहिए ? तो भाई वास्तवमें यदि आत्माका कल्याण करना है तो पंचपरमेष्ठीकी भक्ति करो । देखिये—भक्तजन यहाँ मन्दिरमें आकर पूजा रचते हैं तो क्यों रचते हैं ? इसीलिए ना कि लोकमें अन्यत्र कुछ शरण नहीं है । शरण है तो मेरे लिए पंचपरमेष्ठीकी भक्ति शरण है । क्योंकि ये संसारसे पार हो रहे हैं, पार हो चुके हैं, इनके शुद्ध आत्माका विकास हुआ है, वही विकास मुझे मिले तो मेरा उद्धार हो सकता है । तो पंचपरमेष्ठी शरण हैं और निश्चयसे आत्माको आत्माका ज्ञान, आत्माका श्रद्धान और आत्मामें ही रमण बने, यही शरण है । अपनी आत्मदृष्टिको छोड़कर जगतमें कुछ भी दूसरा शरण नहीं है, ऐसा श्रद्धान निरंतर रखना चाहिए, और बाकी कार्य करते हुए भी दृष्टि अपने आपकी ही रहनी चाहिए ।

संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः ।
सोऽपि तरतमांशांशैः सोप्यनेकैरनेकधा ॥६८१॥

चारित्रकी क्षति व अक्षतिका कारण संक्लेशभाव व विशुद्धिभाव—चारित्रके विनाश का अथवा अनुभूतिके विनाशका कारण अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण आदिक नहीं है, किन्तु संक्लेशपरिणाम हो जाय तो उसमें चारित्रकी क्षति है । और विशुद्ध परिणाम हो तो उससे चारित्रकी क्षति नही होती है । इसका कारण यह है कि संज्वलनकषायकी तीव्रता हो तो आत्मामें संक्लेश हुआ करता है । और संज्वलनकषायकी मंदता हो उससे संक्लेश नही होता, किन्तु विशुद्धि प्रकट होती है । विशुद्धि चारित्रके विनाशका कारण नहीं है, किन्तु विशुद्धि तो चारित्रकी वृद्धिका ही कारण है । सो यह संक्लेश और विशुद्धि उस ही प्रकार कम-बढ़ होती रहती है जिस प्रकारसे संज्वलनकषायके उदयमें तीव्रता अथवा मंदता आती रहती है । इस तरहकी संज्वलनकषायकी तर्तमता अनेक प्रकारसे विपार्जित है । सारांश यह है कि चारित्रकी क्षतिका कारण संज्वलनकषायकी तीव्रता है, मंदता नही है । प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरणका अनुदय होनेसे चारित्रकी क्षतिकी सम्भावना भी नही है ।

अस्तु श्रद्धा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह ।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥६८२॥

कदाचित् संज्वलनकषायजनित चारित्रशैथिल्य होनेपर भी आचार्य परमेष्ठीके आत्म-असावधानीका अनवसर—अथवा संज्वलनकषायकी तीव्रता चारित्रकी क्षतिका कारण कहा है और मंदता क्षति न होनेका कारण कहा है, परन्तु आचार्यके किसी कारणवश शिथिलता नहीं आती और कदाचित् संज्वलन कषायकी तीव्रतासे आचार्यमें आंशिक रूपसे चारित्रकी क्षति हो जाय तो भी आचार्य अपने आत्मामें सावधान ही रहते हैं। वहाँ असावधानी नहीं बर्तती। वे आचार्यपरमेष्ठी विरक्त इतनी क्षमतापूर्ण हैं कि अपने आत्मामें वे सदा तत्पर ही रहा करते हैं। मुख्यता तो इस बातकी है कि आचार्यपरमेष्ठीके संज्वलनकषायके मंद उदयमें जो शुभ राग प्रवर्तता है उस शुभ रागके कारण साधुजनोंको पंचाचारका उपदेश आदेश करते हैं। अब इतने शुभरागसे अथवा विशुद्धिके परिणामके प्रसंगसे कहीं चारित्रका विनाश नहीं हो जाता और न वे अपने आत्मामें असावधान होते हैं।

तत्रावश्यं विशुद्धयंशस्तेषां मन्दोदयादिति।
संक्लेशांशोथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥६८३॥

संज्वलनकषायज संक्लेश व विशुद्धिमें आत्मानुभूतिकी अबाधकता—संज्वलन कषाय का मंद उदय होनेसे आचार्यपरमेष्ठीमें विशुद्धिके अंश प्रकट ही होते हैं, वे वृद्धिगत हो जाते हैं और जब उक्त कषायका तीव्र उदय होता है तब संक्लेशांश बढ़ जाता है। पर चाहे संज्वलन कषायमात्रके उदयमें विशुद्धिके अंश बढ़े हों अथवा चारित्रके अंश बढ़े हों, वे शुद्ध आत्माके अनुभवमें कुछ कार्यकारी नहीं हैं अर्थात् अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण इन १२ कषायोंसे रहित साधुपरमेष्ठीमें संज्वलनकषायके उदयके कारण कुछ संक्लेश भी आ जाय तो भी वह शुद्धात्माके अनुभवमें बाधक नहीं है। और संक्लेश न हो, विशुद्धि हो तो वह भी शुद्ध आत्माके अनुभवमें बाधक नहीं है। जब कि अव्रती सम्यग्दृष्टि पुरुषके अप्रत्याख्यानावरण जैसी कषायका उदय रहता है तिसपर भी शुद्ध आत्मानुभवमें बाधा नहीं आती। और श्रावक प्रतिमाधारी पुरुषके प्रत्याख्यानावरणका उदय होनेपर भी शुद्ध आत्माके अनुभव में बाधा नहीं होती, फिर जिन आचार्य परमेष्ठीके अप्रत्याख्यावरण भी न रहे, प्रत्याख्यानावरण नही है उनके शुद्धात्माके अनुभवमें बाधाको शंका कैसे की जा सकती है?

किन्तु दैवाद्विशुद्धयंशः संक्लेशांशोथवा क्वचित्।
तद्विशुद्धेर्विशुद्धयंशं संक्लेशांशोदयः पुनः ॥६८४॥
तेषां तीव्रोदयात्तावदेतावानत्र बाधकः।
सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोपरोस्त्यतः ॥६८५॥

संज्वलनकषायके अन्य अपराधका अभाव—यद्यपि तथ्य यहाँ यह बताया गया है कि संज्वलनकषायकी मंदतासे तो चारित्रमें विशुद्धिके अंश बढ़ जाते है और संज्वलनकषायकी

तीव्रतासे चारित्रमें संक्लेशके अंश बढ़ते हैं तो इतनी ही बात मान लीजिए बाधाकी। इसके अतिरिक्त कोई शुद्ध आत्मानुभवमें बाधा आ सके, ऐसी बात नहीं है। बाधा केवल इतनी ही है कि जब संज्वलनकषायका तीव्र विपाक होता है तो संक्लेश हो जाता है और संज्वलनकषाय के मंद विपाकमें विशुद्धि बनती है। पर इतने संक्लेशसे कहीं शुद्धात्मानुभवमें बाधा न आयगी। बाधा संक्लेश हो गया, इतना मात्र समझियेगा। कभी संज्वलनकषायमें आचार्यपरमेष्ठीके तीव्रता हो तो वे यद्यपि कुछ विपाद उत्पन्न करते हैं, मगर इसके अतिरिक्त और कोई अपराध नहीं कर सकते हैं याने शुद्ध आत्माके अनुभवकी अपात्रता कर दें, ऐसी शक्ति संज्वलन के तीव्र विपाकमें अथवा संज्वलनके तीव्र विपाकमें होने वाले संक्लेशमें क्षमता नहीं है। तब शंकाकारकी यह आशंका कि आचार्य महाराज शिष्योंको आदेश करें, पंचाचारका आचरण करायें, इतने व्यवहारमें रहते हैं तब उनके शुद्धात्माकी अनुभूति कैसे हो सकती है ? यह शंका करना निर्मूल है, किन्तु यहाँ यह समझना चाहिए कि आचार्यपरमेष्ठी इतने विरक्त पुरुष होते हैं कि वे साधुजनोंकी धार्मिक क्रियावोंकी सम्हाल करके भी अपने आपकी सम्हालमें पूरा सावधान रहा करते हैं।

तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः।
कर्त्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥६८६॥

संज्वलनकषायज प्रमादमें स्वात्मानुभूतिकी अबाधकता—उपर्युक्त विवेचनसे यह निर्णय कर लेना चाहिए कि संज्वलनकषायकी तीव्रता अथवा संज्वलनकषायकी तीव्रतासे होने वाले कुछ अंशोंमें चारित्रकी क्षति आचार्यपरमेष्ठीके शुद्ध आत्मानुभवका विनाश नहीं कर सकती, क्योंकि शुद्धात्मानुभवके नाशका कारण संज्वलनकषायका तीव्र उदय नहीं है, अनन्तानुबंधी कषायका उदय है। जिनके अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण, इन १२ प्रकारकी कषायोंका उपशम बना हुआ है, अनुदय है, ऐसे संत पुरुषोंके शुद्धात्मानुभव में बाधा करने वाली शेष कोई कषाय नहीं हो सकती है। तब यह शंका न रखनी चाहिए कि आचार्यपरमेष्ठी मुनिसंगकी धार्मिक क्रियावोंकी सम्हाल करते हैं तो वे शुद्धात्मासे वंचित रहते होंगे ? यह शंका करना संगत नहीं होती।

हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः।
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तत्र व्यत्ययात् ॥६८७॥

शुद्धात्मज्ञानका कारण, मिथ्यात्वकर्मोपशम—शुद्ध आत्माका अनुभव किस कारणसे होता है और शुद्ध आत्माका अनुभव किस कारणसे नहीं हो सकता है ? इसका वर्णन इस श्लोकमें किया गया है। शुद्धात्माके परिज्ञानका कारण मिथ्यात्वकर्मका उपशम है। यद्यपि ज्ञानावरणका अधिक क्षयोपशम होनेके कारण पुद्गल आदिक विषयक बहुत बड़ा ज्ञान कर

लिया जाता है। बड़े-बड़े आविष्कार, वैज्ञानिक साधन, ये सब ज्ञानावरणके क्षयोपशमपर निर्भर हैं। लेकिन मिथ्यात्वकर्म उपशान्त नहीं होता है तो बाहरकी बातोंका ही परिचय रहता है और वहाँ भी यथार्थस्वरूपका परिचय नहीं रहता है। आत्माका तो परिचय होता ही नहीं है, फिर उस स्थितिमें शुद्धात्माका अनुभव नहीं हो सकता है। जिन जीवोंके मिथ्यात्वकर्मका उपशम है उनके शुद्धात्माका ज्ञान रहता है और इस कारणसे रेडियो, बेतारका तार आविष्कार आदिक ऊँचे-ऊँचे साधनोंमें न उपयुक्त हो सकते हों, लेकिन मिथ्यात्वकर्मका उदय न होनेसे आत्मतत्त्व विषयक प्रकाश उनके निरन्तर रहता है। जिन जीवोंके मिथ्यात्वकर्मका उदय है उनके चाहे लौकिक ज्ञान कितना ही बढ़ गया हो, फिर भी शुद्धात्माका अनुभव नहीं हो सकता है। शुद्धात्माका अर्थ है—यह आत्मा सहज जिस स्वरूपमें है उस स्वरूप की रीतिसे अपने आपका परिचय करना सो शुद्धात्माका ज्ञान है। ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्वका पर्यायबुद्धि जीवोंको कैसे परिज्ञान हो सकता है, क्योंकि अपने आपके बारेमें भी कुछ विचार करते हैं मोही जन तो पर्याय रूपसे ही विचार करते हैं। जो देह मिला, जो अक्ल मिली, जो योग्यता मिली, बस यही मैं सर्वस्व हूं, ऐसा ध्यान रखनेके कारण सहजस्वरूपकी ओर मोहियों की दृष्टि ही नहीं पहुंचती है। तो प्रसंगमें यह समझना चाहिए कि आचार्य महाराजके मिथ्यात्वकर्म उपशांत हैं और अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण कषायें भी उपशांत हैं, ऐसी स्थितिमें रहने वाले महात्माजनोंके शुद्धात्माके परिचयका विनाश कैसे हो सकता है?

दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत्।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥६८८॥

दर्शनमोहके अस्तंगत होनेपर होने वाले शुद्धात्मानुभवमें चारित्रावरणोदयकी अविघ्नकरता—दर्शन मोहकर्मका जब अस्त हो जाता है तो आत्माके शुद्ध तत्त्वका अनुभव होता है। दर्शनमोहका शब्दार्थ है वस्तुके सही स्वरूपके दर्शनमें मोह उत्पन्न करना, बेहोशी करना, पर सही स्वरूपका परिज्ञान नहीं हो सकता, उल्टा ही परिचय करने लगता, ऐसा जिस कर्मके कारण होता है, ऐसा दर्शनमोहनीय कर्म जब अस्तको प्राप्त हो जाता है तो उस आत्माके शुद्ध तत्त्वका अनुभव होता है। वहाँ चारित्रमोहका उदय कुछ भी विघ्न नहीं कर सकता है। शुद्धात्मतत्त्वके अनुभवकी व्याप्ति सम्यग्दर्शनके साथ है। सम्यग्ज्ञान होनेमें मूल कारण है दर्शन मोहका अनुदय। तो जहाँ दर्शनमोहका अनुदय है वहाँ शुद्धात्मानुभव नियमसे होता है, ऐसे उस सहज शुद्ध तत्त्वके अनुभवमें चारित्रमोहनीय कर्म बाधक नहीं हो सकता है। चारित्रमोहनीयका अर्थ है कि जो चारित्रमें बेसुध रखे, अर्थात् चारित्र प्रकट न होने दे, तो इसके कारण चारित्रमें बाधा देता तो है, पर यथार्थ जो आत्माका सहजस्वरूप है उसके दर्शनमें बाधा डालना चारित्रमोहका काम है। तो आचार्य महाराजके यदि संज्वलनकषायका तीव्र उदय भी हो

जाय तो भी शेष कषायोंका उदय न रहनेके कारण शुद्धात्माके अनुभवमें बाधा नहीं हो सकती है। हाँ इतनी बात अवश्य है कि जो संज्वलनकषायका तीव्र विपाक हुआ है वह विपाक चारित्रके किसी अंशोंमें विघात उत्पन्न कर देगा। इतनी ही बात बाधाकी समझिये, किन्तु शुद्धात्माके अनुभवमें संज्वलनकषायके उदयसे बाधा नहीं आती।

न चाकिञ्चित्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः।

दृङ्मोहस्य कृते नालं अलं स्वस्यकृते न तत् ॥६८९॥

संज्वलनकषायोदयकी दर्शनमोहकृतिमें अकिञ्चित्करता—उक्त विवेचनसे प्रधानतया यह सिद्ध किया गया है कि संज्वलनकषायका उदय शुद्धात्माके अनुभवमें अकिञ्चित्कर है अर्थात् आत्मानुभवमें बाधा नहीं दे सकता है। यद्यपि यह बात ठीक है कि चारित्रमोहनीयका उदय अकिञ्चित्कर है, लेकिन सर्वथा अकिञ्चित्कर हो सो बात नहीं है। हाँ चारित्रमोहका उदय दर्शनमोहके कार्य करनेमें असमर्थ है, पर चारित्रमोहके उदयमें जो कुछ कार्य होता है उस कार्यमें तो वह समर्थ ही है। तो संज्वलनकषायका तीव्र उदय चारित्रमें कुछ अंशमें दोष उत्पन्न कर दे, यह तो बाधा हो सकती है, पर शुद्ध आत्मतत्त्वमें बाधा नहीं आ सकती है। तब शङ्काकारका यह कहना कि आचार्य महाराज जब साधुसंगको पंचाचारका आचरण कराते हैं तब उस ओर राग हो जानेसे उनके शुद्धात्माका अनुभव न होगा, यह कथन असंगत है।

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः।

नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥६९०॥

आत्मदृष्टिक्षतिकी चारित्रमोहकी अकार्यता—चारित्रमोहनीयका कार्य है आत्माको चारित्रगुणसे च्युत कर देना अर्थात् चारित्रगुणमें बाधा डाल देना, इतना ही चारित्रावरण कर्म का काम है। पर चारित्रमोहनीयका यह कार्य नहीं है कि आत्माके सम्यक्त्व गुणमें क्षति उत्पन्न कर दे, क्योंकि सम्यक्त्व गुण जुदा है, चारित्रगुण जुदा है, इसी कारण सम्यक्त्व गुण के घातक कर्म जुदे हैं और चारित्रगुणके घातक कर्म जुदे हैं। तो जैसे लोकमें देखा जाता है कि दूसरेके दर्शनमें दूसरा बाधा नहीं पहुंचाता। एक पुरुषकी निर्मल आँख है, दूसरे पुरुषकी आँखमें दोष है अथवा अंधा है तो कहीं सदोष आँख वाला पुरुष दूसरे पुरुषको दर्शन होनेमें बाधा नहीं कर सकता। इसी तरह समझना चाहिए कि सम्यग्दर्शन गुणमें चारित्रावरण कर्म बाधा नहीं पहुंचा सकता है। चारित्रावरण तो केवल चारित्रगुणका ही घात कर सकता है। इससे अतिरिक्त अन्य कुछ कार्य करनेमें समर्थ नहीं है।

यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद् वयोगतः।

इतरत्राक्षतायेपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥६९१॥

दृष्टान्तपूर्वक चारित्रावरणोदयसे आत्मानुभवमें बाधा न पहुंचनेका समर्थन—उक्त

श्लोकमें यह बताया गया है कि चारित्रावरणका उदय आत्मानुभवमें बाधा नहीं पहुंचाता है, इसी विवेचनको स्पष्ट करनेके लिए इस श्लोकमें दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे किसी पुरुषके चक्षु प्रसन्न हैं अर्थात् नेत्र निर्मल हैं और दैवयोगसे किसी दूसरे पुरुषके चक्षुमें कोई पीड़ा है, कोई रोग बना हुआ है तो कहीं उस दूसरे पुरुषके पीड़ित चक्षुओंसे निर्मल चक्षु वालेकी कोई हानि नहीं हुई। यदि किसी पुरुषकी आँख लाल हुई हो, किरकिरा गई हो, देखते न बनता हो तो कहीं उसकी आँखके खराब हो जानेसे निर्मल आँख वाले पुरुषको हानि नहीं पहुंचती है, क्योंकि उसकी आँखोंसे वही देख सकता है और दूसरा अपनी आँखोंसे देखता है। तो इसी तरह समझना चाहिए कि जब गुण दो हैं—चारित्र और सम्यक्त्व और चारित्रगुणका बाधक है, चारित्रमोहनीय सम्यक्त्व गुणका बाधक है दर्शनमोहनीय तो दर्शनमोहनीयका अनुदय होने के कारण जो सम्यक्त्वगुणमें निर्मलता आयी है सो वह बराबर रहेगी। कहीं चारित्रगुणके उदयके कारण सम्यक्त्व गुणमें बाधा न बन जायगी। चारित्रावरण चारित्रमें ही दोष लगा सकेगा। इसके अतिरिक्त ज्ञानावरणकी अन्य कुछ क्षमता नहीं है।

कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥६९२॥

— **कषायोंके अनुद्रेकमें आत्माके चारित्रच्युतिका अभाव**— इस श्लोकमें कषायोंका कार्य बताया जा रहा है। जब तक कषायका अनुदय रहता है तभी तक चारित्र है। जैसे अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम रहेगा अर्थात् अनुदय रहेगा तब तक श्रावकके व्रत, अणुव्रत आदिक एकदेश संयम बना रहेगा और जब प्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम होगा अर्थात् संयमका आवरण करने वाली प्रकृतिका अनुदय रहेगा तब तक महाव्रत आदिक भली-भांति रहते हैं। तो कषायोंके अनुदय तक चारित्रकी अतिव्यक्त है, और जब कषायोंका उदय हो जाता है, जिस पुरुषकी कषाय उपशांत थीं उसीके जब कषायोंका उदय हो जाता है तो आत्माके चारित्र गुणकी क्षति हो जाती है और जिन पुरुषोंके इन कषायोंका उदय पहिलेसे ही चल रहा है वे पुरुष चारित्रसे तो गिरे हुए ही बने हुए हैं। सारांश यह है कि चारित्रसे च्युत कर देना कषायों का काम है। जब तक कषायें नहीं रहती हैं तब तक चारित्र भली-भांति रहता है, सो आचार्य परमेष्ठीमें चारित्रावरणका अनुदय होनेसे चारित्र भी बना हुआ है और दर्शनमोहका सर्वथा अनुदय होनेसे सम्यक्त्वगुण और शुद्धात्माका अनुभव बराबर रह सकता है।

ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृङ्मोहस्योदया हते ॥६९३॥

दृङ्मोहोदयके अभावमें आत्मदृष्टिक्षतिकी अशक्यता—उक्त सर्व कथनका सारांश इस श्लोकमें बताया गया है कि कषायोंका अनुदय हो अथवा उदय हो, शुद्धात्माके अनुभवमें क्षति

पहुंचेगी तो दर्शनमोहके उदयसे ही पहुंच सकेगी। चारित्रमोहके उदयसे शुद्धात्माकी अनुभूतिमें क्षति नहीं पहुंचती है। तो पहिले जो यह बताया गया था कि आचार्य, उपाध्याय और मुनि इन तीन गुरुवोंमें अन्तरङ्ग विकासकी समानता है; और ये तीनों ही गुरु ध्यानकी विशुद्धिके प्रतापसे अष्टकर्मोंका क्षय करके मुक्तिको प्राप्त कर सकते हैं। तो ऐसी समानताकी बात सुनकर और आचार्योंकी जो विशेपता बतायी गई उसे सुनकर, जिज्ञासुने यह आशंका प्रकट की थी कि जो साधु संगको पंचाचारोंका आचरण कराते हैं, प्रायश्चित्त देते हैं, दीक्षा देते हैं तो ऐसे व्यवहार कार्यमें प्रवृत्ति करने वाले आचार्यके शुद्धात्मानुभूति कैसे रह सकती है? और तब वे साधुपरमेष्ठीके समान कैसे कहे जा सकते हैं? इस आशङ्काका उक्त विवेचनमें भली-भांति समाधान कर दिया गया है, जिसका सारांश यह है कि शुद्धात्मानुभव सम्यक्त्वके साथ है। दर्शनमोहका अनुदय होनेसे शुद्धात्मानुभव हुआ करता है। कहीं संज्वलनकषायका तीव्र विपाक हो जाय तो वह विपाक शुद्धात्माकी अनुभूतिमें रंचमात्र भी बाधक नहीं होता है। हाँ केवल संक्लेश कुछ अंशोंमें हो जाता है। इतना मात्र संज्वलनकषायके तीव्र विपाकका कार्य है।

अथ सूरिरुपाध्यायो द्वावेतौ हेतुतः समौ।
साधू साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥६९४॥
नापि कश्चिद्विशेषोऽस्ति तयोस्तरतमो मिथः।
नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥६९५॥
लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिः कृतः।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धे समत्वतः ॥६९६॥
नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात्।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥६९७॥

आचार्य, उपाध्याय व साधुवोंमें गुरुत्वकी समानताका सयुक्तिक वर्णन—आचार्य और उपाध्याय दोनों समान गुण वाले हैं। जो कारण आचार्यके हैं वे ही उपाध्यायके हैं। दोनों ही साधु पुरुष हैं, साधुकी सम्पूर्ण क्रियायें मूल गुण और उत्तर गुण सम्बंधी दोनों ही पालन करते हैं। साधुकी तरह ही ये आत्माका अनुभव करने वाले हैं और शुद्धोपयोग सहित हैं अर्थात् आचार्य, उपाध्याय दोनों साधुके समान ही मोक्षमार्गके उत्कर्षको पाये हुए हैं। इस कारण आचार्य और उपाध्यायमें परस्पर कोई तर्तमता रूपसे विशेपता नहीं पायी जाती है। गुरुत्वकी दृष्टिसे यदि कोई इनमें अन्तर छांटने लगे वह आचार्य और उपाध्यायमें बड़ा कौन है? तो वहां यह अन्तर न छाँटा जा सकेगा। इन दोनोंमें जो बात पायी जाती है वही साधुमें पायी जाती है। कोई यह छाँटना चाहे कि आचार्य और उपाध्याय तथा साधु इन तीनोंमें अतिशयशाली कौन है? तो गुरुत्वकी दृष्टिसे, मोक्षमार्गके पालनकी दृष्टिसे यहाँ भी कोई अंतर

नहीं डाल सकता। ऐसा नहीं है कि साधुमें तो कोई अन्तरङ्ग विशेष उत्कर्ष हो और वह उत्कर्ष आचार्य अथवा उपाध्यायमें न हो, किन्तु आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों ही परमेष्ठी अन्तःशुद्धिकी दृष्टिसे समान हैं। यदि कोई इन तीनोंमें लेशमात्र विशेषता है तो वह बाह्य क्रियाकी अपेक्षासे है। जो कुछ विशेषता बतायी गई है, और जिसके कारण आचार्य, उपाध्याय, साधु ये तीनों प्रकारके बताये गए हैं। वह विशेषता थोड़ीसी है, और वह भी बाह्यक्रियासम्बंधी, अंतरङ्गशुद्धिकी दृष्टिसे तीनोंमें समानता पायी जाती है, इस कारण बाह्य क्रिया का भले ही भेद हो, पर अन्तःशुद्धि तीनोंमें समान होनेसे ये तीनों ही गुरु कहलाते है। गुरुता का मूल कारण तो दोषोंका क्षय है अथवा दोष क्षयसे होने वाली अंतःशुद्धि है। सो यह अन्तःशुद्धि तीनोंमें समान रूपसे पायी जाती है। तीनोंमें ही संज्वलन कषायका मंद उदय, मध्यम उदय और तीव्र उदय सम्भव है। जैसे यंत्रोंका उदय हो वहाँ उस सीमामें परिणाम होता है, यह बात युक्ति स्वानुभव और आगमसे प्रसिद्ध है। सो वह तीव्र विपाक वाला भी संक्लेश इन तीनोंके आत्माकी शुद्धिमें अनुभूतिमें बाधा नहीं डाल पाता है। इस तरह आचार्य, उपाध्याय और साधु, तीनों ही गुरु कहलाते हैं। अमूढ़दृष्टिके प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि अदेव में देवबुद्धि करना, धर्ममें अधर्म बुद्धि करना और गुरुमें गुरुबुद्धि करना, ये सब अमूढ़दृष्टि हैं। जहाँ मूढ़दृष्टि नहीं रहती है वहाँ अमूढ़दृष्टि अंग होता है। तो इस प्रकरणमें अदेव, अधर्म और अगुरुका स्वरूप कहना भी आवश्यक था। वह तो बता दिया गया और चूंकि विधि-मार्गमें निषेध्यके कहने-कहनेकी अधिक आवश्यकता नहीं होती है। निषेध्य तो यों समझ लिया जाता है कि जो विधिमें नहीं कहा गया है वह सब निषेध्य है। यों अदेव आदिकका संक्षेपतः स्वरूप कहा और उन देव धर्मगुरुका विशेष रूपसे स्वरूप कथन चल रहा है, जिसमें देवका कथन कुछ इस प्रसगमें यह कहा गया है कि गुरु निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज ही होते है।

प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्याय साधवः।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैकैकशः पृथक् ॥६९८॥

शुद्धिकी तरतमतासे प्रत्येकमें बहुविधता—अंतःशुद्धिकी दृष्टिसे गुरुवोंको एक प्रकार का ही कहा गया है और बाह्यक्रियाकी दृष्टिसे तीन प्रकार बताये गए हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु इनमें आदेश और उपदेशके जो अधिकारी हैं वे आचार्य कहलाते हैं और प्रधानतया धर्मोपदेशके अधिकारी हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं, और सर्वक्रियाओंसे निवृत्त होकर केवल आत्मसाधनामें ही जो तत्पर रहते हैं वे साधु कहलाते हैं। अब इन तीनोंमें भी सूक्ष्मदृष्टिसे प्रकार निरखे जायें तो अनेक भेद हो जाते हैं और ये सब भेद जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भावकी अपेक्षासे हो जाते हैं। चूंकि ये भाव कर्मप्रकृतियोंके उदय, उपशम, क्षय क्षयोपशमकी अपेक्षा रखकर चल रहे हैं तो प्रकृतियाँ चूंकि नाना हैं, इस कारण भाव भी नाना प्रकारके हो जाते

हैं। इस तरह सूक्ष्मदृष्टिसे भावोंकी नाना प्रकारता ध्यानमें रखकर गुरुवोंके अनेक भेद हो जाया करते हैं।

कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः।
मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत् ॥६६९॥

आचार्यके भी जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट विशुद्धिका अवसर—उक्त श्लोकमें यह कहा गया है कि आचार्य, उपाध्याय और साधु—इन तीनोंके भी अनेक भेद हो जाते हैं और वे होते हैं जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भावोंकी अपेक्षासे। उसीका स्पष्टीकरण इस श्लोकमें किया गया है। कोई आचार्य उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त हो जाता है, फिर वही कभी मध्यम और कभी जघन्यको प्राप्त हो जाता है। संज्वलनकषायका तीव्र, मध्यम, मंद उदय होनेसे आचार्य महाराजके विशुद्धिका यह अन्तर आ जाया करता है, लेकिन यहाँ पहिले ही बता दिया गया है कि संज्वलनकषायके विपाकके अन्तरसे जो संक्लेश विशुद्धिका अन्तर हो जाता है उससे कहीं शुद्ध आत्माकी अनुभूतिमें बाधा नहीं आती। धन्य है ऐसे ये गुरुराज कि जो शुद्ध आत्माकी लगनमें निरन्तर बने रहा करते हैं। तो यों आचार्य महाराज संज्वलनकषायके विपाक भेदके कारण विशुद्धिकी मध्यम, उत्कृष्ट और जघन्य दशामें आ जाया करते हैं। यों आचार्य भी अन्य भावोंकी सूक्ष्मदृष्टिसे अनेक प्रकारके होते हैं।

हेतुस्तत्रोदिता नाना भावांशैः स्पर्धकाः क्षणम्।
धर्मादेशोपदेशादिहेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥७००॥

आचार्यपरमेष्ठीकी विशुद्धि बहुविधतामें संज्वलनस्पर्द्धकोंकी कारणता तथा धर्मादेशोपदेशादिकी अकारणता—उक्त श्लोकमें यह बताया गया है कि आचार्य महाराजके भी भावोंकी विशुद्धिकी तर्तमताके कारण अनेक भेद हो जाते हैं, सो इस भेदका कारण क्या है? यह बात इस श्लोकमें बतायी जा रही है। उक्त श्लोकमें जो विशुद्धि बतायी गई है कि कभी उत्कृष्ट रूपसे, कभी मध्यम रूपसे और कभी जघन्य रूपसे हो जाती है। सो इस कारण हो जाती है कि वहाँ अनेक प्रकारके भावोंमें तर्तमताके कारणभूत कषायके स्पर्धक प्रतिक्षण उदित होते रहते हैं, सो इस तरह उनमे विशुद्धिकी तर्तमता तो आ गयी, लेकिन इस विशुद्धिके तारतम्यमें बाह्यक्रियावोंको कारण नहीं कहा जा सकता। जैसे वे आचार्य महाराज धर्मका उपदेश करते हैं, धर्मका आदेश देते हैं तो ये बाह्य कारण विशुद्धिकी तर्तमताके कारण नहीं हुआ करते हैं। आचार्यपरमेष्ठी जो धर्मका आदेश, उपदेश करते हैं वह उनकी विशुद्धिमें हीनताका कारण नहीं है, क्योंकि धार्मिक आदेश, उपदेश करनेपर भी आचार्य महाराजमें प्रमाद लेशमात्र नहीं है। विशुद्धिमें जो हीनता होती है उसके कारण संज्वलनकषायके स्पर्धकोंका उदय है। इस श्लोकमें यह सिद्ध किया गया है कि जैसे लोग समझ लेते हैं कि मुनि महाराजोंका शासन

करते है आचार्य, इस कारण आचार्यके चारित्रमें शिथिलता आ जाती होगी····तो उनका यह समझना केवल भ्रमपूर्ण है। आचार्यका शासन कषायसहित नही होता, किन्तु उनका धार्मिक शासन है, निष्कपाय है, धर्म और धर्मात्माके अनुरागसे वह शासन हुआ करता है। इस कारण आचार्यका यह धार्मिक शासन दोषका भी उत्पादक नहीं हो सकता है। हाँ जो आचार्य महाराजमें विशुद्धिकी मध्यमता, और जघन्यता आयी है, सो इस तरहकी मध्यमता, जघन्यता साधु में भी, उपाध्यायमें भी आया करती है और वह आती है संज्वलनकषायकी तीव्रता आदिकके कारण ।

परिपाटयानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये ।
न विशेपो यतस्तेषां न्यायाच्छेपोऽविशेपभाक् ॥७०१॥

उपाध्याय व साधुवोंमें भी विशुद्धितारतम्यसे भेद होनेपर भी गुरुत्वकी अपेक्षा तीनों में अविशेषता—जैसे कि उक्त श्लोकोंमें आचार्य महाराजमें विशुद्धिके भेद बताये गए हैं, इसी परिपाटीके अनुसार उपाध्याय और साधुवोंके भी भेद समझ लेना चाहिए। जैसे साधु महाराज सब एक ही प्रकारके है वे आदेश उपदेशके श्रमसे दूर रहकर केवल एक आत्माकी आराधनामें ही संलग्न रहा करते है तिसपर भी चूंकि संज्वलनकपायके विपाक इतने भी आया करते हैं, इस कारण उनके भी इसी प्रकार विशुद्धिके भेद होते है। तो आचार्यकी जो अन्तः विधि है उस ही प्रकार उपाध्याय और साधुवोंको विधिमें आचार्य महाराजसे कोई विशेषता उपाध्याय और साधुवोंमें नही रह जाती है, इस कारणसे आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों ही गुरुराज समान गुरु है, ऐसी इन गुरुवोमें गुरुत्वबुद्धि रखना सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग कहलाता है।

नोह्यं धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं वहिः ।
हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्वहिः क्वचित् ॥७०२॥

आचार्यपरमेष्ठीके जघन्य मध्यमादि विशुद्धिमें धर्मादेशादि बाह्यक्रियाओंकी अकारणता—इस श्लोकमें बाह्य कारणोंपर विचार किया जा रहा है कि आचार्य महाराजमें जो बाह्यक्रियायें होती है वे कैसी और किस प्रकार होती हैं ? इस बातको थोड़ी जिज्ञासा रखकर उसके समाधानपूर्वक कहा जायगा। यहाँ कोई यदि ऐसा कहे कि आचार्यकी विशेषतायें बाह्यक्रियायें याने धर्मका उपदेश चैतन्यधर्मका आदेश जो किया जाता है वह बाह्यक्रिया कारण है, क्योंकि कहीपर बाह्यक्रियावोंमें भी अन्तरङ्ग भावोंका कारण तो होता ही है। इस कारण आचार्य महाराजमें जो मध्यम, जघन्य विशुद्धि आती है उसका कारण ये बाह्यक्रियायें होनी चाहिये अर्थात् कर्मोदयरूप अन्तरङ्ग कारणमें धर्मोपदेश आदिक क्रियावोंको कारण मानना चाहिए। करणानुयोगकी भी पद्धति यही है कि कर्मविपाकके लिए बाह्यपदार्थ नोकर्म हुआ

करते हैं। तो इस तरहका जो ऊपर निर्देश किया गया है कि आचार्य महाराजमें जो विशुद्धि भेद होता है वह बाह्यक्रियावोंके कारण नहीं होता, किन्तु संज्वलनकषायके उदयके कारण होता है, सो बात यद्यपि यह ठीक है, लेकिन संज्वलनकषायके तीव्र उदय होनेके लिए बाह्य-क्रियायें नोकर्म बन जाया करती हैं, इस कारण बाह्यक्रियावोंके भेदसे आचार्य महाराजमें भेद होता है, इस प्रकारकी एक तर्कणा शंकाकारकी ओरसे हुई। अब उसका समाधान करते हैं कि ऐसी तर्कणा करना संगत नहीं है, इसका कारण बताते हैं।

नैवमर्थाद्यत: सर्वं वस्त्वकिञ्चित्करं वहि: ।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽर्थान्तरं परम् ॥७०३॥

लोकफलकी वाञ्छाका अभाव होनेसे बाह्यक्रियाओंसे विशुद्धिमें बाधाका अभाव—उक्त श्लोकमें जो तर्कणा उठायी गई है वह ठीक नहीं है, क्योंकि बाहरी जितने भी पदार्थ हैं वे सब अकिञ्चित्कर हैं। नीति भी वस्तुस्वरूपकी यही है कि बाह्य पदार्थ किसी अन्यकी परिणतिका कारण नहीं हुआ करता। तो इस प्रकार आचार्य महाराजकी जो बाह्य क्रियायें हैं सो कहीं उन क्रियावोंके कारण विशुद्धिभेद नहीं हो जाता। हाँ, यदि कोई मोहके वश होकर आचार्य आदिक पदोंको चाहे तो उसका बाह्य पद चूंकि वाञ्छा सहित है तो उसका फल भी होगा। फल अर्थात् संसारवृद्धि या सांसारिक बंध, सांसारिक परिणाम उसका फल होगा। इस श्लोकमें यह बात बतायी गई कि आचार्य महाराज निरीह हैं, उनमें किसी प्रकार की इच्छा नहीं है, इस कारण उनकी बाह्य क्रियायें फलवान नहीं होतीं। सामान्य नियम भी यही है कि जो कुछ चाहते हुए क्रियायें करेगा सो बंध पायेगा और जो कुछ भी नहीं चाह रहा है, फिर भी उसकी क्रियायें होती हैं उसको बन्ध नहीं होता। आचार्य महाराज संसार, शरीर-भोगोंसे इतना अधिक विरक्त हैं और आत्महितकी साधनाके लिए अत्यन्त सावधान हैं, इस कारण आचार्य महाराजकी बाह्य क्रियायें कदाचित् होनेपर भी कर्मबन्ध नहीं होता। आचार्य महाराज कैसे निरीह हैं, उनकी निरीहताका अब कुछ कथन करते हैं।

किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोनिच्छतो वहि: ।
धर्मादिशोपदेशादि स्वपदं तत्फलं च यत् ॥७०४॥

बाह्यक्रियाओंको करके भी उनकी अनिच्छाकी आचार्यमें विशेषता—धर्मका आदेश, धर्मका उपदेश और अपने पद तथा उसका फल आदिक सम्पूर्ण बाह्यको आचार्य महाराज सर्वथा नहीं चाहते हैं। सो आचार्यकी यह बात एक अलग है कि इतनी क्रियायें करके भी वे उन क्रियावोंके सम्बन्धमें कुछ भी चाह नहीं रख रहे हैं। धर्मादेश आदिक क्रियायें आचार्य करते तो हैं, पर चाहपूर्वक नहीं करते हैं। यदि चाहपूर्वक कर लें, मेरेमें आचार्यपना रहे, मैं इनका आचार्य हूं, मुझे प्रतिक्रमण आदिक कराना चाहिए, आदिक बातें सोचकर यदि क्रियायें

करते हैं तो उनमें गुरुता भी नहीं रही, आचार्यपनेकी तो बात ही क्या कही जाय ? लेकिन धन्य है इनकी अन्तरङ्ग पवित्रता कि आत्माकी आराधनामें सावधान रहते हुए भी रत्नत्रयकी भक्तिसे ये साधुसंगका धार्मिक पोषण किया करते हैं। तो धार्मिक विधिसे जो दीक्षा प्रायश्चित आदिक प्रदान करते हैं, इस कारण भी ये बाह्य वृत्तियाँ, ये बाह्य कारण उनकी विशुद्धिके घातक नहीं हो सकते हैं। यहाँ एक आशङ्का उठ सकती है कि जब आचार्यमहाराज मुनियों पर पूर्ण रीतिसे धर्मका आदेश आदिकका शासन करते हैं तो कैसे कहा जा सकता है कि उनके इस शासनकी इच्छा नहीं है ? बिना इच्छाके तो कोई शासन कर ही नहीं सकता है ? अब इस आशङ्काका उत्तर देते हैं—

नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादिशादि कर्मणि।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥७०५॥

आचार्यकी बाह्यक्रियाओंमें निरीहता—आचार्य महाराज धर्मका आदेश, उपदेश आदिक क्रियाये करते हैं तिसपर भी वे आचार्य इच्छारहित हैं, यह बात असिद्ध नहीं है। इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें इच्छा की जाय, वास्तवमें इच्छा उसीका ही काम है, किन्तु जहाँ धार्मिक क्रियावोंमें इच्छा की जाती है उसे इच्छा कहते है। साधु परमेष्ठी, आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठी तीनों ही गुरुवोंके मूल गुणमें बताया गया है कि इन्द्रियके विषयोंका इनके विरोध हो जाता है। जिसने संसारकी परिस्थितिका भली प्रकार परिचय किया है कि विषय कषायोंके परिणाम ही तो संसार हैं और ये ही परिणाम जन्म-मरणके मूल कारण हैं। संसार में महती विपत्ति जन्म-मरणकी बनी हुई है, जन्म-मरण करते हुए यह जीव महान कष्ट भोग रहा है। इसकी अधमतां बन रही है। तो जिसने आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपका दर्शन अनुभव किया है और इस सहजस्वरूपके अनुभवमें जो अनुपम आत्मीय आनन्द प्राप्त किया है, ऐसे आनन्दमें तृप्त रहने वाले आचार्य महाराज क्या किसी इन्द्रियविषयमें इच्छा कर सकेंगे ? उनको पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें कोई इच्छा नही है, साथ ही मनके विषयकी भी कुछ इच्छा नहीं है। मनका विषय है कीर्तिचाह, पूजालाभ आदिक चाहना, लौकिक बड़प्पन चाहना। सो भला जिसने यह अनुभव किया है कि मैं तो वह ज्ञानस्वरूप हूं, जिसका लोगोंको परिचय नहीं है। यह समस्त लोक इस मुझ आत्मारामको जानता नहीं है। तब फिर इन अनादि अपरिचित लोगोंसे वे अपने बड़प्पनकी क्या चाह कर सकेंगे ? तो आचार्य महाराजके न तो इन्द्रियसम्बन्धी विषयोंकी वाञ्छा है और न मानसिक विषयोंकी इच्छा है। ऐसे सर्व प्रकारके विषयोंकी इच्छासे रहित आचार्य महाराजमें कोई धार्मिक क्रियायें हो रही हों तो इन धार्मिक बाह्यक्रियावोंके कारण उनके बन्ध नहीं होना और न उनके शुद्धात्माकी अनुभूतिमें अन्तर आ सकता है। विशुद्धिमें जो भेद आया है उस संज्वलनकषायके विपाकभेदसे भेद आया है।

वस्तुतः तो तीनों ही गुरु अन्तः सावधान हैं और एक समान गुरु हैं एवं पूज्य हैं।

ननु नेहा विना कर्म कर्म नेहां विना क्वचित्।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥७०६॥

इच्छाके बिना क्रिया व क्रियाके बिना इच्छा न हो सकनेकी एक आशङ्का—प्रकरण यह चल रहा है कि आचार्य महाराज सैकड़ों हजारों मुनियोंको दीक्षा देते हैं, प्रायश्चित देते हैं, इनके पंचाचारका पालन भी कराते हैं, इतनी धार्मिक क्रियायें करनेके बाद भी आचार्य महाराजके कर्मबन्ध नहीं होता और न उनके आत्मामें कुछ भी अन्तर आता है। तो इसका कारण बताया है कि आचार्य परमेष्ठीको भीतरमें किसी भी प्रकारके विषयकी इच्छा नहीं है। तो विषयोंकी इच्छा न होनेसे धार्मिक कार्य करा रहे हैं, फिर भी उनके परिणामोंमें संक्लेश नहीं होता। इसपर शङ्काकार यह कह रहा है कि लोकमें यहाँ देखा जा रहा है कि बिना काम किए इच्छा नहीं होती और बिना इच्छा किए काम नहीं होता। इच्छा और क्रियाका करना जब इनमें अविनाभाव देखा जा रहा है तो आचार्यमें यह कैसे हो जायगा कि उनके इच्छा तो नहीं है, पर वे आदेश उपदेश धार्मिक क्रियावोंका पालन आदिक करायें, यह कैसे सम्भव है ? तो शंकाकारका यह कहना है कि चाहे संसारके विषयोंकी क्रिया हो, चाहे धर्मके सम्बन्धकी क्रिया हो, कैसी ही क्रिया हो, इच्छाके बिना तो क्रिया सम्भव है नहीं। तो जब आचार्य साधुवोंको प्रायश्चित आदिक देते हैं तो उनके इच्छा कैसे न होगी ? इस कारण यह मान लेना चाहिए कि आचार्यके धर्म सम्बधी क्रियायें भी इच्छापूर्वक ही होती हैं तो आचार्य इच्छासहित हो गए, फिर तो उनकी विशुद्धिमें अन्तर आ जाना चाहिए ? अब इस शंकाका उत्तर देते हैं—

नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादक्षीणमोहिषु।
बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसंभवः ॥७०७॥

इच्छाके बिना भी क्रिया हो सकनेका विवरण देते हुए उक्त शंकाका समाधान—शंकाकारकी उक्त शङ्कायें संगत नहीं हैं कि देखो साधु साधना करते-करते १२वें गुणस्थान तक पहुंच जाते हैं तो १२वें गुणस्थानमें भी मन, वचन, कायकी क्रियायें बतायी गई है, तो वहाँ भी विशुद्धिमें क्या अन्तर है ? नहीं है अथवा देखो—भगवान अरहंत विहार भी करते हैं, दिव्यध्वनि भी उनके खिरती है, बैठते भी हैं, खड़े भी होते हैं, चलते हैं और पैरके आगे पैर रखकर चला करते हैं, चलते हैं अरहंत भगवान आकाशमें ही, लेकिन चलनेकी पद्धति उनकी वैसी ही है जैसी कि हम आप लोगोंकी है। तो विहार करना, दिव्यध्वनि खिरना आदिक ये सब क्रियायें हो रही हैं तो इच्छाके बिना ही तो ये सब क्रियायें हो रही हैं। भगवानके इच्छा नहीं हैं, वे रागादिकसे सर्वथा रहित हैं। तो देखो—कुछ क्रियायें ऐसी भी होती

हैं कि इच्छा नहीं हैं और हुआ करती हैं। योगियोंमें तो बहुत सम्भव है ऐसी बात कि मन, वचन, कायकी चेष्टा हो और इच्छा न हो। यहाँ भी लौकिक जनोंमें देखा जाता है कभी-कभी कि इच्छा नहीं है और करना पड़ रहा है। जैसे पिताके हुक्मसे बालकको अनेक काम करने पड़ते हैं, इच्छा नहीं है और करने पड़ते हैं। कैदियोंको इच्छा नही है कोई काम करनेकी, मगर करना पड़ता है। तो लोकमें भी देखा जाता है, वहाँ तो किसी अन्य किस्मकी इच्छा कह सकते हैं, पर योगियोंमें बिना इच्छाके ही चेष्टायें हुआ करती हैं। यदि यह नियम बना दिया जाय कि जो भी क्रिया होगी वह बंध कहलायेगी तो फिर इस जीवकी कभी मुक्ति हो ही नहीं सकतीं, क्योंकि श्रेणीमें बहुत ऊपर जाकर भी क्रियायें बराबर रहती हैं, और क्रियायें रहेंगी तब तक बंध कह रहे हो तो फिर बन्धसे छुटकारा कब होगा? कभी न होगा। इस कारण यह मान लेना चाहिए कि क्रियायें इच्छाके सद्भावमें भी होती हैं और इच्छाके न रहने पर भी होती हैं। ऐसा नियम न बनायें कि इच्छाके बिना क्रियायें हो ही नहीं सकतीं। १०वें गुणस्थानके अन्तमें १२वें गुणस्थानमें भी क्रियायें तो हैं, पर इच्छा नहीं है, क्योंकि इच्छा लोभकषायकी पर्याय है, और १०वें गुणस्थानके अंतमें लोभ रहता नहीं। तो जब किसी प्रकार की कषाय न रही और इच्छा बराबर चल रही है तो यह तो मान लेना चाहिए कि इच्छाके बिना भी क्रिया होती है, तब उस क्रियासे बन्ध न मानें। बन्ध हुआ करता है कषायसे। जिस जीवके कषाय नही है उसके क्रिया हो तो भी बन्ध नहीं होता। मुनि महाराजके, आचार्य महाराजके अनेक क्रियायें होती हैं, पर उन क्रियावोंसे उनके संक्लेश नहीं होता और न बन्ध होता है। तो आचार्य महाराज अनेक धार्मिक क्रियायें करते हैं तिसपर भी आचार्य का अन्तरङ्ग उतना ही शुद्ध है जितना कि अन्य साधुजनोंका शुद्ध है।

ततोस्त्यन्तः कृतो भेदः शुद्धैर्नानांशतस्त्रिषु।
निर्विशेषात्समस्त्वेष पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥७०८॥

ज्ञानविशुद्धिकी शरण्यता—उक्त कथनका सारांश यह है कि संसारमें इस जीवका शरण है तो अपने ज्ञानकी शुद्धता शरण है। यह जीव मोहमें नाना विकल्प करता है, मेरेको वैभव शरण होगा, घर मकान अच्छा होगा तो मेरा हित है अथवा परिजन हमारे आज्ञाकारी हैं तो उससे हमारा हित और कुछ हो सकता है....ये सब विकल्प मोहियोंके उठते हैं। वस्तुतः इस आत्माको तो यह शरीर भी शरण नहीं है, और शरीरके शरणकी बात क्या कहें—यह बात सत्य समझें कि हमारे जितने क्लेश हैं, जितनी गंदगी आती है, जितना हमारा पतन है, संसारमें जन्ममरण है, सारी विडम्बनायें इस शरीरके ही कारण हैं। कल्पना करो कि यह शरीर न हो, केवल मैं आत्मा ही आत्मा होऊँ तो उसमें कोई आपत्ति आ सकेगी क्या? ऐसे तो सिद्ध भगवान कहलाते हैं। जिनके शरीर नहीं, कर्म नहीं वे सिद्ध भगवान हैं, वे अनन्त

आनन्दमें निरन्तर तृप्त रहा करते है। उनमें कोई विडम्बना नहीं, कोई विकार नहीं। तो जितने भी क्लेश है, जितनी विडम्बनायें हैं वे सब इस दुष्ट शरीरके कारण हैं। अपने आपके शरीरको लक्ष्यमें लेकर कहा गया—यह शरीर जो महा अपवित्र है, मल-मूत्र, खून, हड्डी, मांस-मज्जा आदिक महा गंदी चीजोंसे भरा हुआ है, जिसकी रक्षा करनेपर भी रक्षा नहीं होती है, जिसमें रागादिक आयें तो बड़ा कष्ट होता है। जिस शरीरके रहनेके कारण यह मान लिया जाता है कि यह मेरा इष्ट है, यह मेरा अनिष्ट है, यह मित्र है, यह विरोधी है····, तो ये सारे नटखट इस शरीरके ही कारण हो रहे हैं, ऐसे इस शरीरमें रंचमात्र भी प्रीति न करें, फिर भी इस शरीरको थोड़ा खिलाना-पिलाना चाहिए, थोड़ा स्वस्थ भी रखना चाहिए, क्योंकि जैसे किसी भी कर्मचारीको खिलाये-पिलाये बिना वह काम तो नहीं कर सकता, इसी प्रकार यह शरीर कर्मचारी बन रहा है, इससे हमें संयमकी साधनामें मदद लेनी है। यद्यपि संयम कहलाता है ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानका मग्न करना और उसमें यह शरीर सहायता नहीं करता, लेकिन इस मनुष्यभवमें ही संयमकी साधना बनाना है तो इस भव (शरीर) की थोड़ी रक्षा करना है।····किसलिए ?····धर्मसाधनाके लिए। अपना एक निर्णय रखें कि मेरा यह जीवन तो सिर्फ धर्मपालनके लिए है अन्य कामोंके लिए मेरा यह जीवन नहीं है। सोच लो—अन्य काम आप क्या चाहते हैं, जिसके लिए आप अपना जीवन लगाये दे रहे हैं ? मान लो लाखोंका धन जोड़कर रख गए तो उससे लाभ क्या मिल जायगा ? आखिर यहाँसे मरण करके तो जाना ही होगा। सारा ठाठ यहींका यहीं पड़ा रह जायगा। मान लो आपने अपने बच्चोंको सुशिक्षित बना दिया, किसी उच्च पदपर पहुंचा दिया तो उससे आपके जीवको क्या मिल गया ? दुनियामें कोई बाहरी बात इस जीवके लिए शरण नहीं है। शरण है तो यही है कि आप अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको परख लें। यहाँ मेरा स्वरूप क्या है ? शरीर मेरा स्वरूप नहीं, विकल्प विचार रागद्वेष आदिक मेरे स्वरूप नही, किन्तु एक सहज ज्ञानप्रकाश केवल जाननमात्र यह ज्ञानस्वरूप यही मेरा स्वरूप है, उसको ज्ञानमें लें और बाहरी विकल्प दूर करें, यों ज्ञानमें ज्ञानको लेनेसे जो अलौकिक आनन्द आयगा, बस वही सार चीज है।

गुरुवोंमें अन्तर्दृष्टिकी समानता—जगतमें ज्ञातृत्व स्थितिके अतिरिक्त अन्य कुछ सार चीज नहीं है, ऐसा जिसने निर्णय किया है वह संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त हो गया है, निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो गया है, ऐसे ये महापुरुष आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये तीन प्रकारके पाये जाते है—सो ये तीन प्रकारके गुरु हैं। इन गुरुवोंमें कभी-कभी विशुद्धिमें जो कुछ अंतर आ जाता है सो भीतरके भावके कारण आता है, बाहरी क्रियावोंके कारण नहीं आता है। आचार्यमहाराज मुनिसंघसे धार्मिक क्रियायें कराते हैं, इससे उनके आत्मामें फर्क नहीं आता। हाँ संज्वलनकषायका तीव्र उदय हो तो थोड़ा विशुद्धिमें अन्तर आयगा, तो वह भीतरकी

योग्यतासे अंतर है, न कि बाहरी क्रिया करनेका। अंतःदृष्टिसे निरखें तो तीनों प्रकारके गुरुवों में समान गुरुपना है, उनमें बाह्य क्रियायें होती हैं, इस कारणसे भेद मत समझें। भेद उनमें यदि है तो उनके ही कारण उनमें भेद है, पर हम लोगोंके लिए तो वे तीनों ही एक समान गुरु हैं।

किञ्चास्ति यौगिकी रूढ़िः प्रसिद्धा परमागमे।
बिना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरञ्जसा ॥७०९॥
तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥७१०॥

साधुताके बिना केवलोत्पत्तिकी असम्भवता—अब शब्दमें अर्थ करनेकी पद्धति दो तरहसे होती है—(१) यौगिकी, (२) रूढ़ि। रूढ़िके मायने तो हैं कि जो रूढ़िमें चला आया है वह समझ लेना, और यौगिकी पद्धतिका अर्थ यह है कि शब्दमें जो अर्थ बसा हुआ है वही अर्थ होना। जैसे मनुष्य किसे कहते हैं? तो रूढ़िसे जिसके दो हाथ-पैर हैं, पैरोंसे चलते हैं, पूंछ, सींग आदि नहीं हैं, ऐसे जो प्राणी हैं वे मनुष्य कहलाते हैं। यह रूढ़िका मनुष्य है, और यौगिकी पद्धतिसे मनुष्य कौन है? जिसका मन श्रेष्ठ है, श्रेष्ठ मन होनेसे मनुष्य नाम पड़ा है। तो यौगिकी पद्धतिसे जो विवेकी हैं, श्रेष्ठ मन वाले हैं, दयामें तत्पर हैं, धर्ममें चित्त बसाये रहते हैं वे मनुष्य कहलाते हैं। तो आचार्य शब्दका भी अर्थ रूढ़िसे तो यह है कि जो साधुवोंका नायक है और यौगिकी पद्धतिसे अर्थ यह है कि जो स्वयं ५ आचारोंका आचरण करे और दूसरे मुनियोंसे कराये वह आचार्य है। तो यौगिकी रीति और रूढ़िसे यह बात आगममें प्रसिद्ध है कि बिना साधुपद प्राप्त किए केवलज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। यौविकी पद्धतिसे उपाध्याय वह कहलाता है जो बड़े शास्त्रोंका अध्ययन किए हुये हो और दूसरे शिष्योंसे अध्ययन कराये, और साधु शब्दका अर्थ है कि जो आत्महितकी साधना करे, और यौविकी पद्धतिसे आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों ही आत्माकी साधनामें लगे हैं। तो यहाँ बात बताई गई है कि साधु हुए बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता। आजकलके समय में यद्यपि केवलज्ञान नहीं होता है, ७वें गुणस्थानसे ऊपर गुणस्थान नहीं हो सकता। तो किसी भी मनुष्यको केवलज्ञान नहीं हो सकता, फिर भी निर्ग्रन्थ दिगम्बर पदमें आनेसे जो सिलसिला चलता है वह तो हितकारी है। इस कारण जितना अधिक लाभ हो सकता है आत्मा की शांतिका वह निर्ग्रन्थ दिगम्बर पदमें भी हो सकता है। तो साधुपद प्राप्त किए बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता। यह बात आगममें भली प्रकार बतायी है, और आगममें यह भी बताया है कि श्रेणीमें चढ़ने वाले साधु पुरुषको क्षणमात्रमें केवलज्ञान पदकी प्राप्ति होती है। तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि साधु अवस्था ही गुरुकी अवस्था हो सकती है। गुरु दो प्रकारके होते

हैं–(१) धर्मगुरु और (२) शिक्षागुरु । अथवा लौकिक गुरु और अलौकिक गुरु । धर्मगुरु अलौकिक गुरु होते है । आत्माका धर्म, शान्ति, मोक्ष चाहिए हो तो किस गुरुकी खोज करना चाहिए ? जो मोक्षमार्गमें चल रहे है, ऐसे गुरु ढूंढ़ना चाहिए । वे गुरु आचार्य, उपाध्याय और साधु ही हो सकते है । यहाँ जो लौकिक गुरु अथवा शिक्षागुरु हैं, ये जो लौकिक विद्यायें हिन्दी, अंग्रेजी आदि पढ़ा देते हैं वे भी व्यवहारमें गुरु कहलाते हैं । तो धर्ममार्गमें गुरु साधु ही हो सकते हैं ।

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि ।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥७११॥

गुरुवोंका ध्यानाग्रणी होनेका यत्न—आत्माका भला ध्यानसे है । ध्यान भी किसका करे ? आत्माका । बाहरमें जब कहीं कुछ भी मेरा नहीं है, खूब तर्कणापूर्वक विचार कर लीजिए, इतनी उम्र हम आपकी हो चुकी, लेकिन बताइये आज तक जो भी साधन पाये उनसे आत्माको लाभ क्या मिला ? क्या-क्या काम नहीं कर डाला ? कितने-कितने आपके साधन बनाये, कितने ही समागम बनाये, अथवा आज भी जो कुछ विभूतियाँ हैं, इन सबके जोड़नेसे इस आत्माको लाभ क्या मिला ? अशान्ति, अधीरता आदिक तो वही है । क्या करना चाहिए उसका निर्णय भी नहीं हो सका है । तो यह आत्मा तो रीता ही पड़ा हुआ है । इतनी उम्र होनेके बाद भी आत्मामें भरापना नजर नहीं आ रहा । भरापना उसे कहते हैं कि जिसे तृप्ति कहते हैं । तृप्ति तो है नहीं, तब आज तकके मिले हुए समागमोंसे लाभ क्या मिला ? सारे समागम इस जीवके लिए अहितकारो हैं, इस आत्माका भला तो आत्माका जो शुद्ध सहजस्वरूप है वह ज्ञानमें रहे, उससे ही भला है । तो ध्यान करना चाहिए आत्माका, और आत्माका भी ऐसा ऊँचा ध्यान होना चाहिए कि जहाँ केवल ज्ञानप्रकाश ही ज्ञानमें रहे, कोई विकल्प न आये । ऐसा उत्कृष्ट ध्यान कहां होगा ? मुनियोंकी श्रेणीके ऊपरके गुणस्थानोंमें होगा । तो श्रेणी चढ़नेके समयमें आचार्य, उपाध्याय अथवा साधु महाराजके सर्वप्रकारके विकल्पोंका निरोध हो जाता, ऐसा ऊँचा ध्यान होता है । तो ऐसा उत्कृष्ट ध्यान होगा तब ही केवलज्ञान बनेगा । आजकल यद्यपि इतना ऊँचा ध्यान नहीं है, फिर भी आत्माका ध्यान जितना बन सके उतना कीजिए । देखिये—यह काम बहुत ऊँचा है, और यह काम केवल एक घंटेमें न हो जायगा अथवा कुछ वर्षमें न हो जायगा, जीवनभर यह कार्य करना होगा । तो करने योग्य कार्य भी यही है—आत्मध्यान करना । बाहरी बातोसे अपनी उन्नति-अवनति न समझिये । अगर धन घट गया तो उससे इस आत्माकी कोई अवनति न मानें । मान लो धन कुछ कम हो गया, तो कम हो जानेसे हुआ क्या ? किसी दिन तो साराका सारा ही धन छोड़कर जाना होगा, अथवा धन अधिक बढ़ गया है तो उससे अपना लाभ न समझें कि मेरेको कुछ मिला है,

अरे कुछ भी नहीं मिला है, सब छोड़कर जाना है। तो बाह्य वैभवका लाभ हो जाय तो क्या कमी हो जाय तो क्या, दोनों बराबर चीजें हैं ? मेरे आत्माको अगर सही रास्ता न मिले, यह जैनशासनका ज्ञान न मिले तो मेरी हानि है। और जितना धर्मका सुयोग मिल रहा वह तो मेरा लाभ है तो ऐसा निर्णय रख करके हमें आत्माके ज्ञानके लिए सारी जिन्दगी जुटानी है। थोड़ा समय नहीं लगाना है, बहुत समय लगाना है, और उसका सीधा उपाय है कि स्वाध्यायमें अधिक समय लगायें। देखिये—पौरुष किए बिना काम न बनेगा। तो इस जीवनमें दो-चार घंटे जो भी समय मिले उस समयका सदुपयोग स्वाध्यायमें करें तो इस पौरुषके फलमें आप पायेंगे कि हाँ हमने कुछ पाया। अब मनुष्य हुए, जैन कुलमें आये तो हमने कुछ प्राप्त किया, अन्यथा कुछ नहीं पाया। तो हर स्थितिमें चाहे गृहस्थ हों, चाहे साधु हों, आत्मस्वरूपका ध्यान ही वास्तवमें शरण है। तो ऐसे निर्णय वाला पुरुष जब साधुपदमें बढ़ता है तो श्रेणीमें यह महापुरुष समस्त विकल्पोंको त्यागकर आत्माका ही ध्यान किया करता है।

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोस्ति यत्र तत् ॥७१२॥

अन्तर्दृष्टिके कारण गुरुवोंकी गुरुताकी अनायास सिद्धि—उक्त विवेचनसे यह सिद्ध किया गया है कि आचार्य, उपाध्याय और साधुको जो गुरुपना प्राप्त हुआ है वह अनायास ही हुआ है। देखो गुरुका अर्थ है बड़ा होना। बड़ा किस तरह कोई हो सकता है कि गुण तो बढ़ें और दोष घटें, तब ही बड़प्पन होगा। यदि किसीके दोष बढ़ रहे हैं और गुण घट रहे हैं तो वह बड़ा नहीं हो सकता है। बड़ा होनेकी यह ही तरकीब है। इस लोकमें भी बड़ा पुरुष वह माना जाता है जो रागद्वेष पक्षपात नहीं करता, उदारता, विवेक रखता है, और प्रजा लोग भी उसका बड़ा आदर करते हैं कि यह पुरुष घरमें रहता हुआ भी संत है, यह किसीका पक्षपात भी नहीं करता, इसके रागद्वेष नहीं है। लोग उससे न्याय कराते हैं, उसपर विश्वास रखते हैं। तो बड़ापन अथवा वास्तवमें वैभवके कारण नहीं बनता, किन्तु रागद्वेष न रहें और ज्ञान विवेक बढ़े उससे बड़ापन होता है। आत्माको ऐसा बड़ा होना चाहिए कि जैसा बड़ा होनेके बाद फिर छोटा न होना पड़े। अब लोकमें देखिये—मान लो कोई दुनियावी इज्जतमें बढ़ गया अथवा धन वैभवमें बढ़ गया या नेतागिरीमें बढ़ गया तो क्या उसका यह नियम है कि अब यह घटेगा नहीं ? अरे इसी भवमें घट सकता है। और मरण होनेपर तो घट ही जायगा। न जाने किस गतिमें जाना होगा ? तो यह कोई बड़प्पन नहीं है, और आत्मा में दोष न रहे, गुणोंका विकास हो तो यह बड़प्पन कहलायेगा, क्योंकि इस तरहकी महत्ता पानेके बाद यह जीव मरकर भी जन्म लेगा तो अच्छी गतियोंमें जन्म लेगा। तो सब लोग

बड़ा बनना चाहते हैं। बड़ा बनें तो इस तरह बड़ा बनें कि जिसके बाद फिर छोटे न हों। यह निमित्तनैमित्तिक भाव अटल है। हम कषायें रखते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक करते हैं तो उसके फलमें नियमसे दुर्गति होगी। हम कषायोंसे अलग होते हैं तो हमारी गति उत्तम होगी, ऐसा अटल नियम है। हमें बड़ा बनना है तो इस पद्धतिसे बड़ा बनना चाहिए कि हमें फिर उससे छोटा न बनना पड़े। पुराणोंमें सुना जाता है कि कुत्तासे मरकर देव बन जाता है और देव मरकर एकेन्द्रिय होता है, पेड़ आदिक बनना पड़ता है। तो यह फर्क किस बातका आया ? जिसका जैसा भाव है उसका वैसा सुधार और बिगाड़ होता है। तो हमें दो बातोंकी कोशिश करनी है—एक तो किसी भी बाहरी पदार्थमें मोह न जगे, ये मेरे हैं, इनके बिना मेरा काम नहीं बन सकता, इनसे ही मेरा बड़प्पन है—इस भावको दूर कर दें, मेरा ज्ञान ही मेरे ज्ञानमें रहे और कषायें सब मंद हों, इसमें मेरा बड़प्पन है, बाहरी चीजोंके समागमसे मेरा बड़प्पन नहीं है। तो इन बाहरी पदार्थोंमें अपना बड़प्पन न मानें और अपना बड़प्पन अपने आत्मामें यह देखकर मानें कि मैं गुणोंमें कितना बढ़ सका हूं और मेरेमें रागद्वेष क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें कितनी दूर हुई हैं ? यदि दोष दूर होता है तो अपना बड़प्पन है। इन साधु महाराजमें दोष नहीं रहे, इसीलिए इनमें गुरुपना है। तो ये आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये तीनों ही गुरु एक समान कहे गए हैं।

न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनादिवत्।
प्रागादायक्षणं पश्चात् सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥७१३॥

अन्तर्दृष्टिके कारण आचार्यकी शाश्वत गुरुता—आचार्य परमेष्ठी स्वयं इतना ज्ञानी और विरक्त हैं कि उनके बाह्यक्रियायें व्रतच्युत होनेका कारण नहीं बनती हैं। वहां ऐसा नहीं है कि आचार्य महाराज पहिले छेदोपस्थापना चारित्रका पालन करें अथवा आचार्य पहिले आचार्यपदको छोड़ दें, पीछे साधुपदको धारण करें, ऐसा भी आवश्यक नहीं है। यद्यपि संन्यास मरणके लिए ऐसा किया जाता है। जब जाना कि आयुक्षयका अवसर आता है तो व्यवस्थाके लिए किसी अन्य मुनिको आचार्यपद देकर स्वयं साधुमात्र रहकर संन्यासमरण करते हैं। तो यह एक विशेष अवस्थामें विधि बन गई। सो यह विधि व्यवस्थाके लिए है। यदि कोई न दूसरेको आचार्य बना सके, स्वयं आचार्यपदका त्याग न कर सके और विशिष्ट शुक्लध्यानमें आ जाय तो उसके प्रतापसे वह क्षीणमोह हो जाता है, अरहंत हो जाता है। तो यह आवश्यक नहीं है कि आचार्य महाराज छेदोपस्थापना करके साधुपदको ही धारण करें। यह आशङ्का अन्तर्दृष्टिकी परख न करने वालेको हो सकती है। जिसको आचार्यकी निर्भयता और निरोगताका परिचय है वे आशङ्का नहीं कर सकते। यह बात पहिले भली-भांति कही जा चुकी है कि आचार्यकी बाह्यक्रियायें दोष उत्पन्न करने वाली नहीं होतीं। जिस कारण कि

उनको छेदोपस्थापना चारित्र धारण करना पड़े और आचार्यपद छोड़कर साधुपदको ग्रहण करना पड़े। उनका अन्तरङ्ग तो साधुके ही समान है। अंत: क्रियायें सभी साधुवोंकी समान ही चलती हैं। केवल बाह्य क्रियावोंका भेद है। तो यह भेद अन्तरङ्गमें भेद डालनेमें समर्थ नहीं है। यों आचार्य महाराजका साधुपना अनायास ही शुद्ध है। वहाँ बाह्य पदार्थोंका नाम लेकर कोई शङ्का करनी ठीक नहीं है।

उक्त दिङ्मात्रमत्रापि प्रमाङ्गादगुरुलक्षणम् ।
शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥७१४॥

गुरुस्वरूपके संक्षिप्त वर्णनका उपसंहार—यहाँ प्रकरण चल रहा है कि गुरुत्वका वर्णन करनेका तो प्रसंग पाकर यहाँ गुरुका लक्षण दिखाया गया है। सो ये कुछ थोड़ीसी बातें कही गयी हैं। इन कुछ बातोंको ही निरख करके गुरुवोंके अन्तःशुद्धिकी बात समझ लेनी चाहिए। शेष गुरुवोंके स्वरूपकी बात आगे विशेषरूपसे कही जायगी, जैसा कि जैन आगममें कहा है। यहाँ संक्षेपमें इतना ही जान लेना चाहिए कि गुरु निर्ग्रन्थ और दिगम्बर होते हैं। उनमें गुरु तो अरहंत भगवानको कहा गया है। उनके बादमें कोई गुरु हो सकता है तो जैसे अरहंत भगवानका चिह्न है बाह्य शरीर वैसे ही लिङ्ग अर्थात् जिनलिङ्ग धारण करने वाले महात्मा गुरु कहलाते हैं। ये विषयोसे निष्प्रह होते हैं, इनकी लौकिक कोई कामना नहीं रहती है। केवल यह भावना रहती है कि ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वमें उपयोग मग्न हो जाय जिससे यथार्थता निजमें प्रकट हो। ऐसी ही मात्र जो धुन रख रहे हों ज्ञानस्वरूपकी, ऐसे पुरुष गुरु कहलाते हैं।

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥७१५॥

अमूढ़दृष्टि अङ्गके वर्णनमें वर्णित धर्मके स्वरूपकी निरुक्ति—प्रकरण चल रहा है अमूढ़दृष्टि अङ्गका। देवमें देवबुद्धि करना, अधर्ममें धर्मबुद्धि करना, कुगुरुमें गुरुबुद्धि करना सो मूढ़दृष्टि कहलाता है। ऐसी मूढ़दृष्टि जहाँ न हो सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग कहलाता है। तो इन तीन बातोंमें दो प्रसङ्गोंका वर्णन किया जा चुका कि गुरु कौन होता, कुगुरु कौन होता तथा देव कौन होता, कुदेव कौन होता ? अब यहाँ धर्मके सम्बंधमें कुछ वर्णन चलेगा। धर्म क्या चीज है और अधर्म क्या चीज है ? इसका संक्षेपमें वर्णन किया जा चुका था, उसीके सम्बंधमें पुनः वर्णन किया जा रहा है कि धर्म वह कहलाता है कि जो धर्मात्मा पुरुषोंको नीचेके स्थानसे हटाकर उच्च स्थानमें पहुंचा दे। धर्मकी व्याख्या धरणे धातुके अनुसार की गई है। जो उत्तम पदमें धारण करा दे उसे धर्म कहते हैं। धरति इति धर्मः—नीच पदसे उठाकर उच्च पदमें धारण करा दे उसे धर्म कहते हैं। तो नीचपद है संसार, चतुर्गतिभ्रमण और उच्च पद है

मोक्ष। मोक्ष क्यों उच्च स्थान है कि वहाँ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त-आनन्द प्रकट है। जिससे उत्कृष्ट और कोई ज्ञान आनन्द आदिक नहीं होते हैं। साथ ही वहाँ दोषोंको उत्पन्न करने वाले कर्म ही नहीं रहे, शरीर न रहा, ऐसा जो पवित्र स्थान है वह है मोक्ष, और नीच स्थान है यह समस्त संसार, जहाँ आवागमन रहता है। जो संसारके पदोंसे हटाकर मोक्षपदमें पहुंचा देता है उसको धर्म कहा गया है। तो ऐसे धर्मका ही धर्मोपदेश करना सो तो अमूढ़दृष्टि है और धर्मके इस पदसे हटकर नाना रागद्वेषादिकमय भावोंमें धर्मबुद्धि करना सो धर्म कहलाता है। सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग जिसके प्रकट हुआ है अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि है वहाँ कभी भी अधर्ममें धर्मरूपसे बुद्धि नहीं हुआ करती। जो रागद्वेषादिक भाव हैं वे अधर्म हैं, उनको करते हुए धर्म माननेका स्वप्नमें भी ख्याल नहीं होता।

सधर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥७१६॥

धर्मकी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकता—उक्त श्लोकमें निरुक्तिके अनुसार धर्मकी व्याख्या की गई थी कि जो नीचपदोंसे हटाकर उत्तम पदमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। जिसको समन्तभद्राचार्यने भी इन शब्दोंमें कहा है कि जो संसारके दुःखोंसे हटाकर जीवोंको उत्तम सुखमें धारण करा दे उसे धर्म कहते हैं। इस निरुक्तिके अनुसार धर्मकी यह विशेषता जानी गयी कि जीवका कोई शरण है तो धर्म ही है। धर्मभाव ही नीचपदसे हटाकर उच्च पदमें पहुंचा देता है, जहाँ फिर शाश्वत आनन्द रहता है। उस पदसे फिर कभी डिगना नहीं होता है। अनन्तकालके लिए आत्मा मुक्त शुद्ध पवित्र बना रहा करता है, ऐसा धर्म है क्या? उस धर्मका विशेष स्वरूप कहा जा रहा है। धर्म है सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रात्मक। याने जहाँ आत्मामें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र प्रकट हो वही आत्मा धर्मस्वरूप है। तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रय भावको धर्म कहते हैं। इन तीनों भावोंमें सम्यग्दर्शन भाव आधारभूत है अर्थात् सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अद्वितीय मूल कारण है। सम्यग्दर्शनके बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रकट नहीं होता। सम्यग्दर्शन कहते हैं जीवादिक प्रयोजनभूत ७ तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करना, देहसे भिन्न ज्ञानमात्र आत्म-तत्त्वका आत्मारूपसे श्रद्धान करना, कषायोंसे निराला जो ज्ञानमात्र सहजस्वरूप है उसका अनुभव पा लेना सम्यग्दर्शन कहलाता है। इस सम्यग्दर्शनके होते ही जो ज्ञान बना हुआ था पहिले वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यद्यपि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिसे पहिले जो ज्ञान हुआ करता है वह भी वस्तुके स्वरूपके अनुरूप होता है, लेकिन जहाँ वस्तुके आत्मतत्त्वके सहजस्व-रूपका अनुभव नहीं होता तो उस ज्ञानमें श्रद्धारूप दृढ़ता नहीं रहती, इस कारण उसे सम्य-

ग्ज्ञान नही कहा गया । सम्यग्दर्शनके होते ही उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा जाता है । तो सम्यग्ज्ञानका मूल कारण सम्यग्दर्शन होता, इसी कारण सम्यक्त्वके होनेपर ही तो आचार-विचार है वे सम्यक् हो जाते हैं । तो यों सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रका आधारभूत मूल कारण सम्यग्दर्शन कहा गया है ।

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा ।
सद्दृक्पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥७१७॥

सम्यक्त्वपूर्वक होने वाले धर्मकी प्रवृत्तिमें द्विविधता—सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् जीवकी जो धर्मवृत्तिमें उन्नति होती है तो वह धर्म जिस धर्ममें यह सम्यग्दृष्टि चलता है वह दो प्रकारका होता है—(१) सागाररूप और (२) अनागाररूप । गृहस्थधर्म और मुनिधर्म । ये दोनों ही धर्म सम्यग्दर्शनपूर्वक होते हैं । सम्यग्दर्शन न हुआ हो तो न गृहस्थका धर्म-धर्म कहलायेगा, न मुनिका धर्म-धर्म कहलायेगा, केवल एक बाहरी भेष, बाहरी प्रवृत्ति ही कहलायेगी । तो सम्यग्दर्शन वृत्तिका आधारभूत है । सम्यक्त्व होनेसे यदि चारित्रमोहका ऐसा उदय है कि वह पूर्ण संयम धारण नहीं कर सकता है तो वह अणुव्रतोंमें ही रहकर परिणमना होगा, उसे सागारधर्म कहते है । सागार मायने आगारसहित । गृहस्थ घर नहीं छोड़ सकते । उनका जो धर्म है वह सागारधर्म कहलाता है । जिन जीवोंके सम्यक्त्व तो उत्पन्न हो गया, पर पंचपापोंका पूर्णरूपसे त्याग नही किया जा सकता । शरीरका संघनन या सामर्थ्य या कषायोंका उदय इतना चल रहा है कि वह महाव्रत नहीं ले सकता है तो अणुव्रत लेकर हिंसा आदिकका एक देश त्याग करके और शेष रहे पापोंकी निवृत्तिके लिए प्रयत्न बढ़ाता है उसे कहते हैं सागारधर्म । और जहाँ सागार नही रहा, घर नहीं रहा अर्थात् वैभव, घर, परिजन आदिक सभीका त्याग कर दिया गया और अन्तरङ्गमें कषायरूप परिग्रहका त्याग कर दिया उसे कहते हैं अनागार । ऐसे अनागार पुरुषका जो चारित्र है उसका नाम है अनागार धर्म । दोनों ही धर्मोमें सम्यग्दर्शनका प्रकाश बना हुआ है, जिसके कारण गृहस्थ तो कुछ देर बाद जब आत्माकी अनुभूति कर रहा है और मुनिजन क्षण-क्षणमें आत्माका अनुभव किया करते हैं । इस तरह सम्यग्दर्शनपूर्वक सागारधर्म और अनागार धर्म होता है ।

रूढ़ितोधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा ।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥७१८॥

वचन और कायकी शुभक्रियाओंकी रूढ़िसे धर्मरूपता—शरीर और वचनकी शुभ-क्रियायें रूढ़िसे धर्म कहलाती हैं । चूँकि जिसको सम्यग्दर्शन हुआ है, ऐसा सागार अथवा अनागार पुरुष भी रागभावके रहनेपर शरीरसे शुभ क्रियायें करता है, वचनकी भी शुभ क्रियायें होती हैं । तो ऐसी शुभक्रियायें ज्ञानी जीवोंके देखी जा रही हैं तो लोगोंने यह अर्थ

बना लिया कि शुभक्रियायें करना धर्म कहलाता है, तो यह अर्थ कल्पित हुआ है । तो रहा धर्म यह भी धर्म कहलाता है कि वचन और कायकी शुभक्रियायें होना, दयामें तत्पर होना, हिंसा आदिक पापोंको टालने वाली होना, इस तरहकी शुभक्रियायें धर्म हैं, क्योंकि क्रियावों के साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिए अर्थात् शुभ मनपूर्वक की जाने वाली वचन और कायकी क्रियायें धर्म कहलाती हैं अर्थात् मनमें अच्छा विचार चलता हो, दया सम्बंधी निष्पाप अर्थात् आत्मस्वरूप सम्बंधी विचार चल रहा हो, वचनसे धर्मकी बात कही जा रही हो, शरीरसे अहिंसामयी चेष्टा की जा रही हो तो ये सब शुभक्रियायें धर्म कहलाती हैं ।

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः ।
यतः क्रियाविशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः ॥७१९॥

सागार व अनागार ज्ञानियोंके क्रियाविशेषकी अपेक्षासे धर्मकी विशेषितता—उक्त श्लोकमें बताया गया है कि मन, वचन, कायकी शुभक्रियावोंको धर्म कहते हैं । तो ये बाह्य-क्रियायें दो प्रकारकी हो गयी—सागार पुरुषकी शुभक्रियायें और अनागार पुरुषकी शुभ-क्रियायें । तो ऐसी उन शुभक्रियावोंकी विशेषताके कारण धर्म भी दो प्रकारके कहे गए हैं, यहाँ धर्मकी व्याख्या मिश्र व्याख्या है । जहाँ शुद्ध है मन, वचन, काय जहाँ प्रशस्त हैं, सर-लता जहाँ आ रही है, ऐसी स्थितिमें जो क्रिया होती है वह धर्म कहलाती है, जिसे ५ महा-व्रतरूप, ५ समिति रूप बता सकते हैं । गृहस्थजनोंके अणुव्रत रूप, दिग्व्रतरूप और शिक्षाव्रत रूप कह सकते हैं । ये सब क्रियायें भी मुनि और गृहस्थके भेदसे दो-दो प्रकारकी बन गई हैं ।

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् ।
देशतो विरति प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥७२०॥

सागारधर्ममें पापोंसे एकदेशविरति—उक्त श्लोकमें दो प्रकारकी क्रियावोंको धर्म कहा गया है । तो उसका विशेष स्पष्टीकरण इस श्लोकमें किया है कि गृहस्थकी शुभक्रियायें कौनसी हैं ? जिसको कि गृहस्थधर्म कहा गया है वह है गृहस्थोंका अणुव्रत । हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन ५ पापोंसे एकदेश विरक्त हो जानेका नाम है अणुव्रत । जैसे जो घरमें रह रहा है उसका व्यापार किए बिना काम न चलेगा । घरमें आरम्भ किए बिना, भोजन आदिक बनाये बिना काम न चलेगा । तब त्रस जीवोंकी हिंसाका तो त्याग रहता है, किन्तु स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नही हो पाता अथवा गृहस्थ पुरुष संकल्पी हिंसाका त्याग नही कर पाता है । आरम्भी, उद्यमी और विरोधी हिंसाका त्याग करनेमें असमर्थ रहता है । ऐसी स्थितिमे उसके हिंसाका त्याग एकदेश त्याग कहलायेगा । ऐसी हिंसाका एकदेश त्यागका नाम है अहिंसाणुव्रत । सत्याणुव्रतमें गृहस्थने असत्य वचनोंका परिहार किया, लेकिन व्यापारसम्बन्धी या अन्य लौकिक व्यापारसम्बन्धी वचनोंको तो वह बोलेगा । तो इन वचनों

का भी वह बोलेगा, सत्यरूपसे कहेगा, लेकिन आत्मतत्त्वका उनसे सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टि से वह असत्य कहलाता है तथा ऐसा असत्य नहीं बोल सकता है कि जिससे दूसरेको पीड़ा पहुंचे अथवा न्यायके विरुद्ध बात जाय। जहाँ ऐसा सत्य भी बोलना नहीं बताया गया कि जिसमें दूसरेके प्राण जायें, ऐसी अनेक बातें, अनेक विकल्प वहाँ रहते हैं, इस कारण उनके सत्यका व्रत अणुव्रत कहलाता है। इसी प्रकार चोरीका भी एक देशरूपसे उनके त्याग रहता है। मिट्टी, पानी आदिक अनेक जो सर्वसाधारण चीजें हैं उनको बिना पूछे ही तो लेते हैं, जो विपरीत क्रियायें हैं, इसी प्रकार अन्य भी क्रियायें होती हैं। इन सब बातोंको निरख करके यह कहा जायगा कि गृहस्थके चोरीका एकदेश त्याग रहता है। यह हुआ गृहस्थका अचौर्याणुव्रत। गृहस्थजन स्त्रीमात्रका परित्याग नहीं कर पाते है, तब अपनी पारिणीत स्त्रीमें ही सन्तोष करके शेष समस्त स्त्रियोंका विकल्प दूर कर देते हैं, इस कारण उनके यह ब्रह्मचर्याणुव्रत कहा गया है। परिग्रहका सर्वथा त्याग करके गृहस्थ कैसे रह सकेगा ? जब भोजन, आरम्भ अथवा व्रतपालन आदिक सब कुछ करना पड़ रहा है तो परिग्रहकी आवश्यकता तो रहती ही है। इस स्थितिमें वह सम्यग्दृष्टि जीव परिग्रहका परिमाण कर लेता है। मेरा इतने परिग्रहसे गुजारा चल जायगा, इसके अतिरिक्त शेष परिग्रहोंका मेरे त्याग है। इस तरह परिग्रहका परिमाण करके शेष परिग्रहोंसे सर्वथा विरक्ति कर लेना, यह गृहस्थका धर्म हो जाता है, तो इस व्रतको कहते हैं परिग्रहपरिमाणव्रत। इस प्रकार ५ पापोंसे एक देश विरक्त हो जानेका नाम है अणुव्रत। यही है गृहस्थका धर्म।

सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत्।
नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ॥७२१॥

अनागारधर्ममें पापोंसे सर्वविरति—हिंसा आदिक ५ पापोंका सर्वरूपसे त्याग कर देनेका नाम है महाव्रत। जिसने केवल आत्मकल्याणकी ठान ली, जिसके अब अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायें नहीं रही, परिजनोंसे अत्यन्त विरक्ति हो गई है, आत्माका अनन्य शरण स्वयंसिद्ध आत्मतत्त्वका दर्शन है, ऐसी जिसकी धुन बन गई है, ऐसा महापुरुष केवल आत्महितके लिए अपना जीवन मानता है, तब वह सर्व वैभवोंका परित्याग कर देता है, शरीर मात्र ही उनका परिग्रह रह जाता है। उनमें इतनी विरक्ति होती है कि इस शरीरको भी वे अलग कर सकते थे अर्थात् शरीरकी भी उपेक्षा कर जाये, आहार आदिक न करें, ऐसी उनके अत्यन्त विरक्ति है, लेकिन विवेक उनको चेताता है कि ऐसे असमयमें शरीरका परित्याग कर देना कल्याणकारी न होगा। इस भवमें संयमकी साधना करके ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानको संयत बनानेका बराबर अवसर दे करके पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा कर लेनी चाहिये, इस प्रकारका विवेक जगता है जिसके कारण वे यथासमय आहार आदिक चर्याविधि करते

हैं। तो यों अतिविरक्त साधुजनोंका केवल एक ही उपयोग रहता है—आत्महित करना, ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानको मग्न कर देना। तो इस तरहके उद्देश्य वाले साधुजनोंको हिंसा आदिक ५ प्रकारके पापोंसे सर्वथा विरक्ति हो जाती है। स्थावर जीवोंकी भी हिंसा नहीं करते, भोजन आदिकका आरम्भ नहीं करते, इस तरह उनके अहिंसा महाव्रत है और आत्मतत्त्वकी ही धुन है, अन्य बातें वे किया ही नहीं करते हैं। यों यथार्थ बातोंका प्रयोग होनेसे सत्य महाव्रत है, चोरीका पूर्णरूपसे त्याग है। किसी चीजके संचयका अब उनके काम ही नही रहा है। तो साधारण वस्तुवोंका भी संग्रह करनेका भाव उनके नहीं होता। स्त्री मात्रका त्याग हो जानेसे उनके ब्रह्मचर्य महाव्रत कहा गया है। लेकिन परिग्रहका पूर्णरूपसे त्याग हो गया है, वस्त्र मात्र भी नहीं रखा है। केवल शुद्धिके लिए उपकरण कमण्डल और जीवदयाका उपकरण पिच्छिका और ज्ञानका उपकरण एक दो शास्त्र ही उनके पास रहते हैं। सो उनमें भी उनके रागबुद्धि नहीं है, इस संयमकी साधना करनेका वे उपकरण मात्र मानते हैं। इस तरह सर्व पापोंका त्याग करने वाले ये साधु महाराज महाव्रती होते हैं। यों महाव्रत नामका अनगारों का धर्म कहा गया है।

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्त्तिनाम्।
तथाऽनगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेप्यतः ॥७२२॥

धर्मात्मावोंका मौलिक ज्ञान—आत्माकी शान्ति चाहने वाले जीव सर्वप्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं। सम्यग्दर्शनका अर्थ यह है कि जैसा मेरे आत्माका सहजस्वरूप है उसरूप अपना अनुभव हो जाना। लोकमें प्राणी अपनेको इस तरह मान रहे हैं कि मैं नारकी हूं, तिर्यञ्च हूं, मनुष्य हूं, अमुक कुल वाला हूं, ऐसे परिवार वाला हूं, इस घरका मालिक हूं, इतने वैभवका स्वामी हूं……। जो जीव जिस गतिमें जाता है उस गतिमें जो उन्हें स्थितियाँ मिली हैं उसरूप अपनेको मान लेते हैं। तो यह उनकी मान्यता अशान्तिका कारण बनती है। क्योंकि परको अपना मान लेनेमें अशान्ति ही है। जिसपर अपना राग करनेका अधिकार ही नहीं है, उसपर राग बनाया तो उसका फल अशान्ति है। बाह्य पदार्थ सब मुझसे अत्यंत निराले हैं। उनका ज्ञाताद्रष्टा रहना चाहिए था, यह है हमारे ज्ञानमें किया गया। तो अस्तित्व मात्र ज्ञानमें आये उससे कोई अड़चन नहीं है, पर जब जीव यों मान लेते हैं कि यह मेरा है, मेरा शरीर है, मेरा जीवन है तब बाह्यपदार्थोंमें आत्मरूपसे श्रद्धा कर लेते हैं तब उन्हें आकुलता होती है, किन्तु आकुलता होनेके कारण तो लोग बाह्यमें, यह मेरा है अब है नहीं मेरा, वे भिन्न हैं, उनका परिणमन उनके अनुसार होगा। यहाँ यह सोचकर कि अरे मेरा है, मैं यों नहीं कर पा रहा हूं, जो मैं चाहता हूं वैसा ही होना चाहिए था, ऐसा विकल्प होता है, उससे अशान्ति होती है। तब शान्ति कहाँसे प्रकट हो? जब निजको निज परको पर जानें। यह

बात आ जायगी कि मै तो ज्ञानमात्र हूं, सबसे निराला हूं, मेरा देह भी मेरा नही है तो स्त्री पुत्र मित्रादिक मेरे क्या होंगे ? घर, वैभव आदिक मेरे क्या होंगे ? जब इस तरहका भान होता है तो इसको शान्तिका मार्ग मिलता है। तो जैसा आत्माका सहजस्वरूप है केवल ज्ञानज्योतिर्मय, जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं, सर्वसे अपरिचित है, इस मुझको यहाँ कोई जानने वाला नही। लोग प्रशंसा करें तो मेरेको क्या, निन्दा करें तो मेरेको क्या ? मैं तो सबसे अपरिचित हूं, मैं अपने ज्ञानस्वरूपमें ज्ञान रखूं तो मेरे लिए सर्व वैभव मिला हुआ है और अपने आत्मस्वरूपको छोड़कर बाहरी पदार्थोमें अपनी गणना बनाऊँ तो मेरेको अशान्ति है। जिन पुरुषोंको सम्यग्ज्ञान हो गया है तो सम्यग्ज्ञानका मार्ग समझ लिया कि हम इस रास्तेसे चलेंगे तो शांति मिलेगी। कौनसे रास्तेसे ? जहाँ मोह न हो, रागद्वेष न उपजे, केवल अपने आपके स्वरूपका जाननहार रहे, इस रीतिसे मैं अपने उपयोगको ले जाऊँ, तो धर्म है, तो शान्ति है। जहाँ इस आत्मदृष्टिसे चिगे और बाहरी पदार्थोंको माना कि ये मेरे हैं, इनके परिचयसे ही मेरा महत्त्व है, बस वहाँ अशान्ति पैदा हो गई।

सत्संगतिका कर्तव्य—दुनियामें प्रायः जितने लोग मिलते हैं वे सब मोहके साथी हैं। मोहवान हैं. तब उनके बीच बैठनेपर, उनकी अधिक बातें सुननेपर इस जीवको इस श्रद्धामें जो दृढ़ता आती है कि मेरा बड़प्पन तो तब है जब हमारे पास लाखोंका वैभव हो जाय, हम करोड़पति हो जायें या दुनियामें मेरा नाम छा जाय, मै सबमें अग्रगण्य माना जाऊँ, ऐसी मनमें वासना उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि मोहियोंको कभी विरक्त पुरुषोंका संग मिले, उनकी वाणी मिले और ऐसी वाणी प्रायः रोज मिले अथवा विरक्त पुरुष न मिलें तो उनके द्वारा रचित जो शास्त्र हैं वे भी विरक्त पुरुष ही है। उन शास्त्रोंका स्वाध्याय रोज करें, एक-दो घंटे रोज यदि उपयोग कुछ वैराग्यमें और वस्तुके सही स्वरूपकी बातमें जमे इस जीवको कुछ सावधानी रहे। अब स्वाध्यायके रूपसे भी गुरुओंका सत्संग मिल रहा अथवा साक्षात् गुरुवोंका सत्संग मिल रहा तो ऐसी स्थितिमें यह मनबन्दर बहुत चंचलता कर देता है, बाहरी पदार्थोमें अपना सार समझता है। फल यह होता है कि आकुलता बढ़ती है। तब जानना चाहिए कि हमें धर्म मिलेगा तो सम्यग्दर्शनसे मिलेगा। सम्यक्त्व हुए बिना धर्म नही होता।

गृहस्थोंके मूलोत्तर गुणोंका एकदेश पालन—जिन जीवोंको सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया, उन जीवोंकी अब फिर आगे क्या गति होती है, उसका यह प्रकरण चल रहा है। ऐसा पुरुष यदि सर्वपापोंका परित्याग कर सकता है तो वह मुनि हो जाता है और सर्वपापोंका पूर्णरूप से परित्याग करनेमें तब वह समर्थ रहता है। वहाँ यदि संयमावरण कषायका उदय रहता है तो वह गृहस्थीमें ही रहकर व्रतपालन करता है। सो कोई पुरुष यदि विवेकी है, सम्यग्दृष्टि है, उसको आत्मस्वरूपका सच्चा भान हो गया है तो योग्य रीतिसे अगर गृहस्थधर्मका भी

पालन करे तो उसे शान्ति मिल जायगी। तो गृहस्थधर्ममें क्या करना होता है ? उसके सम्बंध में बतला रहे हैं कि गृहस्थ जीवोंके एक देशरूपसे मूल गुण और उत्तर गुण हुआ करते हैं। मूल गुण क्या है ? पञ्च उदम्बर फलोंका त्याग, मद्य, मांस, मधुका त्याग। जिस जीवके सम्यक्त्व हुआ है वह जीव मद्य, मांस, मधुका कैसे सेवन करेगा ? वह जान रहा है कि इसमें अनेक त्रस जीव होते हैं तो क्या वह त्रस जीवोंका भक्षण करेगा ? पञ्च उदम्बर फलोंमें भी त्रस जीव होते हैं। शराब आदिक सड़ाकर बनाये जाते हैं तो इनमें जीव होते है, यह तो सभी लोग जानते हैं, साथ ही शराब बेहोशी पैदा करती है। जहाँ विवेक नष्ट हो जाय, ऐसी दशा ज्ञानी पुरुष नहीं चाहता। मांस तो जीवके घातसे ही उत्पन्न होता है और मधु भी अनेक मक्खियोंके नाशसे उत्पन्न होता रहता है और उसमें निरन्तर अनेक जीव उत्पन्न होते रहते हैं। तो मद्य, मांस, मधुका सेवन भी कोई गृहस्थ नहीं रख सकता है। जो नाम मात्रका भी जैन हो गया वह मद्य, मांस, मधु और पञ्च उदम्बर फलका भक्षण नही कर सकता। ये उदम्बर फल बिना फूलके काठसे स्वयं फल उत्पन्न होते हैं। इनके फोड़नेपर देखा होगा कि उसमेंसे अनेक जीव निकलते हैं, कुछ उड़ने वाले जीव भी निकलते हैं। तो जिसमें त्रस जीवों का घात हो, ऐसे पदार्थ सम्यग्दृष्टि जीव नहीं खा सकता। तो यह तो है गृहस्थका मूल गुण पालन और उत्तर गुण है—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रतका पालन। इनका वर्णन प्रसंगानुसार आयगा। यहाँ यह बताया जा रहा है कि जिसने अपने आत्माकी सुध लिया है और पापोंका सर्वदेश त्याग नहीं कर सका है वह गृहस्थीमें रहकर गृहस्थधर्मका पालन करता है। अब गृहस्थोंको सोचना चाहिए कि हम गृहस्थ हैं, व्यापारादिक करते हैं, घरका काम चलाते है तो ऐसे आरम्भ परिग्रहमें रहते हुए हम गृहस्थ किस तरहसे इन पापोंसे मुक्त हो सकें ? और देखिये—घर भी बना है, परिजन भी बने हैं, उनमें रहना बन रहा है, दूकान भी चल रही है, सब कुछ होते हुए भी एक अपने आपके आत्माकी यदि सम्हाल न की, बाहर की बातोंमें ही उपयोग बना रहा तो गृहस्थधर्मका निभाना न कहलायेगा। वह तो उस तरह से समझिये जैसे कि भिखारी लोग भीख मांगकर, डाकू लोग डाका डालकर, चोर लोग चोरी करके अपना पेट भरते है। यद्यपि लौकिक हिसाबसे उनमें बहुत अन्तर है, उनके तो सीधा पापकी आय हो रही है। यहाँ लोगोंको कोई बाधा न पहुंचाकर आय हो रही है, लेकिन आय ही तो हुई, और उससे विषयसेवन किया, उससे गृहस्थने लाभ क्या उठाया ? लाभ तो गृहस्थ का यह था कि अरहंत सिद्ध स्वरूपका स्मरण रहता, उनकी भक्तिमें कुछ समय जाता, अपने आपके आत्माके स्वरूपकी कुछ सुध रहती, बाह्यपदार्थोंसे मोह हटता, इनमें आसक्ति न होती, कुछ ज्ञानप्रकाश रहता और फिर गृहस्थीमें ये सारे काम होते तो वह गृहस्थधर्म कहलाता है। केवल कमायी और विषयोंका साधन बनाया, विषयभोगमें, मौजमें रहे तो इससे गृहस्थधर्म

नहीं कहलाता। यह तो संसारी जीवोंकी मोहकी प्रणाली है।

साधुवोंके मूलोत्तरगुणोंका सर्वदेशपालन—गृहस्थधर्ममें मूल गुण और उत्तरगुणका होना बताया गया है। होता है वह एक देशका, पूर्णतया पापका त्याग नहीं होता, किन्तु मुनीश्वरोंके पूर्णरूपसे मूल गुण और उत्तर गुण हुआ करते हैं और साधुवोंके मूल गुण २८ बताये गए हैं जैसे—५ महाव्रतोंका पालन करना, ५ समितिके अनुसार प्रवृत्ति करना, ३ समितियोंका पालन होना, पञ्चेन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना, मनपर विजय प्राप्त करना, ६ आवश्यक कार्योंका करना और वस्त्रत्याग होना, जमीनपर सोना, उठना-बैठना, केशलोंच करना, एक बार दिनमें खड़े होकर आहार लेना, शुद्ध विधिसे अन्तरायरहित मिले तो आहार लेना, न मिले तो भी तृप्त रहना, स्नान न करना आदिक जो मुनियोंके योग्य गुण बताये गए हैं वे पूरी तौरसे मुनिजन पालन करते हैं तथा परीषह उपसर्ग आदिकपर विजय प्राप्त करना आदि ऐसे उत्तर गुणोंका भी पालन करते हैं। तो जिस जीवने शान्तिका मार्ग जान लिया कि मेरा तो शान्तिका मार्ग रागद्वेष मोहसे रहित होकर केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना है। तो इस मार्गमें बढ़नेके लिए वह क्या प्रयत्न करता है बाहरमें, यह बात कही जा रही है।

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्वचिदव्रतिनां साक्षात् सर्वसाधारणा इमे ॥७२३॥

गृहस्थोंके आठ मूलगुण—जो गृहस्थ व्रतधारी पुरुष हैं उनके ८ मूल गुण होते हैं। श्रावकोंमें गृहस्थोंमें दो प्रकारके भेद प्रसिद्ध हैं—(१) पाक्षिक, (२) नैष्ठिक। जो प्रतिमारूपसे व्रतपालन नहीं कर सकते, फिर भी आचरण उनका स्वभावत: शुद्ध रहता हो तो वे पाक्षिक श्रावक कहलाते हैं। जो प्रतिमारूपसे व्रत धारण करें तो वे नैष्ठिक श्रावक कहलाते हैं। जैन कुलमें उत्पन्न होने वाले पुरुषोंके ऐसा स्वभावतः आचरण होता है। मद्य, मांस, मधुका सेवन न करना, पञ्च उदम्बर फलोंका सेवन न करना। यदि कोई पुरुष इन ८ अभक्ष्य चीजोंका सेवन करता है तो उसे नाम मात्रसे भी श्रावक नही कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त तीन मुख्य गुण बताये गए हैं—मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्यका त्याग। जिसको और स्पष्टरूपसे बताया गया है। देवदर्शन करना, जल छानकर पीना। रात्रिको भोजन न करना, इतनी बातें यदि नहीं रहती हैं तो कहा जा सकता है कि वह नामका भी श्रावक है। आजकल इसकी अवहेलना बहुत होने लगी है। जैसे रात्रिको भोजन करने लगना, अटपटा भी उन्हें नहीं मालूम होता कि मैं क्यों अयोग्य आचरण कर रहा हूं, क्यों रात्रिमें खा रहा हूं, मगर रात्रिके खानेमें प्रथम तो एक निशाचर जैसी वृत्ति हो जाती है। दिन है, सूर्यके प्रकाशमें जीवरहित स्थान हो जाते हैं, देख-भालकर भोजन किया जा सकता है। रात्रिमें यदि प्रकाश किया जाय तो उस प्रकाशके सहारे और भी अधिक जीव-जन्तु आते है, जब कि

दिनके प्रकाशमें यह विशेषता है कि जीव-जन्तु नहीं रहते। देखा होगा मच्छरोंकी बाधा दिन में नहीं होती है, पर रात्रिमें देखिये कितने मच्छर आने लगते हैं? न जाने दिनमें वे मच्छर कहाँ चले जाते हैं। तो दिनके प्रकाशमें एक ऐसी विशेषता है कि जीव-जन्तु नहीं होते जब कि रात्रिके प्रकाशमें यह विशेषता है कि कहीं भी जीव-जन्तु हों तो भी वे वहाँ आ जाते हैं। तो रात्रिके भोजनमें हिंसाका दोष है। दूसरे—कुछ चित्तमें इस तरहका प्रमाद जग जाता है कि धर्ममार्गमें बढ़नेकी बुद्धि नहीं रहती है। तो ये मोटे जो जैन श्रावकोंके चिन्ह हैं उनसे तो न गिरना चाहिए, और इन मूल गुणोंका पालन करेगा कोई तो उसमें श्रद्धा है धर्मके प्रति, देवके प्रति, जिनवाणीके प्रति उस श्रद्धासे उनको पुण्यबन्ध भी होता रहता हैं। लोग प्रायः पुण्यके उदयमें फिसल जाते हैं। बड़े जब साधन होते है, बड़ी जब धन सम्पदा प्राप्त होती है, बड़ा जब मौज होता है तो समझ लेते है कि हम तो सब जीवोंसे अधिक अच्छे हैं। मेरेको अब करना क्या है? धर्मसे जो चाहिए था सो मिल गया। अब धर्म करनेकी जरूरत क्या है? ऐसा चिन्तन करके धर्मसे फिसलना अधिक हो जाता, लेकिन जो पुण्यशाली पुरुष हैं वे भी बने रहें, उसका साधन है शुद्ध आचरणसे चलना। तो जिनवाणीके प्रति, देव, गुरु के प्रति श्रद्धा बनाये रहना, उस भावसे अपूर्व पुण्यका बन्ध होता है, जिससे पुण्यकी रक्षा होती है, किन्तु समझ यह रखनी चाहिए कि मेरे लिए न पुण्य हितकारी है और न पाप। पुण्य हुआ, देव बन गए, इन्द्र बन गए, राजा हो गए, सेठ हो गए और क्या होगा पुण्यमें? ये चित्तको डिगाने वाली, आत्माको बेसुध कराने वाली कुछ बाहरी चीजें मिल जायेंगी तो इससे आत्माका लाभ क्या हुआ? बल्कि अनर्थ ही हुआ। उन बाह्य पदार्थोंमें लगे रहे, अपनी सुध न रखी तो इसमें जीवका अहित ही हो गया। तो पुण्य मेरे लिए लाभदायी नहीं है। और पाप तो मेरे लिए लाभदायी है ही नहीं। तब पुण्य, पाप दोनोंसे रहित होकर एक शुद्ध जो आत्माका ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूपमें उपयोग लगाना चाहिए। इतनी बात जब नहीं बनती तो पुण्य करना भला है। उससे कुछ उत्तम साधन तो मिलेंगे, धर्मका वातावरण तो मिलेगा, कुछ चेतनेके साधन तो मिलेंगे। तो पुण्यकार्य करें, मगर श्रद्धा यह रखें कि संसारमें जन्म मरण ही बड़ी विपदा है, यह ही महान कष्ट है और जन्म मरणका कष्ट तब ही छूट सकता जब यह जीव पुण्य, पाप दोनों भावोंसे रहित होकर शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रह सके। तो ऐसा विवेक रखने वाले गृहस्थजनोंके ८ मूल गुण तो हुआ ही करते हैं और ये ८ मूल गुण तो साधारण आचरण हैं, व्रतियोंके भी होते हैं और अव्रतियोंके भी। जो नाममात्रका भी श्रावक है, जैन हो तो भी इन ८ मूल गुणोंका पालन करता है। इस कारणसे इन मूल गुणों को सर्व साधारण समझना चाहिए। हाँ अन्तर यह हो जायगा कि जो व्रती पुरुष है उसके तो निरतिचार मूल गुण होगा और अव्रती पुरुषके मूल गुणमें कदाचित् दोष लगते रहेंगे, पर

८ मूल गुण नाममात्रके जैनके भी हुआ करते हैं ।

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम् ।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥७२४॥

आठ मूल गुणोंसे रहित मनुष्यके व्रत व सम्यक्त्वकी असंभवता—गृहस्थजनोंके जो ८ मूल गुण कहे गए हैं, ये किन्हींमें तो स्वभावतः पाये जाते हैं और किन्हीके त्याग कराकर पाये जाते हैं । अब समझ लीजिए जो जैन आम्नायमें उत्पन्न हुआ है, जिसके माता-पिता जैन हैं, उस कुलमें जन्म लिया है, उनके तो यह स्वभावतः ही होना चाहिए 'और वहाँ यह विधि भी प्रचलित है कि जब तक बच्चा ८ वर्षका नहीं होता तब तक माता-पितापर जिम्मेदारी है कि वे उस बालकको मद्य, मांस, मधु आदिक पञ्च उदम्बर फलोंका सेवन न करने दें, क्योंकि वह अभी अबोध बालक है । ८ वर्षकी उम्रमें बच्चेको गृहस्थधर्मकी दीक्षा दिलायी जाती है । उस समय उसको मद्य, मांस, मधु और पञ्च उदम्बर फलोंका त्याग कराया जाता है । अब वह बच्चा समझदार हो गया । उसने समझ लिया कि इसमें त्रस जीव रहते हैं, इनके भक्षणसे महादोष हुआ करता है तो फिर वह उसे नहीं खाता । तो यों जैनकुलमें उत्पन्न हुआ बालक जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त तक इन तीन चीजोंको छूता भी नहीं । ऐसे इन ८ अभक्ष्यों का जो त्याग है वह जैनकुलमें उत्पन्न होने वाले अथवा उच्चकुलमें उत्पन्न होने वाले पुरुषके स्वभावतः पाया जाया है और किसीके त्याग द्वारा ये अष्ट मूलगुण होते हैं । जो लोग इनका सेवन करते आये हैं उन्हें उपदेश मिले तो उस उपदेशको सुनकर इनका त्याग कर देते हैं तो वहाँ उपदेशसे यह व्रत उत्पन्न हुआ, और जैनकुल आम्नायमें उत्पन्न हुए पुरुषोंके स्वभावतः होता है । तो जो उच्च कुल हैं उनमें अष्टमूलगुणोंका नियम तो सुलभतासे ही निभ जाता है और जिस कुल आम्नायका त्याग नहीं है उनको उपदेश दिया जाता है और सम्यक्त्वप्राप्तिके समय तो इसका प्रसंग ही नहीं रहता है । सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी इन खोटी चीजोंके सेवन में नहीं रहा करता, यह बात बतायी जा रही है । तो अब इस प्रसंगको सुनकर अपना व्रत आचरण शुद्ध रखनेके लिए बड़े पुरुषोंको, माता-पिताको इस ओर ध्यान रखना चाहिए कि बच्चा न तो खोटे व्यसनोंमें जाय, न इन खोटे पदार्थोंके भक्षणमें जा सके और बड़े युवक पुरुषोंको यह सोचना चाहिये कि अपने जैनकुल आचारसे यदि गिर गए तो फिर यह जीवन बेकार है । भला जहाँ इतना शुद्ध निर्दोष शासन है कि जिस शासनके सेवन करनेसे अनन्त जीव मोक्ष प्राप्त कर चुके, जो शासन बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त होता है उस शासनको पाकर यहाँ प्रमाद कर रहे हैं, तो जो धर्म, जो शासन हमारे उद्धारके लिए मिल रहा था उसे जब हमने बेकार खो दिया तो बताओ फिर हम कहाँ पार लग सकते हैं ? तो ऐसे उत्कृष्ट जैनशासनको पाकर एक तो सम्यक्त्वको पानेका प्रयत्न करना चाहिए । उसके पानेका प्रयत्न यही है कि

गुरुसत्संग करें। गुरुसत्संग दो प्रकारसे हो सकता है—एक तो गुरुजन मिलें, उनका सत्संग विशेष रहना, उनका आदेश सुनें, उनका आदेश मानें। दूसरे—जो गुरुजनोंके द्वारा लिखित ग्रन्थ है, शास्त्र हैं उनका स्वाध्याय करें। तो उनकी वाणीका जब स्वाध्याय करेंगे तो वह भी गुरुसत्संग कहलाता है, क्योंकि जब स्वाध्याय करते हैं और उनमें जो उपदेश आत्माको हित-कर लगा तो उस समयमें गुरुकी मुद्रा किसी न किसी रूपमें सामने आ जाती है। तो गुरु-सत्संग करनेके ये दो उपाय हैं, जिनमें साक्षात गुरुसत्संग मिलना तो कठिन है, पर स्वाध्याय कर सकना, यह तो आपके लिए रोज मिल सकता है। तो उस ओरसे प्रमादी न होना चाहिए। अगर ये बाहरी लेन-देन रखनेमें ही, उनके ही लेखा-जोखा करनेमें, उनके ही अध्ययनमें जीवन का सारा समय खो दिया तो फिर लाभ कुछ नहीं मिलेगा। यद्यपि यह भी एक गृहस्थीमें रहनेके लिय उपाय है, लेकिन मुख्य काम तो वैराग्य और ज्ञानकी प्राप्ति है। वह मिलेगा शास्त्रोंके अध्ययनसे। तो शास्त्रस्वाध्याय करके हम अपने गुरुसत्संगका प्रण निभायें और गुरु-सत्संग द्वारा अपने इस जीवनको सफल बनायें।

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा ॥७२५॥

आठ मूल गुणोंके विना नामतः भी श्रावकत्वका अभाव—अष्ट मूल गुण धारण किए विना तो श्रावक नाममात्रका भी नहीं कहा जा सकता। फिर अष्ट मूल गुणोंसे रहित पुरुषको पाक्षिक गूढ़, नैष्ठिक अथवा साधक आदि कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पाक्षिक श्रावक उसे कहते हैं जो कि प्रतिमारूपसे व्रत धारण न करे, किन्तु जैनशासनका श्रद्धान हो, जैनशासनका पक्ष ग्रहण किए रहे, ऐसे सम्यग्दृष्टि अविरत पुरुषको पाक्षिक श्रावक कहते हैं। गूढ़ श्रावक उसे कहते हैं कि जो व्रतोंका अभ्यास कर रहा है, प्रकट नियमरूप कुछ नहीं लिया है, ऐसा सदा-चार पाक्षिक श्रावक गूढ़ श्रावक कहलाता है। जिसने प्रतिमारूप व्रत ग्रहण किया है उसे नैष्ठिक श्रावक कहते हैं, और जो मरणकाल आनेपर संन्यासकी विधिपूर्वक चेष्टा कर रहा हो उसे साधक कहते हैं। तो ये चार प्रकारके मूल गुण बताये हैं। इन गुणोंको जो धारण नहीं करता उसे नाममात्रका भी श्रावक नहीं कहा जा सकता है। इस कारण श्रावक व्रत ग्रहण करने वाले पुरुषको अष्ट मूल गुणोंको अवश्य ही धारण करना चाहिए।

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बर पञ्चकः।
नामतः श्रावकः क्षान्तो नान्यथापि तथा गृही ॥७२६॥

आठ मूल गुणोंका निर्देशन—अष्ट मूल गुण कई प्रकारसे बताये गए हैं, लेकिन जो सर्वसाधारणको सम्भव है, जो कुल आम्नायसे भी शुद्ध आचरण वाला नहीं है वह भी जैसे कमसे कम त्यागको निभा सकता है, उस दृष्टिसे ये अष्ट मूल गुण बताये गए हैं। मद्य, मांस,

मधुका त्यागी और पञ्च उदम्बर फलका त्याग करने वाला पुरुष अष्ट मूल गुणोंका धारी कहलाता है । तो इतने अष्ट मूल गुण पालन करने वाला नाममात्रका श्रावक कहा जाता है, ऐसा यह पुरुष क्षमा धर्मका पालन करने वाला है । जो त्रस जीवोंका घात बचाया है उस जीवने उसपर क्षमा ही तो की है । तो ऐसे उन त्रस जीवोंपर जहाँ क्षमाभाव नहीं है वह तो नाममात्रका भी श्रावक नहीं कहा जा सकता । जो केवल श्रावक संज्ञा ही धारण किए है उसको ये तीन प्रकारके मकार अर्थात् मद्य, मांस, मधु और ५ फलोंका त्याग होना ही चाहिए । जो इनके भी त्यागी नहीं हो सकते उन्हें तो जैन ही न कहा जा सकेगा । तो ऐसे इन ५ उदम्बर, ३ मकारोंका त्याग करना गृहस्थ पुरुषके लिए अनिवार्य आवश्यक है ।

यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् ।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ॥७२७॥

व्यसनत्यागका कर्तव्य—गृहस्थ पुरुषोंको सप्तव्यसनोंका त्यागी भी अवश्य होना चाहिए । जो व्रतका पालन करता है अथवा पालन करना चाहता है, शुभक्रियावोंको चाहता है तो ऐसे गृहस्थका यह प्रथम कर्तव्य है कि वह सप्तव्यसनका परित्याग करे । ये ७ व्यसन निरंतर संक्लेश, शल्य और अपवित्रता बनाये रहते है । वे सातों ही व्यसन ये हैं—जुवा खेलना, मांसभक्षण करना, मदिरा पीना, वेश्यागमन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्रीगमन करना । ये ७ प्रकारके व्यसन पापपरिणामको बनाये रहते हैं, इस कारण ७ व्यसनों का त्याग अवश्य करना चाहिए । कोई पुरुष शरीरसे शुभचेष्टायें तो करे—जैसे मंदिरमें जाये, पूजन करे अथवा जापसामायिक दे, और-और प्रकारसे एकाशन उपवास आदिक धर्मक्रियायें करे, किन्तु सप्तव्यसनका परित्याग नही है तो उसके लिए वे सब क्रियायें विडम्बनारूप हैं । सप्तव्यसनोंके त्याग बिना व्रतोंमें कभी प्रगति हो ही नही सकती । इन व्यसनोंके स्वरूपपर दृष्टि देनेसे यह बात भली-भाँति विदित हो जाती है । जो पुरुष जुवा खेलता है, हार-जीतकी दृष्टि बनाये है, उसकी ओर ही उसकी धुन बनी रहती है । यहाँ तक कि जुवा खेलने वाला पुरुष स्वयं अपने खाने-पीनेकी भी सुध नही रख पाता और इस हार-जीतमें तब तक चलता रहता है जब तक अपना सर्वस्व न खो दे । इतना ही नहीं, समस्त चारित्रको भ्रष्ट करनेका भी यह कारण बन जाता है । मांसभक्षणमें जीवोंपर कितना क्रूरताका परिणाम बना हुआ है ? प्राणघात बिना मांस उत्पन्न नहीं होता, और जो मांसभक्षण करते है तो चाहे मरे हुए जीवका मांस खाया अथवा जीवित जीवको मारकर खाया, हिंसा सबमें बराबर लगती है । तो ऐसे मांसभक्षी पुरुष क्या व्रत करेंगे ? मद्यपान तो बेहोशीको उत्पन्न करता है । वहाँ तो मां-बहिनको भी सुध नही रहती है । ऐसे मद्यपायी पुरुष शुभक्रियायें कहाँ कर सकते हैं ? वेश्यागामी अर्थात् परस्त्रीसे सम्बन्ध रखने वाले पुरुषका तो पहिले बहुत मलिन चित्त हो

जाता है। जो चोरी और शिकारके व्यसनी हैं उनके तो निरन्तर ही क्रूरताका परिणाम रहा करता है। ऐसा पुरुष शुभक्रियायें करनेका भी पात्र नहीं होता। इस कारण व्रती और अव्रती सभी श्रावक सभीके लिए आवश्यक है कि वे अष्ट मूल गुणोंको धारण करें और सप्तव्यसनोंका परित्याग करें।

त्यजेद्दोषाँस्तु तत्रोक्तान् सूत्रोतीचारसंज्ञकान्।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥७२८॥

निरतिचार मकारत्यागका संकेत—तत्त्वार्थसूत्रमें व्रतीके ५-५ अतिचार बताये गए हैं उन अतिचारोंको भी समझकर उनसे दूर रहनेका यत्न करना चाहिए। तो व्रतके पालनमें कोई अतिचार लगाता रहे तो ऐसे प्रमाद और भावकी शिथिलता आ जाती है कि कोई समय ऐसा होगा कि व्रतोंका पालन भंग कर देगा। तो व्रतोंके अतिचार भी टालना चाहिए। जहाँ इतना उपदेश किया गया है वहाँ यह बताओ कि मद्य, मांस आदिकके सेवनकी बात किस तरह युक्त हो सकती है ? याने मद्य आदिकका सेवन तो पहिले ही सर्वप्रकारसे त्यागने योग्य है। जहाँ इतनी सूक्ष्मताकी बात कही हो कि रंचमात्र भी व्रतोंमें दोष न लगना चाहिए अन्यथा वह पतनका कारण होगा। तो जहाँ क्षमा नहीं है, क्रूरता बनी है, ऐसे मद्य आदिकके भक्षणमें कौन पुरुष लग सकेगा ? सारांश यह है कि नाममात्रके श्रावकको भी अष्ट मूल गुणों का पालन करना चाहिए और सप्तव्यसनोंका त्याग रखना चाहिए, तब ही वह अपने जीवनमें अपना उत्थान कर सकेगा।

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥७२९॥

गृहस्थोंको पात्रदानके कर्तव्यका प्रतिपादन—श्रावकके अन्य कर्तव्य भी बताये जा रहे हैं। जो श्रावकोत्तम हैं, जो विवेकी श्रावक हैं उनका कर्तव्य है कि वे पात्रबुद्धिसे और श्रद्धासे जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट पात्रके लिए चार प्रकारका दान देना चाहिए। पात्र सम्यग्दृष्टि पुरुष ही हो सकता है। पात्रका अर्थ है योग्य मोक्षमार्गमें लगे हुए जीव। सम्यक्त्वके बिना मोक्षमार्गका प्रारम्भ नहीं होता, इसलिए सभी पात्र सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, उनमें जो पात्र व्रत ग्रहण किए हुए नहीं हैं, किन्तु श्रद्धा जिनकी पुष्ट है वे पुरुष जघन्य पात्र कहलाते हैं, और जो श्रावक व्रत ग्रहण कर लेते हैं, प्रतिमाधारी हैं वे मध्यम श्रावक कहलाते हैं और जो समस्त परिग्रहोंसे रहित निर्ग्रन्थ दिगम्बर हैं वे उत्तम पात्र कहलाते हैं। तो इन सभी पात्रोंके लिए चार प्रकारके दान जानना चाहिए। 'जीवको भयंकर विडम्बनामें पटकने वाली कषाय है लोभकषाय। जहाँ पाये हुए वैभवका उपयोग केवल अपने विषयसेवनमें अथवा मोह के विषयभूत कुटुम्बी जनोंके पालनमें लगाना कर्तव्य समझ रखा हो, अन्य जीवोंपर कुछ भी

दयादृष्टि न हो तो ऐसा पुरुष मोक्षमार्गमें क्या कदम रख सकता है ? तो उस लोभकषायको दूर करनेके लिए तथा पापकर्ममें ही तो धनका संचय होता है, उस संचयमें लगे हुए दोषोंकी निवृत्तिके लिए त्याग करना, दान करना श्रावकोंका मुख्य कर्तव्य है।

आहारदान, औषधिदान, अभयदान व ज्ञानदान इन चार दानोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता—वह दान चार प्रकारका होता है—(१) आहारदान, (२) औषधिदान, (३) अभयदान व (४) ज्ञानदान। तो ये चार प्रकारके दान योग्य पात्रोंको दिये जाने चाहिएँ। जैसा जो पात्र होता है उसमें दिया हुआ दान उस ही प्रकारके फलको उत्पन्न करता है। जैसे योग्य खेतकी विशेषतासे धान्यफलमें विशेषता उत्पन्न होती है, ऊसर भूमिमें खेती नहीं होती और योग्य भूमि जितनी विशिष्ट हो उतनी ही बढ़िया खेती बनती है, ऐसे ही योग्य पात्रको दिए हुए दान के फलकी विशेषता होती है। जैसे पात्रकी विशेषतासे दानमें विशेषता हुआ करती है उसी प्रकार दाताकी विशेषतासे भी दातारकी विशेषता बन जाती है। पात्र श्रद्धालु हो, पात्रके प्रति अपूर्व भक्ति रखता हो, उसे कोई सांसारिक सुखकी वाञ्छा न हो, एक रत्नत्रय धर्मके पालन की जिसके लगन लगी हो, ऐसे दाता पात्रके लिए दान दे तो उस दानकी भी विशेषता हो जाती है। दानकी फल भोगभूमिके सुख भोगना, यह तो बताया ही गया है, किन्तु रत्नत्रयकी विशेष भक्तिसे किया हुआ दान स्वर्गादिक सुखोंको तो देता ही है, पर वह अपवर्गका भी कारण बनता है। ये दान चार प्रकारके कहे गए हैं—यद्यपि सामान्यदृष्टिसे ये चारों ही दान पुण्यबन्धोंके विशेष कारण हैं, फिर भी इनमे उत्तरोत्तर विशेषता है—आहारदान, औषधिदान, अभयदान और ज्ञानदान—इस क्रमसे दानके नाम रखें और इनकी विशेषताको जानें। आहारदानसे तो एक दिनके लिए पात्रकी क्षुधा वेदना दूर होगी, एक बाधा मिटेगी। औषधिदानसे रोग दूर हो गया तो कुछ दिनों तक उससे आराम रहता है और वह धर्मसाधनामें लगता है। तो आहारदानसे औषधिदानकी विशेषता हुई और अभयदानसे तो वह आजन्म भयरहित बन जाता है। उससे जीवनभर उपकार है तो अभयदानकी उससे भी अधिक विशेषता हुई। ज्ञानदानकी विशेषता तो सर्वोत्कृष्ट है। इस ज्ञानदानसे जीव केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है और सदाके लिए जन्म-मरणके संकटसे दूर हो जाता है। ऐसे इस जीवके लिए सदा ही परमसहायक बनता है यह ज्ञानदान। यह ज्ञानदान एक ऐसा विशिष्ट गुण है कि जो जीव को सर्वसंकटोसे छुटाकर आनन्दधाममें पहुंचा देता है। इस कारण सभी दान श्रावकोंको करने चाहिएँ और विशेषतया उत्तरोत्तर दानोंमें अधिक प्रीति रखनी चाहिए।

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥७३०॥

कृपाबुद्धिसे कुपात्र व अपात्रके लिये दानका अनिषेध—उक्त श्लोकमें बताया गया है

कि श्रावकोंको पात्रदान करना चाहिए। अब पात्रसे बचे हुए जो अन्य जन हैं उनके लिए भी यथोचित कुछ दान किया जाना चाहिए, इसका वर्णन इस श्लोकमें किया जा रहा है। पात्र को छोड़कर शेष जो जन बचे हुए हैं वे दो प्रकारके होंगे—या तो कुपात्र होंगे या अपात्र होंगे। कुपात्रका अर्थ है कि जो पात्र तो नहीं है, किन्तु पात्र जैसा भेष बनाये हुए है वह कुपात्र कहलाता है। और अपात्र उसे कहते हैं जो कोई भेष तो नहीं बनाये हुए है, न सम्यग्दृष्टि पुरुष है, किन्तु है कोई किसी स्थितिका मनुष्य। तो श्रावकको कुपात्र और अपात्रके लिए भी यथोचित दान करना चाहिए। हाँ, इतनी विशेषता जरूर है कि इस कुपात्र और अपात्रमें पात्रबुद्धि न करना चाहिये अन्यथा सम्यग्दर्शनका भंग होगा, मिथ्यात्वका दोष आता है। कुपात्रको पात्र समझकर दान देने वाले पुरुष मोहित हैं, उनके विवेक नहीं रहा। इसी प्रकार अपात्रको भी पात्रबुद्धिसे दान दे तो वह भी कार्यकारी नहीं है। तो पात्रबुद्धिसे कुपात्र और अपात्रको दान न देना चाहिए, किन्तु कृपाबुद्धिसे, कष्टसे निवारणकी बुद्धिसे यथोचित दान देना निषिद्ध नहीं कहा गया है। पात्रके लिए जो दान दिया जाता है वह तो भक्तिपूर्वक दिया जाता है, परन्तु कुपात्र अथवा अपात्रके लिए जो दान दिया जाता है वह केवल करुणाबुद्धिसे दिया जाना ठीक माना गया है। भक्तिपूर्वक दिया जानेमें अन्तः दोष लगता है।

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्यो दयादानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥७३१॥

दीन प्राणियोंको दयादानके विधानका कथन—इस श्लोकमें यहाँ बताया जा रहा है कि शेष पुरुषोंको भी दयापूर्वक दान करना श्रावकोंका कर्तव्य है। जिसने आत्मस्वरूपको जाना है और उस ही समान समस्त जीवोंके स्वरूपको समझा है ऐसा पुरुष दयासे ओतप्रोत हुआ करता है। यदि वह श्रावक कोई क्षुधा, तृषा, रोग आदिकसे पीड़ित देख रहा हो तो उनको देखकर वह करुणासे भर जाता है और उनके कष्टनिवारणके लिए यत्न करता है। तो पापकर्मके उदयसे कोई पुरुष दुःखी हों तो ऐसे दीन दुःखी पुरुषोंके लिए भी इस करुणासागर श्रावकको दान करना चाहिए अर्थात् यथायोग्य दान सेवा करके इन पुरुषोंकी पीड़ाको भी दूर करना चाहिए।

पूजामप्यर्हतां कुर्याद्वा प्रतिमासु तद्धिया।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधी ॥७३२॥

गृहस्थधर्ममें प्रभुपूजाका विधान—विवेकी श्रावक दान करे, इस कर्तव्यका वर्णन करके अब पूजा, भक्ति आदिक कर्तव्योंका विधान करता है। जो सद्बुद्धि गृहस्थ हैं उनका कर्तव्य है कि वे अरहंत भगवानकी पूजा करें। अरहंत भगवान १३वें गुणस्थानवर्ती परमात्मतत्त्व हैं। १४वें गुणस्थानवर्ती प्रभुको भी अरहंत कहते हैं। पर उस गुणस्थानको तो लघु

अंतर्मुहूर्त काल है और विशेष निवास और व्यवहार तो १३वें गुणस्थानवर्ती परमात्माका होता है। तो जो सयोगकेवली हैं, वीतराग सर्वज्ञ अरहंत भगवान हैं उनकी पूजा करना भी सद्बुद्धि गृहस्थका कर्तव्य है, और जहाँ अंतरङ्गके दर्शन नहीं हैं तब अरहंत भगवानकी प्रतिमाकी स्थापना करना, पूजा करना कर्तव्य है। प्रतिमाको दृष्टिमें रखकर जो श्रावक पूजा करता है वह कहीं धातु पाषाणकी पूजा नहीं करता, किन्तु जिसकी स्थापना की है उसके चारित्रका, उसके गुणोंका स्मरण करता हुआ, वहाँ ही दृष्टि रखता हुआ पूजा करता है तो वह भी अरहद्भक्ति है। भक्ति भावोंसे हुआ करती है। जिसके भावोंमें अरहंत स्वरूपके प्रति अनुराग उमड़ा है, ऐसे पुरुषके अरहद्भक्ति हो ही जाती है। तो अरहंतकी पूजा करना अथवा अरहंतकी प्रतिमा में अरहंतकी स्थापना करके अरहंतकी पूजा करें और स्वर व्यञ्जनोंको स्थापित करके सिद्धकी भी पूजा करें। सिद्धभगवान शरीररहित हैं, उनकी मूर्ति तो बनायी नहीं जा सकती तब सिद्ध के वाचक जो अक्षर हैं उनमें ही सिद्धकी स्थापना करके पूजा बतायी गई है। ऐसे कितने अक्षर हैं जो कि सिद्ध परमेष्ठीके वाचक हैं ? तो कहना होगा कि सभी अक्षर सिद्धपरमेष्ठीके वाचक हैं, क्योंकि सभी अक्षरोंमें आदि करके पद भी बनाया जा सकता है कि जो सिद्धपरमेष्ठीके वाचक बनते हैं तब अ आदि स्वर, क ख आदिक व्यञ्जन इनको स्थापित करके सिद्ध भगवान की पूजा गृहस्थ श्रावक करें. इस प्रकार जैसे करुणाबुद्धि और पात्रबुद्धिसे दानका उपदेश किया था तो यहाँ भक्तको अरहंत भगवान और सिद्ध भगवानकी पूजा करनेका कर्तव्य बताया गया है। पूजामें पूजक जब अभेदभावसे तल्लीन हो जाता है तो उसकी वह भावपूजा कहलाती है और जब तक यह सद्बुद्धि रहती है कि ये अरहंत भगवान हैं, अनन्तचतुष्टयके धनिक हैं, ऐसी जब तक भेदरूप बुद्धि रहती है तब तक भी वह सच्ची भक्ति नहीं। उस समय उसकी भक्ति में जो गुणानुवाद होता है वह है द्रव्यपूजा अथवा जल चन्दन आदिक द्रव्योंके सहारेसे उनकी पूजा करना द्रव्यपूजा कहलाता है। पूजाका ध्येय क्या है कि यह भक्त अपने भक्त अपने सहज ज्ञानस्वभावमें ज्ञानको मग्न कर सके। ऐसी धुन रखने वाला श्रावक विशुद्ध वीतराग सर्वज्ञदेव के स्वरूपका चिन्तन करता है, क्योंकि उनके जो शुद्ध परिणमन प्रकट हुआ है वह आत्माके सहजस्वभावके अनुरूप होता है। उस गुणस्मरणसे सहज ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टि जगती है और सहज ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टि होनेपर परबुद्धि छूटकर स्वयंके ज्ञायकस्वभावमें ज्ञान मग्न हो जाता है। तो आत्मतत्त्वमें प्रवेशके लिए यह पूजा साधकतम बतायी गई है।

सूर्युधाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पादयोः स्तुतिम् ।
प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात् स त्रिशुद्धितः ॥७३३॥

गृहस्थधर्ममें आचार्य, उपाध्याय व साधुवोंके पूजासहित स्तवनका विधान—गृहस्थ श्रावकोंके कर्तव्य क्या हैं ? इस विषयमें अब तक यह कहा गया है कि अष्ट मूल गुणोंका धारण

करना श्रावकका प्रथम कर्तव्य है अर्थात् मद्य, मांस, मधु पञ्च उदम्बर फलोंका त्याग करना अनिवार्य धर्म है । इसके बाद कहा गया है कि ७ प्रकारके व्यसनोंका त्याग करना भी अत्यंत आवश्यक है । जो पुरुष अष्ट मूल गुणोंको धारण करेगा, सप्तव्यसनोंका त्यागी होगा, उसीको अधिकार है कि भगवतपूजा करे । तो भगवान जिनेन्द्रकी प्रतिमा स्थापित करके या स्वर व्यञ्जन स्थापित करके सिद्ध यंत्रकी पूजा करें और ।फिर बताया है कि चार प्रकारका दान देना श्रावकका रोजका कर्तव्य है । चार प्रकारके दानोंमें आहारदान, औपधिदान, अभयदान और ज्ञानदान इनकी उत्तरोत्तर विशेषता बतायी है, क्योंकि आहारदानसे तो पात्रका एक दिनका ही काम चलेगा, क्षुधा एक दिनके लिए दूर हो जायगी और औपधिसे कुछ महीनोंके लिए आराम मिल जायगा, क्योंकि रोगनिवृत्त हो गया । अभयदानसे जिन्दगीभर आरामसे रहेगा । रहनेके लिए कुटी बनवा दिया अथवा अन्य कोई अभयदान दे दिया कि जिससे वह जीवनभर रक्षित रहेगा, किन्तु ज्ञानदानसे तो भव-भवके संकट दूर हो जायेंगे, क्योंकि जन्ममरण मिट जाय और यह सिद्धप्रभु बन जाय, इससे बढ़कर और वैभव क्या होगा ? इस ज्ञानदानका फल इन चारों प्रकारके दानोंमें सर्वोत्कृष्ट बताया गया है । जिसको विद्यालय खोलकर, छात्रों को मदद करके, शास्त्रदान करके अनेक तरहसे केवलज्ञानकी परम्पराका दान कहा है । अब कह रहे हैं यह कि इतने कर्तव्योंको करता हुआ यह श्रावक आचार्य, उपाध्याय और साधु पुरुषोंकी भी पूजा करे । आचार्य, उपाध्याय और साधुके चरणोंमें स्तुतिको करके मन, वचन, कायकी शुद्धिसे अष्टद्रव्योंसे पूजा करे । दर्शनकी वास्तविक स्तुति उनके गुणोंकी स्तुतिसे होती है और जो साधुवोंके गुणोंपर दृष्टि रखता है उसको अपने गुणोंपर दृष्टि आती है और गुणदृष्टिसे गुणोंका विकास होता है, इस कारण रत्नत्रयकी मूर्ति आचार्य, उपाध्याय और साधुवों की स्तुति करते हुए पूजा करें ।

सम्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम् ।
व्रतिनां चेतरेषाम्वा विशेपाद्ब्रह्मचारिणाम् ॥७३४॥

गृहस्थधर्ममें ब्रह्मचारी, व्रती व इतर साधर्मिजनोंके सम्मानादि कर्तव्यका विधान—यहाँ तक पञ्चपरमेष्ठियोंकी भक्ति पूजाका भी वर्णन किया गया था । अब कह रहे हैं कि अन्य भी जो साधर्मीजन हैं वे व्रती हों अथवा अव्रती हों उनका भी सम्मान यथायोग्य करना चाहिये । संसारको तोड़ने वाला धर्म जैनधर्म है । इस धर्मके जितने भी अनुयायी पुरुष हैं वे सब साधर्मी जन कहलाते हैं । साधर्मी जनोंका सत्संग, साधर्मीजनोंका मिलना कितना महान उपकारक है, यह बात रोज-रोजके वातावरणसे भी विदित हो जाती है । तो साधर्मीजन जो एक जैनशासनके मार्गमें कुछ न कुछ लगे हुए हैं उनका सम्मान करना भी रत्नत्रयकी वृद्धिमें मददगार होता है । यद्यपि साधारण साधर्मी जन स्वयं रत्नत्रयमें विशेष अग्रणी नहीं हैं तो

भी ये जैनशासनके अनुयायी हैं, इतनी श्रद्धासे साधारण जनोंका भी सम्मान किया जा रहा हो तो वह भी इस श्रावककी उन्नतिके लिए ही है, और फिर उनमें जो व्रती जन हैं, ब्रह्मचारी हैं उनकी शुश्रूषा तो विशेषतया करनी चाहिये। यों साधर्मी जनोंका अनुराग भी आत्मसंयमके लिए प्रेरणा देने वाला होता है।

नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे।
देवं सम्मानादि लोकानामविरुद्धतः ॥७३५॥

व्रताढ्य नारियोंके लोकाविरुद्ध सम्मानदानादिकी जिनागममें अनिषिद्धता—जिस प्रकार व्रतयुक्त अथवा व्रतरहित साधर्मी जनोंका सम्मान करना बताया है उसी प्रकार जो व्रतधारी स्त्रियाँ हैं (महिलायें हैं) उनका भी यथायोग्य सम्मान करना जैन आगममें निषिद्ध नहीं है, अर्थात् व्रत धारण करने वाली ब्रह्मचारिणी अथवा अन्य साधर्मी महिलावोंका भी यथायोग्य सम्मान करना चाहिए। चूंकि वे महिलायें व्रतधारी हैं, रत्नत्रयमार्गमें बढ़ने वाली आत्मा है, इस कारण सम्मान करना आवश्यक है, पर जैनआगममें जितना जो कुछ सम्मान बताया गया है उतना ही सम्मान जो लोकके अविरुद्ध है सो ही करना चाहिए। लोकमें जितना सम्मान प्राप्त है उतने सम्मानको यहाँ आज्ञा दी गई है। इस प्रकार ये श्रावक सिद्ध भगवानसे लेकर साधारण साधर्मी जनों तक यथायोग्य भक्ति, विनय सेवा करनेका अपना कर्तव्य समझते हैं।

जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणं सावधानता।
यथा सम्पद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशतः ॥७३६॥

गृहस्थधर्ममें जिनचैत्यगृहादिकोंके सावधानतया निर्माणकी विधेयता—विवेकी श्रावक का यह भली प्रकार निर्णय है कि जगतमें जो कुछ भी वैभव सम्पदा प्राप्त होती है वह पुण्योदयके अनुसार प्राप्त होती है। कोई पुरुष मन, वचन, कायके श्रमसे चाहे कि मैं धनोपार्जन बहुत कर लूं, तो यह उसके वशकी बात नहीं है। यदि पूर्वकृत पुण्यका उदय है तो मामूली से श्रममें भी वैभव सम्पदाका खूब संचय होता है। जहाँ यह उसे भान है वहाँ यह भी उसके निश्चय है कि मिली हुई सम्पदासे मेरे आत्माको कोई लाभ नहीं है, क्योंकि वह समागम या तो रागका कारण होगा या विरोधका कारण होगा, उससे कोई विचित्र घटना ही बनेगी। उससे आत्माका क्या लाभ है? आत्माका लाभ तो आत्मदृष्टिसे है, तत्त्वज्ञानमें है, ऐसा भी उसके निश्चय है, तब गृहस्थावस्थामें जब परिग्रह जुटा हुआ है तो उसके यह भाव रहता है कि इस परिग्रहका सदुपयोग किसी धार्मिक उत्थानमें हो। तब धार्मिक उत्थानोंका एक मूल साधन जिनमन्दिर है। तो श्रावक जिनमन्दिरके निर्माणमें भी अपनी सावधानी रखते हैं। जिस प्रकार आरम्भ कम हो और जिन गृहनिर्माण भी हो उस प्रकारकी भी सावधानी बनाते

हैं, सो वहाँ यद्यपि कुछ न कुछ आरम्भका दोष लगता है, क्योंकि सारे सामान इकट्ठे करना, बनाना, उसमें आरम्भका दोष है, फिर भी यह बताया गया है आगममें श्रावकोंके लिए कि यहाँ थोड़ा सावद्य दोष लगता है, थोड़ा हिंसा पाप लगता है, लेकिन जिनमन्दिरके निर्माण का फल विशेष है, उससे बहुत अधिक लोग लाभ लेंगे। देखिये—मनुष्योंपर प्रभाव पड़ता है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका। जैसा द्रव्य होता है उस प्रकारका भाव उत्पन्न होता है। जैसे किसी व्रती, सज्जन विरक्त ज्ञानी पुरुषका समागम मिलता है तो उसके सामने बैठकर उस ही प्रकारके भाव चलते हैं और मोहियोंका, अज्ञानियोंका संग मिलता है तो उस ढंगसे उसका परिणाम होने लगता है। तो जैसे द्रव्यका, जैसे मनुष्यका संग प्राप्त हो उस प्रकारके परिणाम बनते हैं। कालसे देखिये——जैसा समय होता है वैसा भाव बनता है। जैसे ब्रह्ममुहूर्तका समय प्रातःकालका समय, कैसा ही क्रूर पुरुष हो उसकी क्रूरतामें कुछ न कुछ अन्तर आता है। प्रातःकालीन समय हो गया है, दोपहरका, शामका, रात्रिका समय जैसा मोहीजनोंपर गुजरता है, सुबहके समयमें उसपर भी कुछ न कुछ असर होता है। तो जैसा समय होता है वैसा प्रभाव भी पड़ता है। तो ऐसे ही समझना चाहिये कि जैसा क्षेत्र मिलता है वैसा प्रभाव पड़ता है। म्लेच्छ क्षेत्रोंमें मुनियोंके और ही प्रकारके परिणाम रहते हैं, आर्यक्षेत्रमें और प्रकारके रहते है और घरमें, दूकानमें, बाजारमें परिणाम और प्रकारके रहते हैं। तो मन्दिरमें परिणाममें कुछ न कुछ विशुद्धिकी ओर ही बढ़ते हैं, कषायें मंद होती हैं और मन्दिर एक ऐसा उत्तम क्षेत्र है कि जहाँ भक्तिके परिणाम बढ़ें, कषायें मन्द हों। तो ऐसे क्षेत्रका, मन्दिरका निर्माण करना भी श्रावकका कर्तव्य है। मंदिरमें जब जिनप्रतिमाके दर्शन किये जाते, सूक्ष्मदृष्टिसे जब उनकी मुद्राको निरखते हैं तो इस तरहसे निरखा जाता है कि वहाँ जिसकी स्थापना की है उसका चरित्र, उसकी वीतरागता, उसका प्रताप इसके ज्ञानमें आने लगता है। और जब साक्षात् अरहंतका स्मरण होता है—ओह ! ऐसे समवशरणमें विराजमान अरहंतदेव रागद्वेषसे रहित, लोकालोकके जाननहार, कैसी उनकी स्थिति है, बस वही सर्वोत्कृष्ट ऋद्धि है, वही विभूति है और जगतमें ये सब वैभव तृणवत् है, निःसार है, इनमें कुछ भी सार नहीं है, ऐसा उसे परिचय होता है, और इसमें उत्कर्ष वाली उसके भावना जगती है। इस लोकमें मुझे कुछ विभूति न चाहिए, केवल एक मेरे ज्ञानमें विशुद्धि बढ़े और रागद्वेष मोह मेरे दूर हों, बस यही विभूति चाहिए, अन्य कुछ भी मुझे वाञ्छा नहीं है, ऐसा इसका परिणाम होता है, और जब जीवके शुद्ध परिणाम होते हैं तो कर्मबन्ध भी होगा तो विशिष्ट पुण्यकर्मका बन्ध होता है, और ऐसे शुद्ध भावोंमें उसके प्रकाश भी सही बना रहता है। तो जैनमन्दिरोंसे लोग पुण्यलाभ लेते हैं, मोक्षमार्गका लाभ लेते हैं, अनेक पुरुषोंका कल्याण होता है। इसलिए जैनमन्दिरोंका निर्माण कराना भी श्रावकोंका कर्तव्य बताया गया है।

सिद्धानामर्हतांञ्चापि यन्त्राणि प्रतिमा शुभाः ।
चैत्यालयेषु संस्थाप्य प्राक्प्रतिष्ठापयेत् सुधी ।।७३७।।

सागारधर्ममें अर्हद्बिम्ब व सिद्धयन्त्रकी प्रतिष्ठापना व संस्थापनाकी विधेयता—जैन-मन्दिर बनवाया श्रावकने, अब उस जैनमन्दिरमें क्या चीज विराजमान करनी चाहिये ? उसका वर्णन इस श्लोकमें किया जा रहा है । वहाँ सिद्ध भगवानके यंत्र और अरहंत भगवान की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिए । उस प्रतिमाकी प्रतिष्ठा कराकर स्थापित करना चाहिये । सिद्ध भगवान तो शरीररहित हैं, इसलिए उनकी तो कोई प्रतिमा बन नहीं सकती है, तब फिर उनका आकार बनाया जायगा । सिद्ध भगवानके वाचक जो शब्द हैं अथवा जो आदि-आदिके अक्षर पाये जाते हैं उनकी स्थापना करके सिद्धयंत्र बनाये जाते हैं । वे कितने अक्षर हैं ? सभी अक्षर आते हैं । तो अक्षरोंसे सिद्धका यंत्र स्थापित करें और अरहंतकी प्रतिमायें स्थापित करें । और उन प्रतिमाओंका प्रथम प्रतिष्ठापन करना चाहिये पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा । यंत्र-मंत्रपूर्वक प्रतिमाओंमें प्रभुकी स्थापना की जाती है, उन यंत्रोंकी शक्तिसे वह प्रतिमा पूज्य हो जाती है । ऐसी प्रतिमा और सिद्ध यंत्रोंकी स्थापना करनी चाहिए । श्रावकोंके कर्तव्य सम्पूर्ण रीतिसे बताये जा रहे हैं कि विशेष रीतिसे बतानेपर इस ग्रंथका बहुत विस्तार बन जाता है । यहाँ तक इतनी बात बतायी गई है कि अष्ट मूल गुण धारण करें, सप्तव्यसनोंका त्याग करें, जिनप्रतिमाके जिन-यंत्रोंकी पूजा करें, चार प्रकारका दान दें, उपाध्याय और साधुवोंकी वन्दना करें, जैनमन्दिरोंका निर्माण करें और प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा कराकर उनकी स्थापना करें । अब अन्य कर्तव्य बतला रहे हैं जो कि श्रावकोंके कर्तव्य हैं ।

अपि तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः ।
श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ।।७३८।।

श्रावकधर्ममें संयमकी विराधना न करके तीर्थयात्रादिकी विधेयता—विवेकी श्रावक तीर्थ आदिक यात्रामें अपना मनउद्यमी बनाये और तीर्थ आदिक यात्रा करके संयमकी विराधना न करे । तीर्थवन्दनासे जो पुण्यसंचय होता है और यथासमय भगवानके चारित्रका स्मरण करके जो वीतरागताके लिए उत्कृष्ट मिलन है वह मोक्षमार्गके लिए बड़ा काम करता है, सो श्रावक तीर्थ आदिक यात्रा करे, बड़े हर्षपूर्वक करे, किन्तु यह ध्यान रखे कि वहाँ संयमकी विराधना न हो । जैसे पहाड़पर चढ़े तो रात्रिको न चढ़े । जब कुछ उजेला हो तब वन्दनाके लिए जाना । रात्रिको चढ़नेपर संयमकी विराधना है, और विशेषकर जैसे चातुर्मासमें और कार्तिक माह तक भी और कुछ मंगसिर माह तक भी देखा गया है कि रात्रिमें केचुवा, लट वगैरा बहुत हुआ करते हैं, तो उनकी हिंसा होगी । यद्यपि गृहस्थ लोगोंको इस बातमें सुविधा बहुत प्राप्त है कि वे रात्रिको पहाड़पर चढ़ें, क्योंकि ११-१२ बजे तक खाने-पीनेके समय तक

पहाड़से वन्दना करके नीचे लौट आते हैं। तो देखिये—यहाँ अपने शरीरकी सुविधासे ही तो रात्रिमें वन्दना की, लेकिन इस बातके लिए धर्म इजाजत नहीं देता है। अगर भली-भाँति विधिपूर्वक यात्रा करनी है तो सुबहसे ही यात्रा करनी चाहिए, चाहे शाम तक लौटकर वापिस आ पायें और चाहे एक उपवास हो जाय, कुछ भी हो, लेकिन रात्रिमें तीर्थवन्दना करनेकी धर्ममें इजाजत नहीं है, क्योंकि उसमें संयमकी विराधना है। भले ही भाव यह भरते जा रहे हैं कि हम वन्दना कर रहे हैं, नीचे अनेक जीव मरते जा रहे हैं, तो यह कोई उचित वंदना नहीं, यह कोई विवेकपूर्ण वन्दना नहीं। इस जीवहिंसासे बचनेके लिए ही विवेकी पुरुष रात्रिमें वन्दनाके लिए नहीं जाया करते हैं। अब रही असुविधावोंकी बात तो भला बतलावो—मौज भी बना रहे और पुण्यलाभ भी मिल जावे तो ये दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकेंगी? कोई कहे कि दिनमें गर्मी हो जाती है, इसलिए दिनमें वन्दना करना कठिन है, क्योंकि पैर जलेंगे, तो भाई शीतकालमें वन्दना करो, शीतकालमें तो दिन भर ठंडा ही बना रहता है। अब कोई कितने ही प्रश्न इस बाबत उठाएं, पर वे सभी प्रश्न शारीरिक मौजको दृष्टिमें रखकर उठायेंगे, मगर रात्रिमें वन्दना करनेमें लिए धर्ममें इजाजत नहीं है। तो श्रावक जन तीर्थवन्दना आदिकके लिए मनसे खूब उत्साह रखें, लेकिन तीर्थ आदिकके समय संयमकी विराधना न करें, जीवहिंसा न हो, ऐसी दृष्टि रखकर विवेकपूर्वक तीर्थयात्रा करनी चाहिए। तीर्थयात्रा करनेकी भी विधि भली रखना चाहिए। जैसे कि लोग रात्रिको पहाड़पर चढ़ने लगते, तो यह तो बिल्कुल धर्मके विरुद्ध बात है। करनी है यात्रा, पुण्यलाभ ही करना है तो संयमसहित दिनमें ही करनी चाहिए। दूसरे—तीर्थवन्दनामें अधिकतर लोग ऐसा सोच लेते हैं कि थोड़े ही समयमें जल्दी ही हमारी वन्दना पूरी हो जाय तो भला बतलावो—सही ढंगसे वहाँ वन्दना कहाँ हो पायगी? वहाँ तो बड़ी जल्दी-जल्दी चलेंगे, कहीं ढंगसे प्रदक्षिणा वगैरा भी न करेंगे, कुछ भावोंमें निर्मलता भी न लायेंगे, बस जल्दी-जल्दी दौड़कर सारी वन्दना कर आये और सन्तोष कर लिया कि हमारी वन्दना पूरी हो गयी तो भला बतलाओ ऐसी वन्दनासे क्या पाया? अरे चाहे दो, तीन, चार आदि इस तरहकी वन्दनायें न करते, अच्छे भावसे, सही विधिसे, संयमसहित केवल एक बार ही वन्दना कर लेते तो उससे लाभ भी मिलता। अरे जल्दी-जल्दी हापड़-धूपड़का काम करनेसे वन्दनाका सही लाभ नहीं मिल पाता, इसलिए बताया है कि वन्दना दिनमें संयम सहित और अच्छे भावोंसे हो।

नित्ये नैमित्तिके चैवं जिनबिम्बमहोत्सवे।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः ॥७३९॥

सागारधर्ममें नित्य, नैमित्तिक, जिनबिम्बप्रतिष्ठादि महोत्सवोंकी यथाशक्ति विधेयताका स्मरण—अब श्रावकके अनेक कर्तव्य बताकर इस श्लोकमें यह कर्तव्य बता रहे हैं कि नित्य

नैमित्तिक जो विधान महोत्सव किए जाते हैं उनमें शिथिलता न करनी चाहिए। नित्य महोत्सव, रोज-रोजके पूजन अभिषेक आदिक विधान, शास्त्रसभा आदिक नित्यके आरम्भ हैं, इनमें शिथिलता न लानी चाहिए। जीव एक भावरूप पदार्थ है। सिवाय भावोंके, सिवाय ज्ञानज्योतिप्रकाशके और जीवमें बात ही क्या बनी है ? हाँ कर्मोदय है सो जीवमें भाव उल्टा हो रहे हैं, विकल्प मच रहे हैं, विषयकषायोंके परिणाम होते हैं, पर हुए तो परिणाम ही। पुद्गलकी भाँति आत्मा कोई मूर्तिक चीज नहीं है। यह तो भावरूप आत्मा है, तब इसकी शान्तिके लिए, इस आत्माके उद्धारके लिए भावोंको शुद्ध बनाना है, और भावशुद्धि वर्षमें एक दो बार कोई धार्मिक कार्य कर लेने मात्रसे न बन पायगी, किन्तु रोज-रोज ही इसका संस्कार डालना होगा। जैसे लोग कहीं १ वर्षमें १०-१५ दिनका विधान ठान लेते, उस विधान सम्बन्धी व्यवस्थामें करीब महीना भरका समय लग गया। अब उसके बाद वर्ष भरके ११ महीने तक धर्मकार्य करनेसे छुट्टी लिए बैठे रहे, दर्शन, पूजन, ध्यान आदि धार्मिक कार्योंसे दूर रहे तो भला बतलाओ इस तरहसे कहीं भावोंमें विशुद्धि आ सकती है ? अरे अपने भावों को विशुद्ध बनानेके लिए रोज-रोज अपने उस तरहके संस्कार डालने होंगे, तब कहीं भाव विशुद्ध बन पायेंगे। अब देखो—जिसने वर्षमें महीना-पन्द्रह दिन तक जब धार्मिक उत्सवमें अपना समय तथा श्रम आदि लगाया तो वह यों समझो कि अपने सम्मान, यश आदिकी चाह से किया। यदि मोक्षमार्गमें बढ़नेकी दृष्टिसे वह धार्मिक कार्य किया होता तब तो फिर बारहों महीने उसका कुछ न कुछ संस्कार बना रहता। इस कारण नित्य महोत्सवमें शामिल होना बहुत आवश्यक बात है। उसमें शिथिलता न करनी चाहिए, और भी सोचिये—यह मनुष्य-जीवन हम आपको मिला है तो यह जीवन यों ही बार-बार नहीं मिल पाता। संसारके कीड़ा मकोड़ा, पशु-पक्षी आदिक कितने ही जीव हैं। देखिये—उनकी क्या दुर्दशा हो रही है, ऐसी ही दशायें तो कभी हम आपको भी मिली थी। आज मनुष्य हुए हैं, श्रेष्ठ मन मिला हुआ है, बात बोल लेते हैं, दूसरोंका भाव समझ लेते हैं, अपने भाव वचनों द्वारा कह देते हैं। कितनी सुविधायें हम आपको मिली हुई हैं, ऐसा सुविधापूर्ण मनुष्यभव पानेका लाभ किस बातमें है सो बताओ ? क्या लाखों करोड़ोंका धन जोड़कर रख जानेमें इस आत्माका हित है ? अरे जिन्दगी है, मरण समय आयगा, यहाँसे मरकर किसी अन्य गतिमें जाना पड़ेगा, यहाँका एक धागा भी साथ नहीं जा सकता, तो फिर इस वैभवका संचय कर जानेमें आत्माका लाभ नहीं। तो क्या यहाँके प्रजा जनोंमें कुछ अपनी इज्जत धर जानेमें लाभ है ? अरे ये प्रजाके लोग भी कर्मोंके प्रेरे हैं। आज जीवन है, यहाँसे मरण करके कहीं जायेंगे, तो कौन यहाँ मेरा साथी है, कौन यहाँ मेरा मददगार है ? यहाँका कोई भी समागम इस जीवके लिए मददगार नहीं है, तब फिर क्या करना चाहिये ? धर्म ही एक शरण है। धर्म ही आत्माके शुद्ध

स्वरूपकी दृष्टि। आत्माके शुद्ध स्वरूपका भान होना, इस ओर ही लगन होना, तो यह निर्णय रखें कि मेरा जीवन है धर्मके लिए। तन, मन, धन, वचन आदि जो कुछ भी प्राप्त हुआ है वह सब है इस धर्मके लिए, न कि आराम, भोग अथवा सांसारिक मौजोंके लिए। ऐसा जिसका निर्णय है वह पुरुष रोज-रोज ही नित्य महोत्सवमें शामिल होगा, वहाँ शिथिलता न करेगा। इसी तरह जो नैमित्तिक महोत्सव हों, जैसा विधान हो, अष्टाह्निका आदिक पर्व हों, ऐसे कोई नैमित्तिक उत्सव आयें तो उनमें भी शामिल होना चाहिये। और जो तत्त्वज्ञ पुरुष हैं उन पुरुषोंको तो शिथिलता करनी ही न चाहिए, क्योंकि ऐसे महोत्सवके समय अनेक विद्वान लोग एकत्रित होते हैं, धर्मचर्चा होती है, आत्मकल्याणकी दिशा वहाँ प्राप्त होती है, तो इस तरह नित्य कार्योंमें, नैमित्तिक महोत्सवोंमें और ऐसे प्रासंगिक सभी धार्मिक कार्योंमें शामिल होना चाहिए। वहाँ शिथिलता न करनी चाहिये।

संयमो द्विविधश्चैव विधेयो गृहमेधिभिः।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥७४०॥

सागारधर्ममें अप्रतिम व सप्रतिम संयमकी विशेषता—यद्यपि पुरुषोंको दो प्रकारका संयम धारण करना चाहिए। वह संयम दो प्रकारका यों कहा गया है कि किसीके तो प्रतिमारूप व्रत होता है और किसीके विना प्रतिमारूप व्रत होता है। जो व्रत नियमपूर्वक अगली-अगली प्रतिमाओंमें बहुत-बहुत प्रतिमाओंके साथ-साथ पालन किये जाते हैं उन्हें प्रतिमारूप व्रत कहते हैं। गृहस्थोंके अथवा श्रावकोंके ११ प्रतिमायें होती हैं। जो जितनी प्रतिमाओंको धारण करता है वहाँ तककी समस्त प्रतिमाओंका विधिपूर्वक पालन होता है वह तो प्रतिमारूप व्रत कहलाता है और किन्हींके प्रतिमारूप व्रत तो नहीं है, किन्तु अभ्यास रूपसे किसी प्रतिमाका पालन किया जा रहा है तो वहाँ प्रतिमारूप व्रत नहीं कहा, किन्तु उसे अनियत व्रत कहा है। तो प्रतिमारूप व्रत धारण करनेमें विशिष्ट कर्मनिर्जरा भी है और शुभ कर्मबन्ध भी है। जो श्रावक प्रतिमारूप व्रत पालन करनेमें असमर्थ हैं वे अनियत रूपसे पालन करते हैं। इस तरह प्रतिमारूप और विना प्रतिमाके संयम धारण करनेकी प्रवृत्ति गृहस्थजनोंके होती है। सो ऐसे दोनों प्रकारमें संयमका धारण करना श्रावकका कर्तव्य है और यह कर्तव्य गृहस्थ पुरुषोंका आत्मकल्याणके अर्थ भी है और विशिष्ट पुण्यबन्धका कारणभूत है। इस तरह पूर्वोक्त मूल गुरुके साथ-साथ ऐसे श्रावकोंके उत्तम गुणका ग्रहण करना श्रावकोंका प्रधान कर्तव्य है।

तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यं चानतिवीर्यसात् ॥७४१॥

सागारधर्ममें यथाशक्ति तपश्चरणकी विधेयता—तप १२ प्रकारके कहे गए हैं—६ बाह्यतप और ६ आभ्यंतरतप। बाह्य तप तो अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरसंख्यान, रसपरित्याग,

विविक्त शय्यासन और काय क्लेश आदि ६ प्रकारके हैं और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग एवं ध्यान ये ६ बाह्यतप हैं। बाह्य तप यों कहलाते हैं कि इनका सम्बन्ध बाह्य वृत्तियोंसे है। दूसरे लोग भी इन तपोंको जान जाते हैं कि यह पुरुष इस तपको तप रहा है। इस कारणसे ये बाह्य तप कहलाते हैं। अंतरङ्ग तपका अर्थ यह है कि भीतरी परिणामसे जिसका सम्बन्ध है। दूसरे लोग जिस तपको जान न सकें अथवा जिसे अन्य लोग भी न कर सकें उसे आभ्यंतर तप कहते हैं। ऐसे दोनों प्रकारके तपोंको गृहस्थ अपनी शक्ति न छिपाकर, अपनी शक्तिका उल्लंघन न करके इनका पालन करे। यह गृहस्थका प्रधान कर्तव्य है। यद्यपि गृहस्थजन इन तपोंका पूर्णरूपसे पालन नहीं करते, इसी कारण १२ प्रकारके तपोंका आचरण मुनियोंका कर्तव्य कहा गया है, फिर भी अपनी शक्ति माफिक इन तपोंका भी तपना गृहस्थोंका कर्तव्य है।

उक्त दिङ्मात्रतोऽप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम्।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशात्सविस्तरम् ॥७४२॥

गृहस्थधर्मके संक्षिप्त वर्णनका उपसंहार—यहाँ तक प्रसङ्गवश कुछ गृहस्थोंके व्रतका वर्णन किया गया है सो वह दिग्दर्शन मात्र है, अर्थात् गृहस्थ किस दशामें व्रतको धारण करता है अर्थात् किस पद्धतिसे गृहस्थोंका व्रत चलता है, इसका संकेत मात्र दिया गया है। विस्तारपूर्वक वर्णन तो उपासकाध्यायका प्रसंग पानेपर कहा जायगा। यहाँ ग्रंथकार अपने एक संकल्पका परिचय दे रहा है। गृहस्थका व्रत बहुत विस्तारपूर्वक कहनेका इसका भाव है, वह कहा जायगा एक स्वतंत्र प्रसङ्ग बनाकर। यह अमूढ़दृष्टि अङ्गका प्रकरण है और वहाँ मूढ़दृष्टि न होनी चाहिए। इस सम्बन्धमें धर्ममें धर्मबुद्धिकी बात कही जा रही है। तो उस प्रकरणके अनुसार धर्म दो प्रकारके होते हैं—(१) गृहस्थधर्म और (२) मुनिधर्म। तो यों प्रसंग आयगा गृहस्थधर्मका, किन्तु विस्तारपूर्वक वर्णन तो कोई स्वतंत्र प्रकरण करके आगे उपासकाध्याय अनुसार कहा जायगा।

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ॥७४३॥

अनगार संतोंके २८ मूलगुणकी सर्वतः विधेयता—२८ मूल गुण जो ऊपर बताये गए हैं वे गुरुवरोंके इस तरहके मूल गुण हैं जैसे कि वृक्षका मूल होता है। मूल बिना वृक्ष ठहर नहीं सकता, इसी तरह मूल गुण बिना मुनि कहला ही नहीं सकता। इस कारण ये २८ मूल गुण अतीत आवश्यक हैं। यों २८ मूल गुणोंमें से मुनियोंके न तो एक भी कम होता है और न इनसे कोई अधिक मूल गुण होता है। जैसे कोई इन मूल गुणोंमें किसीमें भी कमी रखे तो उसमें साधुता नहीं रहती है और इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रवृत्तिका भी मूल

गुण कहलाने लगे तो यह भी बात नहीं बनती है। तो साधुवोंके जो ऊपर २८ मूल गुण कहे गए हैं वे सबमें समानरूपसे पाये जाते हैं। इसका पहिले बहुत वर्णन किया गया था कि आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों प्रकारके गुरु एक ही समान २८ मूल गुणके धारी होते हैं तथा उत्तर गुणोंमें इन सभी गुरुराजोंका प्रयत्न होता है। इस कारण ये तीनों परमेष्ठी गुरुताकी दृष्टिसे समान हैं और ऐसे गुरुमें गुरुबुद्धि करना सो अमूढ़दृष्टि अङ्ग कहलाता है।

सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम्।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥७४४॥

समस्त मूल गुणोंके धारणसे ही मुनिव्रतकी सिद्धि—२८ प्रकारके जो मूल गुण मुनियोंके बताये गए हैं उन मूल गुणोंका सम्पूर्ण रूपसे पालन करनेसे मुनिव्रतकी सिद्धि होती है। इन मूल गुणोंमें २१ मूल गुण तो आत्मसाधना और आत्मभावसे सम्बन्धित हैं। जैसे ५ महाव्रतोंका पालन, समितियोंका पालन, आवश्यकका पालन, इन्द्रियपर विजय करना और ७ गुण—शारीरिक क्रियावोंके किस तरह उपदेश करें, किस तरहसे शारीरिक निर्वाह करें, उससे सम्बंधित है। जैसे खड़े-खड़े एक बार भोजन करना, केशलोंच करना, स्नान न करना, जमीनपर उठना, सोना आदिक रूपसे निर्वाहकी बातें बतायी गई हैं कि किस तरह वे जीवन का निर्वाह बनायें? तो ऐसे दोनों ही प्रकारका जहाँ सम्बन्ध है, ऐसे दो मूल गुणोंका समस्त रूपसे पालन किया जाय तब ही वह मुनिव्रत कहलाता है। उनमेंसे कुछ मूल गुणोंका ही पालन करें तो उससे मुनिव्रत अपूर्ण रहता है और जितने अंशमें मूल गुणमें न्यूनता होती है, समझना चाहिए कि उतनी ही मुनिव्रतमें न्यूनता होती जाती है।

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवस्सयमचेलमन्हाणं।
खिदिसयणमदंतमणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥७४५॥
एते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जैनशासने।
लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञका ॥७४६॥

यतियोंके २८ मूलगुणोंका निर्देश व उत्तरगुणोंका संकेत—वे २८ मूल गुण कौन-कौनसे हैं? उसका वर्णन उक्त गाथामें किया गया है। ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियका निरोध, ६ आवश्यकका पालन, केशलोच करना, वस्त्रपरित्याग करना, स्नान न करना, पृथ्वी पर सोना, दंतधावन न करना, खड़े-खड़े आहार लेना, एक बार भोजन करना, ये मुनियोंके २८ मूल गुण बताये गए हैं। इन मूल गुणोंमें यह भली-भांति सिद्ध होता है कि २१ कर्तव्य तो आत्मपालनके लिए है और ७ कर्तव्य शारीरिक पालनके लिए हैं। यद्यपि मुनिराज शरीर से भी अत्यन्त विरक्त रहते है, शरीरसे भिन्न ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनवरत ध्यान रखते हैं, फिर भी संयमकी सिद्धि इस मनुष्यभवमें करना है और असमयमें मृत्यु कर लेनेसे न जाने

कैसा कहाँ जन्म होगा ? समाधिके बिना मरण करनेसे तो जन्म-मरणकी परम्परा ही बढ़ेगी । इस कारण विवेक करके इस शरीरका भी कुछ पालन-पोषण कर लें, तो वह किस प्रकार करना चाहिए, उसके वर्णनमें शेषके ७ गुण बताये गए हैं । इस तरह जो मुनियोंके २८ मूल गुण जैनशासनमें कहे गए हैं वे मूलतः सभी गुरुराजों द्वारा पालन किए जाते हैं, और इसके अतिरिक्त ८४ लाख उत्तर गुण कहे गुए हैं, वे भी गुरुजनों द्वारा धारण किए जाते हैं । यहाँ इतनी विशेषता जान लेनी चाहिए कि मूल गुणोंका पालन तो गुरुजनोंके अतीत आवश्यक है । उसके बिना ये साधु ही नहीं कहला सकते हैं, पर अपने गुणोंका पालन शक्तिके अनुसार होता है । वे शक्तिको नहीं छिपाते हैं । कारण यह है कि जिन गुरुजनोंने यह जाना है कि ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वमें ज्ञानको मग्न किए जानेपर ही कल्याण सम्भव है और इस ही समाधिबलसे कर्मोंकी निर्जरा हो सकती है और निर्जरा होनेपर प्राप्त हुए मोक्षमें ही सर्वकल्याण है, अतएव इस मोक्ष कल्याणकी धुन रखने वाले साधुजनोंको और कुछ क्रियायें कैसे सूहा सकती हैं ? तो इस ही धुनमें रहने वाले साधुजन उत्तर गुणोंमें पूर्ण शक्ति लगाकर प्रयत्न करते हैं ।

ततः सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदितः ।
प्राणिसंरक्षणं मूलमुभयत्राऽविशेषतः ।।७४७।।

सागारधर्म व अनागारधर्म दोनोंमें प्राणिसंरक्षणकी मौलिकता—उक्त प्रकार जो श्रावकों और मुनियोंके धर्मका वर्णन किया है उस धर्मके स्वरूप बतानेके प्रारम्भमें धर्म दो प्रकारका है, ऐसा संकल्प करके जो दो प्रकारका धर्म बताया गया है सो उन दोनों प्रकारके धर्मोंमें अर्थात् श्रावक और मुनियोंके धर्मोंमें सामान्य रीतिसे यदि एक मौलिक तत्त्वकी बात कही जाय तो कहनी चाहिए कि अहिंसा व्रत ही मूल गुण है । श्रावकोंने भी अपने गुणोंके पालनमें अहिंसा व्रतकी पुष्टि की है और मुनियोंके मूल गुणोंमें भी अहिंसा व्रतका ही समर्थन किया गया है-अर्थात् दोनोंके व्रतोंका उद्देश्य प्राणरक्षा है । गृहस्थधर्ममें तो एक देश प्राणरक्षा की जाती है और मुनिधर्ममें सर्वप्रकारसे प्राणरक्षाकी बात हुआ करती है । ऐसी अहिंसा मिलेगी दोनों धर्मोंके पालनमें । वहाँ मोक्षमार्ग भी चल रहा हैं और शुभ पुण्यबंध भी होता है जिसके कारण जितना संसार शेष रह गया है वहाँ धार्मिक वातावरण मिलेंगे और ज्ञानस्वरूप निज तत्त्वकी दृष्टि करके कल्याणलाभ हो सकेगा ।

उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद्व्रतकदम्बकम् ।
सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ।।७४८।।

सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिके लिये धार्मिक क्रियाओंका वर्णन—२८ मूल गुण और श्रावकोंके ८ मूल गुण तथा दोनोंके उत्तर गुणोंमें जो कुछ भी कहा गया है वह सब सावद्य योगकी निवृत्तिके लिए कहा गया है । सावद्य योग कहते हैं प्राणिहिंसा होनेको । तो सभी प्रकारके

इन कर्तव्योंमें प्राणियोंकी हिंसाका परिहार है। अब प्राणिहिंसाका मतलब है स्वकीय प्राण-हिंसाका त्याग और परजीवके प्राणहिंसाका त्याग। रागद्वेष करके अपने आपमें संक्लेश और विषमता बनाना यह तो अपने प्राणोंकी हिंसा है, क्योंकि आत्माका प्राण है शुद्ध चैतन्यभावमें। शुद्ध चैतन्यभावमें शुद्ध चैतन्यभावकी इसमें अरक्षा है और दूसरेके प्राणोंको दुःखाना, उनके भावोंमें संक्लेश दिलाना, यह है परप्राणोंकी हिंसा। सो दोनों प्रकारकी हिंसाकी निवृत्तिके लिए ये सर्व ब्रत कर्तव्य बनाये गए हैं।

अर्थाज्जैनोपदेशोयमस्त्यादेशः स एव च।
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्ब्रतमुच्यते ॥७४९॥

सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिकी ब्रतरूपता—उक्त श्लोकको स्पष्टीकरण रूपसे कहा जा रहा है कि जिन-मतका यह आदेश है कि सर्व सावद्ययोगकी निवृत्ति है और सर्व सावद्ययोगकी निवृत्तिका ही नाम ब्रत है। सावद्य नाम है पापकर्मका। रागद्वेष मोह परिणाम उत्पन्न होना यह ही पापभाव कहलाता है। मोहमें पाप करते हुए प्राणियोंको ग्लानि नही आती और न वे अपने आपमें पापवृत्तिको समझ पाते है। यह तो महापाप हैं। पाप करते जानेपर भी पाप समझमें न आये, यह तो महापाप कहलाता है। भला कुछ प्रयोजन नहीं इस जीवका कि किसी भी दूसरे जीव या अन्य पदार्थका राग बढ़ाकर कुछ इसको लाभ मिले, लेकिन यह समझता है उस मोहमें अपना लाभ—मैंने बहुत कुछ बात प्राप्त कर ली, मैं बहुत सुखी हो गया, इस तरहकी धारणा बनाकर मोही जीव परजीवोंसे, परवस्तुवोंसे रागको करता है। तो यह है मोहभाव। मोह रागद्वेष ये ही पापभाव है और इस पापभावकी प्रेरणासे अन्य जीवों के बध हो जाया करते हैं। तो सर्व साध्ययोगमें जीवका कल्याण नहीं है, अतएव उसकी निवृत्ति हो जानेको ही ब्रत कहते है। अब वह सर्वसावद्य योग क्या कहलाता है ? उसका स्व-रूप बतला रहे हैं।

सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिर्यदर्थतः।
प्राणच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥७५०॥
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते।
सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥७५१॥

सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिका निरुक्त्यर्थ—सर्वसावद्ययोग शब्दमें ३ शब्द हैं—सर्व, सावद्य और योग। सावद्य शब्दमें भी २ शब्द है—स और अवद्य, तो सभी शब्दोंको निपेध्य करते हुए सर्वसावद्ययोगका स्वरूप कहा जायगा। सर्वका अर्थ है अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वृत्ति अर्थात् अन्यदृष्टिसे भी और बाह्य प्रवृत्तिसे भी अवद्य कार्य करना सो तो है सर्वसावद्य और अन्तर्दृष्टि बहिर्वृत्ति दोनोंसे उनका त्याग करना सो है सर्वसावद्ययोगनिवृत्ति। तो सर्वसावद्ययोगमें सर्व

का अर्थ तो हुआ अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग व्यापार और सावद्य शब्दका अर्थ हुआ प्राणोंका छेद करना। अविध सहित जो व्रत है उसका नाम है सावद्य। सावद्यका नाम हिंसा भी कह सकते हैं और योग शब्दका अर्थ है उस सावद्यके विषयमें उपयोग लगाना। इसका अर्थ है सर्वसावद्ययोग। तो ऐसा उपयोग जो पापोंमें लगाया जाता है, प्राणिहिंसामें जो विचारधारा चलायी जाती है तो ऐसा उपयोग दो प्रकारका होता है—(१) बुद्धिपूर्वक उपयोग और (२) अबुद्धिपूर्वक उपयोग। बुद्धिपूर्वक उपयोग तो समझमें आ जाता है और कभी-कभी खुद भी महसूस किया करते हैं कि कार्य करना अनर्थ है, पर सूक्ष्म जो अबुद्धिपुर्वक उपयोग है वह ग्रहणमें नहीं आ पाता है, किन्तु पापबन्ध दोनोंमें चलता है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकारके प्राणोंका नाश करनेके लिए अपने उपयोगकी प्रवृत्ति करनेका नाम है सर्वसावद्ययोग। अन्तरङ्ग प्राण है चैतन्य ज्ञानदर्शन सुख शान्ति अनाकुलतापूर्वक रहना। यही है आत्माका धर्म। जो प्राणी इसका जहाँ विघात हो वह कहलाता है अन्तरङ्ग प्राणका विघात अर्थात् हिंसाकी तरफ परिणामोंका लगाना इसका नाम है सर्वसावद्ययोग। और बाह्य प्राणोंका नाश करना यह है बाह्यप्राणविघात। तो अन्तरङ्ग सावद्यप्राण हुआ भावप्राणका विनाश करना और बाह्यसावद्य हुआ द्रव्यप्राणोंका विनाश करना। तो जब बुद्धिपूर्वक ऐसी हिंसा करनेके लिए चित्त उद्यमी होता है तो वह हुआ स्थूलसावद्ययोग और कर्मविपाकवश भाव हो गए, प्रवृत्ति हो गयी प्राणनाशके लिए, पर वे इतना सूक्ष्म हैं कि अज्ञातरूप रह गए। तो अज्ञात भावोंसे हिंसाके लिए परिणामोंका उपयुक्त होना, यह कहलाता है सूक्ष्मसावद्ययोग। तो दोनों प्रकारके सावद्ययोगका दोनों ही प्रकारसे त्याग करना सो सर्वसावद्ययोग निवृत्ति कहलाता है। इस ही निवृत्तिरूप व्रतका स्वरूप कहा जा रहा है।

तस्याभावोनिवृत्तिः स्याद् व्रतं वार्थादिति स्मृतिः।
अंशात्साप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोपि तत् ॥७५२॥

सर्वसावद्ययोगकी आंशिक निवृत्तिमें आंशिक व्रत व सम्पूर्ण निवृत्तिमें सम्पूर्ण व्रतका प्रतिपादन—उक्त श्लोकोंमें सर्वसावद्ययोगका स्वरूप कहा गया है। उस सर्वसावद्ययोगका अभाव होना, इसका ही नाम निवृत्ति कहलाता है, इस ही को व्रत कहते है। सो यदि वह सर्वसावद्ययोगकी निवृत्ति अंशरूपसे हो रही है तो व्रत भी अंशरूपसे हुआ, यह कहा जायगा। और वह सर्वसावद्ययोग निवृत्ति सर्वांशरूपसे है। तो वह व्रत भी संपूर्ण है, यह कहा जायगा। जैसे महाव्रतमें सर्व सावद्ययोग निवृत्ति पूर्णरूपसे हुआ करती हैं, वहाँ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह—इन पाँचों पापोंका पूर्णरूपसे त्याग है। परिग्रहमें अन्तरङ्ग १४ प्रकारके परिग्रह और बहिरङ्ग १० प्रकारके परिग्रह, इन सभी परिग्रहोंका पूर्णतया त्याग है, अतएव वहाँ न भावप्राणकी हिंसा है, न द्रव्यप्राणकी हिंसा है तथा न बुद्धिपूर्वक हिंसा है, न अबुद्धिपूर्वक

हिंसा है। भावोंकी दृष्टिसे ये साधु महाराज निरन्तर विशुद्ध रहते हैं और विशुद्ध भावोंसे इनकी प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्तिमें कदाचित् कोई जीव मर भी जाय तब भी भावोंकी विशुद्धिके कारण और किसी प्रकारका हिंसाका यत्न रहनेके कारण इनके सावद्ययोग नहीं कहा गया है। तो सर्वसावद्ययोग होनेका मूल कारण तो अंतरंग परिणाम हैं जिसका परिणाम प्रमादयुक्त है, कषायसहित है उसके सावद्ययोग नियमतः है, और जिनके परिणाममें प्रमाद नहीं है, कषायभाव बसा है उनके सर्वसावद्ययोगका मूल कारण नहीं रहा है। तो ऐसे सर्वसावद्ययोगका मूल हेतु न रहनेके कारण ये गुरुजन सदा सावद्ययोगसे निवृत्त रहा करते हैं, ऐसे सर्वसावद्ययोगके त्यागी तीनों प्रकारके गुरुराज एक समानगुरु हैं। ऐसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरुओंमें गुरुबुद्धि करना सो अमूढ़दृष्टि अंग कहलाता है।

सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु।
व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैवात्मनि कृपा ॥७५३॥

प्राणिरक्षारूप बाह्य व्रत व कषायत्यागरूप अन्तर्व्रतकी आत्मकृपारूपता—व्रत दो प्रकारके होते हैं—(१) अन्तरङ्ग व्रत और (२) बाह्यव्रत। याने भीतरी परिणामोंमें व्रत और बाहरमें जीवहिंसा न हो सके, इस प्रकारका व्रत। तो प्राणियोंमें दया करना, किसी प्राणीके प्राणोंका विनाश न होने देना, यह तो कहलाता है बाह्यव्रत और अन्तः कषायें न होना, विषयकषायसे परिणामका त्याग होना, यह कहलाता है अन्तरङ्ग व्रत। तो अब यहाँ सोचिये कि अपने आपकी अपने आत्मापर कृपा क्या कहलायेगी? भीतर विषयकषायोंके परिणाम न होना और शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वका अनुभव बनाना यह है आत्मापर सच्ची कृपा। तो अन्तर्व्रत आत्मापर सच्ची दया कहलाती है और अन्तर्व्रतके होते सनते बाह्य व्रत भी धर्ममें सहयोगी बनता है। यदि केवल बाह्यव्रत ही हो और भीतरमें विषयकषायोंका त्याग न हो तो वह व्रत नहीं कहलाता।

लोकासंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम्।
हिंसा स्यात्संविदादीनां धर्माणां हिंसनाच्चितः ॥७५४॥

आत्माके ज्ञानादिप्राणोंके घातक होनेमे रागादि भावोंकी स्पष्ट हिंसारूपता—रागादिक भाव लोकके असंख्यातप्रमाण हैं अथवा असंख्यात लोकप्रमाण हैं, याने सारे लोकमें जितने प्रदेश पाये जाते हैं वे असंख्यात हैं, और ऐसे-ऐसे असंख्यात लोकके प्रदेश भी मिला लो तो जितने भी प्रदेशोंकी गणना होगी उतनी प्रकारके कषायभाव पाये जाते हैं। जैसे एक क्रोध कषायको ही देख लो—किसीमें किसी किस्मका क्रोध है, किसीमें अन्य किस्मका और उनकी डिग्रियाँ देख लो—किसीमें छोटी कषाय है, किसीमें बड़ी। तो ऐसे कषायके भेद प्रभेद असंख्यात प्रकारके होते हैं, और जब तक ये असंख्यात लोकप्रमाण रागादिक भेद रहते हैं तब [illegible] आत्माके ज्ञानादिक गुणोंका विनाश होता रहता है। इस कारणसे उसमें आत्माकी हिंसा

होती रहती है। तो आत्महिंसा करने वाले जो विषयकषायके परिणाम हैं, ये ही भाव हिंसा कहलाते हैं। भावहिंसा बहुत विकट हिंसा है जिससे यह आत्मा अपने भीतर ही प्राणोंको पीड़ता हुआ, ज्ञानदर्शनका विराधन करता हुआ यह जीव दुःखी रहा करता है। तो भावहिंसा से इस जीवकी हानि है। तो जीवको क्लेश क्या है जगतमें ? यही क्लेश है कि जीव अपनी भावहिंसा किए जा रहा है, भावमरण किए जा रहा है अर्थात् ऐसे विषकषायोंके परिणाम करता है कि जिन परिणामोंमें इसके ज्ञानदर्शन आनन्द आदिक सभी नष्ट होते चले जा रहे हैं। कोई सोचे कि मैं किसीका जीवन नहीं करता, किसीका मरण भी नहीं करता, केवल अपने घरमें रहता हूं, स्त्री पुत्रोंके बीच मौजसे बना रहता हूं तो हमें हिंसा नहीं लगती है, तो ऐसा न सोचना चाहिए, भीतरमें जो ये रागादिक भाव बन रहे हैं वे इस आत्माकी हिंसा कर रहे हैं, इसलिए आत्मापर दयाधारियोंके मोह रागद्वेषके परिणाम नहीं होते।

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥७५५॥

रागादिभावोंकी हिंसारूपता, अधर्मरूपता व अव्रतरूपता तथा रागादिपरित्यागकी अहिंसारूपता, धर्मरूपता व व्रतरूपता—रागद्वेषके परिणाम होना ही हिंसा कहलाती है। बाहरमें जीव मरे अथवा न मरे, यदि किसीने मारनेका परिणाम कर लिया तो समझो हिंसा कर ली। और मुनि महाराज किसीको मारनेका भाव नहीं रखते, सर्व जीवोंपर दयाभाव रखते और वे दयाके भावसे ही समितिपूर्वक विहार करते। कदाचित् विहार करते हुएमें कोई क्षुद्र प्राणी पैरोंके नीचे आकर मर जाय, मुनि महाराजको पता ही न पड़े, तो उसमें उनको हिंसाका दोष इस कारण नहीं लगता कि उनके भावोंमें कुछ भी फर्क नहीं आया। तो रागद्वेष मोह भाव उत्पन्न होना ही हिंसा है। अब यह समझ लो कि हम अपनी कितनी हिंसा निरन्तर किए जा रहे है ? निरन्तर क्लेश संक्लेश रागद्वेष कषाय जगें, ईर्ष्याभाव हों, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक बने हुए हैं तो हम अपने आपकी कितनी हिंसा किए जा रहे हैं। इस हिंसाका फल है कि इस आत्माका विकास नहीं हो सकता। यह जीव कीड़ा-मकोड़ा जैसी कुयोनियोंमें उत्पन्न होता रहता है। तो यह है भावहिंसा। इस भावहिंसामें जीवकी बड़ी विडम्बना बनती है। तो रागादिक भावोंका होना ही भावहिंसा है और भावहिंसाका ही नाम अधर्म है। अधर्म कहो या व्रतसे च्युत होना कहो—आत्माका जो शीलस्वभाव है, आनन्दका घर है उस आनन्दधाम आत्मतत्त्वसे चिग जाना और दृष्टि बाहरी पदार्थोंकी ही रहना, यह कहलाता है हिंसा। ऐसी हिंसा जहाँ नहीं होती है उसे अहिंसा कहते हैं। अहिंसा ही धर्म है अथवा व्रत है। कहा ही है कि अहिंसा उत्कृष्ट धर्म है, पर अहिंसाका अर्थ क्या है ? अपने आपमें खोटे भाव न लाना, रागद्वेष मोहके परिणाम न होने देना, यह अहिंसा है, और यह

अहिंसा जीवकी रक्षा करने वाली वास्तविक माता है।

आत्मेतराङ्गिणामङ्गरक्षणं यन्मतं स्मृतम्।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतं नातः परञ्च तत् ॥७५६॥

स्वपरप्राणरक्षामें स्वात्मरक्षा—धर्मके सम्बन्धमें यह समझ लीजिए कि यदि रागद्वेष मोहभाव नहीं होता है तो वही वास्तवमें धर्म है, अहिंसा है, दया है। कभी कोई दूसरे प्राणी पर भी दया करता है, दूसरेके शरीरकी रक्षा करता है, उनके प्राणोंको रहने देनेका यत्न करता है तो उस प्राणिदयामें, उस दूसरे जीवोंकी रक्षामें भी अन्तः खुदकी दया पड़ी हुई है, इसलिए खुदकी दया करनेसे अहिंसा हुआ करती है। अपनेसे भिन्न दूसरे जीवोंके, मनुष्योंके, पशु-पक्षियोंके शरीरकी जो रक्षाबुद्धि करता है अहिंसामें, दया करनेमें, तो वह भी अपने आत्मा की रक्षाके लिए ही है, क्योंकि दूसरे जीवके घातका भाव नहीं किया और उसकी रक्षाका भाव किया। तो अपना परिणाम शुद्ध रहे, शुभ रहे तो अपना परिणाम भला हो जानेसे अपनी रक्षा हुई, और जहाँ अपना परिणाम बिगड़ गया वहाँ अपने आपकी हिंसा हो गयी। दूसरे जीवोंकी रक्षाके लिए जो उद्यम किया जाता सो भली-भाँति परख लीजिए कि वह शुभ परिणामोंका कारण है। यदि अपने आपमें शुभ परिणाम हुए हैं, तो दूसरे जीवोंकी रक्षाका भाव बनेगा, अन्यथा ऐसे क्रूर मनुष्य पाये जाते हैं कि निरपराध मनुष्योंकी जान तक ले डालते हैं। तो जिसके भावोंमें ऐसी क्रूरता बसी है उसके निरन्तर हिंसा लग रही है और जिसका परिणाम शुभ है तो उसकी अपने आपकी रक्षा हो रही है। तो जो पुरुष दूसरेपर दया करता है वह अपने आपपर दया करता है। उसके फलसे यह खुद भी बड़े लाभमें रहेगा, इस कारण दूसरे जीवोंकी दया करना भी अपने आपकी दया करनेके लिए ही है, ऐसा जानना चाहिए।

सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात्।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो बधः ॥७५७॥

रागादिभावोंके होनेपर कर्मबन्ध व कर्मोदय होनेपर आत्मपीड़ा होनेके कारण रागादिभावोंकी स्वात्मबधकारिताकी सिद्धि—रागादिक भावोंके होनेपर अवश्य ही कर्मका बन्ध होता है और उस कर्मबन्धका जब उदय आया, जो कर्म बँध गये वे सत्तामें रहते हैं जब तक कि उनका विपाक समय नहीं आता। जब उनका विपाक समय आता है तो उस विपाकमें आत्माको फिर दुःख होता है। और इस कारणसे रागादिक भावोंसे अपने आत्माका घात होता है, यह बात सिद्ध हो जाती है। और अधिक नहीं तो यह समझ लीजिए कि आत्माका घात यही है कि जो आत्मा दुःखोंमें बना रहता है, संक्लेशमें रहे, विपदा माने, भय खाये, अनेक तरहकी भीतरमें वेदनायें बनाये, यह ही तो आत्माका बध है। तो आत्माका ऐसा बध हुआ क्यों? अर्थात् अपने आपको जो विपत्ति वेदना आयी, जो अपनेको पीड़ा उत्पन्न हुई तो

यह पीड़ा ही खुद समझ लीजिए कि यह ही मेरी बरबादी है। तो ऐसी पीड़ा होनेरूप बरबादी जीवकी हुई कैसे ? इस बातपर विचार करें। यह पीड़ा मुझे हुई है कर्मके उदयसे। और कर्म का उदय हुआ क्यों ? यों हुआ कि कर्मोंका बन्ध किया था। तो जो कर्म बँध गए, सत्तामें हैं उनका उदय तो कभी आयगा। उदय मायने निकलना। जब कर्म निकलेंगे, उनका उदय होगा तो उस कालमें जीवको दुःख होगा। तो कर्मोदयसे हुआ दुःख और कर्मोदय हुआ बन्धके कारण और बन्ध हुआ अपने बुरे परिणामके कारण, रागद्वेष मोहके कारण। तो इससे समझ लीजिए कि रागद्वेष मोह करनेमें अपने आपकी हिंसा करते हैं, इस कारण विषय कषाय जो आत्माका अहित करने वाले हैं उनसे अपने आपको बचाये रहना, यही वास्तवमें धर्म है।

ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते।
चारित्रापरनामैतद् व्रतं निश्चयतः परम् ॥७५८॥

मोहकर्मके अनुदयमें आविर्भूत शुद्धोपयोगके ही चारित्रत्वकी निश्चयसे सिद्धि—उक्त विवेचनमें यह बात भली-भाँति सिद्ध कर दी गई कि रागादिक भावोंके उत्पन्न होनेका नाम हिंसा है और रागादिक भाव न उत्पन्न हों तो इसका नाम अहिंसा है। तो रागादिक भाव यद्यपि दो प्रकारके हैं—(१) शुभराग, (२) अशुभराग। शुभरागसे होता है पुण्यबंध और अशुभरागसे होता है पापबंध, लेकिन आत्माके ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक गुणोंका घात तो रागादिक मात्रसे हो जाता है। इस कारण शुभराग अथवा अशुभराग ये दोनों ही आत्माके हितकारी चीज नहीं हैं। तब यह निर्णय करना चाहिए कि मोहनीयकर्मका उदय जहाँ नहीं रहा, और आत्माका शुद्धोपयोग बने याने रागद्वेष न होकर केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप निजो अन्तःअनुभव हो कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा अनुभव करने वालेको फिर परपदार्थोंकी परिणति के कारण किसी प्रकारके क्लेशका अनुभव नहीं होता। जैसे मानो दुनिया विरोधमें पड़ती है, निन्दा कर रही है, तो यह सोचता है कि यह दुनिया जिसको जान रही है वह मैं नहीं हूं। मैं तो एक ज्ञानज्योतिस्वरूप हूं, इसका लोगोंको परिचय है कहाँ ? तो लोग जिसका लक्ष्य करके कह रहे हों उसकी कह रहे हैं, मैं तो एक अमूर्त ज्ञानमात्र हूं, ऐसे इस ज्ञानमात्र सहज सत्त्वरूप मुझ आत्माको लोग पहिचानते ही नहीं हैं। लोग मेरा क्या विरोध करेंगे ? अथवा मुझको क्या कह सकेंगे ? मैं तो उससे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हूं। जिसने अपने अन्तःस्वरूप का परिचय पाया है उसको दूसरेकी परिणतिका कोई खेद नहीं होता है, और इसी कारण प्रशंसा सुनकर भी यह रागमें हर्ष नहीं मानता है। लोग जिसे देखकर प्रशंसा कर रहे हैं वह तो मैं हूं ही नहीं। मैं तो एक ज्ञानमात्र अमूर्त आत्मा हूं। तो जिसने अपने अन्तःस्वरूपका परिचय पाया है उसको क्लेश नहीं होता। तो मोहनीयकर्मके उदयसे रहित जो आत्माका शुद्धोपयोग है उसीका नाम चारित्र है और वही वास्तवमें उत्कृष्ट व्रत कहलाता है।

चारित्रं निर्जराहेतुर्न्यायादप्यस्त्यबाधितम् ।
सर्वस्वार्थक्रियामर्हन् सार्थनामास्ति दीपवत् ॥७५९॥

चारित्रकी निर्जराहेतुरूपता—यह चारित्र निर्जराका कारण है। चारित्रका अर्थ है—
आत्माका जैसा सहज ज्ञानस्वरूप है उस सहज ज्ञानस्वरूपमें रम जाना, इसको कहते हैं
चारित्र। जो पुरुष ज्ञानस्वरूपमें ज्ञानमें रम रहा है अर्थात् जिसके ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप यह अंतः
आत्मतत्त्व समाया हुआ है उसके कर्मनिर्जरा होती ही है। तो चारित्र निर्जराका कारण है,
यह बात आगमसे अबाधित रूपसे सिद्ध है। यह चारित्र ही स्वार्थक्रिया करनेमें समर्थ है।
स्वार्थक्रियाका अर्थ है कि आत्माका आनंद प्रकट होना, आत्माकी शुद्धि प्रकट होना, कल्याण
होना, यह बात इस चारित्रसे बनती है, इस कारण यह चारित्र क्रियाकारी है। जैसे दीपक
का अर्थ है—जो दीप दे, प्रकाश दे, दीप्त कर दे, तो यह दीपक प्रकाशन क्रियाका यथार्थ
नाम वाला दीपक है। इस प्रकार यह चारित्र जो आत्मस्वरूपमें रमा दे, जिसके कारण कर्मों
की निर्जरा होती है, तो कर्मनाश क्रिया करनेमें यह चारित्र समर्थ है, इस कारण ही चारित्र
को क्रियाकारी कहा गया है।

रूढः शुभोपयोगोपि ख्यातश्चारित्रसञ्ज्ञया ।
स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥७६०॥
किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत् ।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत ॥७६१॥

नापकारोपकारकृत शुभोपयोगकी रूढ़िसे चारित्रसंज्ञा—शुभोपयोगमें भी सिद्धान्त
ग्रन्थोंमें चारित्र कहा गया है शुभोपयोगमें। यह भी उपचारसे कहा गया है। कारण यह है
कि जो शुभोपयोग करने वाला सम्यग्दृष्टि पुरुष है उसके साथ अंशरूपमें शुद्धोपयोग भी चल
रहा है। अतएव उस आंशिक शुद्धोपयोगको साहचर्यसे शुभोपयोग कहा जाता है। शुभोपयोग
का जो अर्थ है उसका जो वाच्य बनता है उसका चारित्र किस रूढ़िसे समझना चाहिए ? तो
रूढ़िसे शुभोपयोग भी चारित्र कहा जाता, पर शुभोपयोगका जो सही अर्थ है, रागांशको बताने
वाला है, ऐसा वह शुभोपयोग चारित्र स्वार्थक्रियाके करनेमें समर्थ नहीं है, भले ही शुभोप-
योगको चारित्र कहा गया है। अशुभोपयोगसे निवृत्त होना और शुभोपयोगमें प्रवृत्त होना
चारित्र कहा गया है तो परके साहचर्यसे कहा गया है, पर वह चारित्र नहीं, उसमें विशिष्ट
पुण्यका बन्ध है, पर कर्मोंकी निर्जरा नहीं हो रही है। उसके साथ मिले हुए आंशिक शुद्धोप-
योगका प्रताप है, तो रूढ़िसे कहा जाने वाला यह शुभोपयोग चारित्र कर्मोंकी निर्जरा करनेमें
समर्थ नहीं है। इस कारण इसको चारित्र नहीं कहा। सारांश यह है कि 'किसी भी प्रकारका
रागद्वेष न हो, अत्यन्त विकल्परहित अवस्था बने तो ऐसी स्थितिमें आत्माका जो शुद्ध सहज

ज्ञानस्वरूप है उसका अनुभव प्रकट होता है और उस अनुभवमें भव-भवके कर्मोंको नष्ट करनेका सामर्थ्य पड़ा हुआ है। तो निश्चयसे चारित्रका कारण तो शुद्धोपयोग है, शुभोपयोग रूप चारित्र कर्मनिर्जरा करनेमें समर्थ न होनेसे यथार्थ चारित्र नहीं है। वह तो शुभ कर्मबंध का कारण है, अतएव उसे तो आत्माका विपक्षी कहा जाना चाहिए। इस शुभ प्रवृत्तिको श्रेष्ठ चारित्र नहीं कहा जा सकता। यह शुभोपयोग आत्माका उपकार करनेमें समर्थ नहीं है, और साथ ही यह भी समझना चाहिए कि आत्माका यह अपकार भी नहीं करता है। देखिये— इन शब्दोंमें कितना रहस्य समझा दिया? देवपूजा करना, प्रभुभक्ति करना, जाप, सामायिक आदि करना, स्वाध्याय करना, पात्रदान करना आदिक। जो श्रावकोंके किए जानेसे आत्माका यदि कर्म निर्जरारूप उपकार नहीं होता तो इसका अपकार भी नहीं होता। आत्मामें सावधानी तो रहती है, अच्छे भावोंकी ओर तो बना हुआ है, पात्रता तो उसमें बनी हुई है कि किसी भी समय रागद्वेषादिकके विकल्प शान्त हों। तो वह अपने आत्माका शुद्ध अनुभव कर सकता है, जिस कारण शुभोपयोगको अपकारी भी नहीं कहा जाना चाहिए, किन्तु अशुभोपयोगकी निवृत्तिके लिए शुभोपयोग ढालके समान है और शुद्धोपयोग कर्मनिर्जरा करनेके लिए शस्त्रके समान है। जैसे युद्ध करने वाले सुभटको ढाल और तलवार दोनोंकी आवश्यकता होती है। ढाल तो शत्रुके आक्रमणका बचाव करने वाला होता है और तलवार शत्रुपर प्रहार करने वाला होता है, इसी तरह हम आपकी जो शुभ व्रतक्रियायें हैं—दर्शन, पूजन, व्रत संयम आदिक ये सब अशुभोपयोगरूप शत्रुको दूर करनेमें ढालकी तरह काम करती हैं। जब शुभोपयोगमें हमारा चित्त लगेगा तो अशुभ क्रियाकी बात न होगी। तो अशुभ, खोटे भावोंको इसने बचा दिया, दूर कर दिया तो शुभोपयोगने ढालका काम किया और जब रागद्वेषरहित आत्मा का जो सहज ज्ञानस्वरूप है वह ज्ञानस्वरूप जब ज्ञानमें आ रहा है तो अविकार ज्ञानस्वरूप ज्ञानमें आया, उस स्थितिको कहते हैं शुद्धोपयोग। तो इस शुभोपयोगके प्रतापसे भव-भवके बाँधे हुए कर्म क्षणमात्रमें दूर हो जाते हैं। तो हम आपको दोनोंका सहारा लेनेकी इस समय स्थिति है। शुभोपयोग भी करें, किन्तु ध्यान अपना यही बनायें कि शुभोपयोगसे भी हटकर हमें शुद्ध निर्विकार ज्ञानस्वरूपके उपयोगमें रहना चाहिए। तो इस तरह शुभोपयोग रूप ढाल से खोटे परिणाम रूप शत्रुसे अपना बचाव करते हुए शुद्धोपयोगरूप तीक्ष्ण शस्त्रसे इन कर्मशत्रुओंका विनाश कर लेना चाहिए।

विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात्।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्रसंभवात् ॥७६२॥

शुभोपयोगकी विरुद्धकार्यकारिता—यहाँ बात बतायी जा रही है कि शुभोपयोग विरुद्ध क्रिया करने वाला है। उपयोग कहते हैं अपना चित्त लगानेको। जहाँ ज्ञान लगाया, बुद्धि

जुड़ी, जहाँ अपनी बुद्धि लग रही है उसे कहते हैं कि उपयोग लग रहा है। तो उपयोग होते है तीन प्रकारके—(१) शुभोपयोग, (२) अशुभोपयोग और (३) शुद्धोपयोग। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन पापोंमें रहनेका नाम है अशुभोपयोग। सप्तव्यसन, ईर्ष्या, मात्सर्य, कषाय आदिक जहाँ इन्द्रियविषयोंका पोषण होता है वह कहलाता है अशुभोपयोग। तो अशुभोपयोग तो बहुत ही गंदी वृत्ति है, इसके कारण कुयोनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। संसारमें रुलनेका कारण यह अशुभोपयोग ही तो है। दूसरा है शुभोपयोग। देव, शास्त्र, गुरुमें श्रद्धा करना, वहाँ ही प्रीति भक्ति रखना, धर्मके हेतु अपना तन, मन, धन, वचन न्यौछावर करना और देवमें देवबुद्धि, धर्ममें धर्मबुद्धि और गुरुमें गुरुबुद्धि करना, व्रत संयमसे रहना, दुःखी जीवों पर दया रखना—यह सब शुभोपयोग कहलाता है। सो शुभोपयोग कर्मकी निर्जरा करनेमें तो समर्थ नहीं है, क्योंकि इसके साथ रागांश लगा हुआ है, लेकिन शुभोपयोगके होनेसे वह अशुभोपयोग तो दूर हो गया। अब पापरूप परिणाम तो न रहे, तो शुभोपयोग एक ढालकी तरह है। इसने अशुभोपयोगसे रक्षा की, लेकिन कर्मनिर्जरा तो न हो सकी। कर्मनिर्जरा होगी आत्माके शुद्धस्वरूपकी दृष्टिसे। लोग इतनेमें तृप्त हो जाते हैं कि मैंने पूजा कर लिया और बोल दिया कि अष्टकर्मोंके विध्वंसके लिए धूप चढ़ाता हू तो इससे कहीं कर्मोंका ध्वंस नहीं होता। वह अशुभोपयोगकी बात है। उस क्रियासे अशुभ गंदे पापका बचाव हो गया, इतनी बात तो युक्त है, पर उस शुभोपयोगमें यह सामर्थ्य नहीं है कि कर्मोंकी निर्जरा कर दे, बल्कि शुभोपयोगसे पुण्यबंध हुआ और पुण्यबन्धसे होगा क्या कि उसका जब उदय होगा तो देव बनेंगे अथवा राजा-महाराजा बनेंगे, भोगसामग्री मिलेंगी तो उससे मोक्षकी बात तो नहीं मिल सकती, इस दृष्टिसे बताया जा रहा है कि शुभोपयोग विरुद्ध क्रिया करता है। जैसे घी का लगाना तो ठंडक पहुंचानेके लिए है, लेकिन वही घी अगर गर्म हो जाय तो उसकी छींट भी शरीरपर पड़ जाय तो बहुत बड़ा संताप उत्पन्न करती है। तो जो घी ठंडक पहुंचानेके लिए होता है वही गर्म होनेपर संताप उत्पन्न करता है। इसी तरह रक्षण मिलनेके कारण यह शुभोपयोग त्यागरूप धर्म भी कर्मनिर्जरा नहीं कर पा रहा है, किन्तु पुण्यबंध कर रहा है और उसके उदयमें जीवको जन्म-मरण ही करना पड़ेगा। उससे कहीं कर्मनिर्जरा न होगी, मोक्ष न प्राप्त होगा। इस कारण शुभोपयोगको विरुद्ध क्रियाकारी ही बताया गया है। सारांश यह है कि शुभोपयोग और अशुभोपयोग इन दोनोंसे दूर होकर अविकार ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें रहनेमें ही आत्माका हित है।

नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतुरंशतः।
अस्ति नावंधहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहः ॥७६३॥

शुभोपयोगमें निर्जराहेतुत्वका अभाव—कोई ऐसी शङ्का न करे कि शुभोपयोग निर्जरा

का हेतु ही किसी अंशमें हो जाता है। यदि किसीके ऐसो शङ्का होती हो तो उसे बुद्धिका दोष ही समझना चाहिए। कारण यह है कि शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों ही निर्जराके कारण तो हैं ही नहीं, किन्तु सम्वरके भी कारण नहीं हो सकते। शुभोपयोग तो शुभ बन्धका कारण है, अशुभोपयोग अशुभ बन्धका कारण है। दोनों ही कर्मबन्धके कारण हैं और कर्मबंध जितने हैं वे सब आत्माके लिए अहितरूप हैं। तो यों शुभोपयोग कर्मनिर्जराका कारण नहीं और कर्मसम्वरका भी कारण नहीं है, शुभोपयोगमें जो शुभपना आया है वह रागांशके कारण आया है। हाँ, किसी शुभ शिवस्वरूप सत्त्वमें उसका उपयोग लगा है, पर लगा है रागपूर्वक, अतएव रागांशका साहित्य होनेसे वह शुभोपयोग कर्मनिर्जरा और कर्मसम्वरका कारण नहीं है।

कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्रसंज्ञक ॥७६४॥

कर्मादानक्रियारोधरूप स्वरूपाचरणकी धर्मरूपता, शुद्धोपयोगरूपता व चारित्ररूपता— कर्मोंके ग्रहण करनेकी क्रियाका रुक जाना, इस ही का नाम स्वरूपाचरण है। जो स्वरूपाचरण चारित्र है वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है और वही वास्तवमें यथार्थ चारित्र है। स्वरूपाचरणका अर्थ है कि स्वरूपमें आचरण करना, तो उपयोग स्वरूपमें रम जाय, वहां राग-द्वेषकी वृत्ति न जगे, इसको ही स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। जिस आत्माके स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट होता है उसके कर्मोंके ग्रहणकी क्रिया रुक जाया करती है। तो स्वरूपाचरण चारित्र होनेपर कर्मबन्ध करनेकी क्रिया नहीं रहती है। यही धर्म है, क्योंकि आत्मा यहाँ अपने कैवल्यको अनुभवने वाला बन गया। द्वितीय पदार्थको ग्रहण करनेका सम्पर्क न रहा, इसी कारण इसे शुद्धोपयोग भी कहते हैं। जो शुद्धोपयोग है, जहाँ रागद्वेषकी वृत्ति नहीं जगती है, केवल ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थिति है, ऐसे स्वरूपको ही चारित्र कहा करते हैं। तो यथार्थ चारित्रका स्वरूपाचरण स्वरूप है।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्कोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥७६५॥

मोहक्षोभविहीन आत्मपरिणामरूपता व धर्मरूपता—अन्य ग्रन्थोंमें भी चारित्रका इसी तरह वर्णन किया गया है। चारित्र निश्चयसे धर्म होता है और धर्म वही हो सकता है जो उपशमरूप हो। रागद्वेष न जगकर केवल एक समतारूप जो बन रहा हो उस ही को चारित्र कहते हैं, ऐसा यह चारित्रमोह और क्रोधादिकसे रहित है तो आत्माका ऐसा परिणमन जहाँ मोह और क्रोध न हो वही आत्माका धर्म कहलाता है। विकार भाव दो तरहके होते हैं—(१) दर्शनमोहनीकृत, (२) चारित्रमोहनीकृत। दर्शनमोहकृत विकार है मोहभाव और

चारित्रमोहकृत विकार है रागद्वेष भाव। रागद्वेष चारों कषायरूप हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, इनमें क्रोध और मान ये द्वेषरूप कषायें हैं, माया और लोभ ये रागरूप कषायें हैं। तो यों सर्वप्रकारके रागद्वेष भावोंसे रहित हो जाना, ऐसा जो आत्माका उपयोग है वह धर्म बताया गया है। तो स्वरूप समवस्थान नामक परिणति ही कर्मनिर्जराका कारण है और वही चारित्र कर्म सम्वरका कारण है। इससे यह ही निर्णय करें कि इससे ही कर्मनिर्जरा और कर्मसम्वर होता है।

ननु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥७६६॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनोंसे मोक्षपद्धति होनेसे केवल चारित्र को धर्म कहे जानेके अनौचित्यको शंकाकारकी आशंका—अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि मोक्षमार्ग तो सिद्धान्त ग्रन्थोंमें बताया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके द्वारा मोक्षमार्ग होता है अर्थात् तीनोंको मिलकर मोक्षमार्ग कहा है। जहाँ ये तीनों ही मिलें सो मोक्षमार्ग है। व्यस्तको नहीं बताया गया अर्थात् खाली सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्ज्ञान हो या केवल सम्यक्चारित्र हो उसे मोक्षमार्ग नहीं कहा गया है। फिर इस प्रकरण में केवल चारित्रमात्रको मोक्षमार्ग क्यों कहा जा रहा है अथवा केवल चारित्रकी बात बतानेसे क्या प्रयोजन है? जो उक्त प्रकरणमें बताया है कि चारित्रसे कर्मकी निर्जरा होती है, कर्मका सम्वर होता है, तो निर्जरा और सम्वाकर होना ही मोक्षमार्ग है। तो मोक्षमार्ग केवल सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्रसे नहीं कहा गया है, फिर यहाँ चारित्र मात्र की बात बतानेसे कौनसे कार्यकी सिद्धि हो सकती है? इस कारण केवल चारित्रसे सम्वर निर्जरा न कहना चाहिए, किन्तु रत्नत्रयसे सम्वर निर्जरा कहना चाहिए।

सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखण्डितम् ॥७६७॥

सम्यक्चारित्रमें सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानका अन्तर्भाव बताते हुए उक्त शंकाका समाधान— शंकाकारकी उक्त शङ्काका इस श्लोकमें समाधान किया गया है। शंकाकारने जो यह कहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस तरह अलग-अलग रहकर मोक्षमार्ग नहीं बताया गया है, सो तो ठीक है, लेकिन यहाँ यह दृष्टि देनी चाहिए कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चारित्रके अन्तर्गत हैं। जहाँ सम्यक्चारित्र कहा जाय वहाँ सम्यग्ज्ञान तो स्वयं सिद्ध होता है और इस तरह इन तीनोंका अविनाभावी होनेके कारण इन तीनोंका होना खंडित बना हुआ है। और भी सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो यह विदित होगा कि जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी किसी अंशमें पाये ही जाते हैं। जहाँ सम्यग्ज्ञान है वहाँ सम्य-

ग्दर्शन और सम्यक्चारित्र भी किसी अंशमें पाये ही जाते है, और जहाँ सम्यक्चारित्र है वहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी किसी अंशमें पाये जाते हैं। तो चारित्रके कहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका स्वयं ही ग्रहण हो जाता है। तो इन तीनोंकी अविनाभाविता होनेके कारण ये अखण्डित रूपसे तीनों ही सिद्ध हो जाते हैं। यद्यपि इन तीनोंमें पूर्णता क्रमशः बतायी गई है, सम्यग्दर्शन पूर्ण पहिले होता है, उसके पश्चात् सम्यग्ज्ञान पूर्ण होता है और सम्यक्ज्ञान पूर्ण होनेके पश्चात् सम्यक्चारित्र पूर्ण होता है। जिसे गुणस्थानके क्रमसे भी इस तरह कहा जा सकता है कि सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता क्षायिक सम्यक्त्वमें मानी गई है और वह चौथे गुणस्थानसे लेकर ७वें गुणस्थान तव में कहीं भी हो सकती है। सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता १३वें गुणस्थानमें मानी गई है और सम्यक्चारित्रकी पूर्णता १४वें गुणस्थानके अन्तमें मानी गई है। तो इस तरह पूर्णताकी दृष्टिसे इन तीनोंमें यह क्रम बताया गया है, लेकिन जहाँ सम्यग्दर्शन है उसके साथ ही सम्यग्ज्ञान भी प्रकट हो जाता है। तो ये तीनों ही एक साथ रहा करते हैं। इनमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं है। कोई यहाँ ऐसी शङ्का रख सकता है कि सम्यक्चारित्रकी पूर्णता तो जहाँ मोहनीयकर्म नष्ट हो जाता है वहाँ माना जाना चाहिए। मोहनीयकर्मका समूल नाश हो जाता है १०वें गुणस्थानके अन्तमें। तो सम्यक्चारित्र पूर्ण सम्यक् होता है १२वें गुणस्थानमें और सम्यग्ज्ञान पूर्ण हुआ करता है १३वें गुणस्थानमें। जहाँ कि केवलज्ञान होता। फिर पूर्णताका यह क्रम सही कैसे कहा जा सकता है? समाधान इसका यह है कि सम्यक्चारित्रको पूर्णता मोहके नष्ट हो जानेपर भी तब तक नहीं मानी गयी है जब तक योग मौजूद है। मोह और योग दोनोंके होनेसे चारित्रमें कमी आती थी। तो यद्यपि मोह नष्ट हो गया, लेकिन मोहके साथ रहने वाला योग जब तक मिलेगा तब तक चारित्रकी पूर्णता नहीं कहलाती। इस कारण सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता होनेपर ही सम्यक्चारित्रकी पूर्णता माननी चाहिए। इस तरह पूर्णतामें भले ही क्रम बना हुआ है, किन्तु सम्यग्दर्शनके प्रकट होते ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र साथ ही रहते हैं, इसमें कोई बाधा नही है। अतएव जहाँ यह कह दिया कि चारित्रसे कर्मनिर्जरा और कर्मसम्वर होता है वहाँ तीनोंसे ही कर्मनिर्जरा और कर्मसम्वरकी बात समझ लेनी चाहिए।

किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥७६८॥

सम्यग्दर्शनमें ज्ञान व चारित्रकी समीचीनताकी हेतुता—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंमें प्रधानता सम्यग्दर्शनकी है। यह क्योंकि ज्ञान और चारित्रकी एकताका कारण सम्यग्दर्शन ही है। और यह कारण पाकर केवल सम्यक्विशेषणकी अपेक्षासे जानना, कहीं ऐसा नहीं है कि सम्यग्ज्ञानको उत्पन्न करने वाला सम्यग्दर्शन हो। ज्ञान तो

ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ही प्रकट होता है, पर जैसे ज्ञानमें समीचीनता आती है सम्यक्त्वके साथ हो जानेसे, इसी तरह सम्यक्चारित्र तो प्रकट होता है कषायोंके क्षयसे ही, लेकिन चारित्रमें समीचीनताका हेतु बनता है सम्यग्दर्शन । तो इस प्रकार इन तीनोंमें भी सम्यग्ज्ञान प्रधान है, क्योंकि ज्ञान और चारित्रमें समीचीनता लानेके कारण सम्यग्दर्शन है । जिस सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिसे पहिले जो ज्ञान चल रहा था वह ज्ञान वस्तुके स्वरूपके अनुरूप ही था, लेकिन सम्यक्त्व न होनेसे उसमें अनुभवकी दृढ़ता न थी । अब सम्यक्त्व न होनेसे, उस अनुभूतिके होनेसे ज्ञानकी समीचीनतामें दृढ़ता आ गयी । इस कारण वही ज्ञान जो सम्यग्दर्शनसे पहिले भी बन रहा था निकट पहिले, वह सम्यग्ज्ञान हो गया है सम्यग्दर्शनका साथ पा लेने से । इस तरह दर्शन ज्ञान और कारणमें प्रधान अङ्ग माना गगा है ।

अर्थोयं साति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत सम्यक् सूते वाऽभूतपूर्वकम् ॥७६६॥

सम्यक्त्वके होनेपर ज्ञान व चारित्रमें नवीनताका अभ्युदय—उक्त विवेचनका सारांश यह है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञान और चारित्र सम्यक्विशेषणको धारण कर लेते हैं अर्थात् ज्ञान और चारित्रमें एक नवीनता आती है सम्यक्पनेकी । इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रमें सम्यक्त्व कारण है अर्थात् इनका सम्यक्पना हो जाय इसमें सम्यग्दर्शन हेतु है । तो सम्यक्त्व तो कारण हुआ और सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये कार्य हुए । जैसे अनुमान सिद्धान्तमें यह बताया गया है कि कार्यसे कारणका अनुमान किया जाता है । जैसे अग्नि कारण है, धूम कार्य है, तो धूमकार्य देखकर अग्निकारणके सद्भावका परिचय कर लिया जाता है । तो यहाँ कार्य हुआ सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र । तो सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनसे सम्यक्त्व कारणका अनुमान हो ही जाता है । इस तरह सम्यक्चारित्रके कहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अन्तर्भाव स्वतःसिद्ध हो जाता है । तब शङ्काकारकी यह शङ्का कहना कि जब तीनों ही मोक्षमार्ग बताये गए हैं तो केवल चारित्रका ही निरूपण क्यों किया गया ? यह शङ्का संगत न रही, क्योंकि चारित्रके कहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अन्तर्भाव हो ही जाता है ।

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्यो लब्धिर्ज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वं शुद्धो भावोऽथवापि ॥७७०॥

शुद्धात्मोपलब्धिशक्ति व ज्ञानातिशायिनी लब्धिकी सम्यक्त्व होनेपर अवश्यंभाविता—अर्थात् आत्माकी जो शुद्ध उपलब्धि होती है उसमें कारण है ज्ञानके अतिशय वाली लब्धि । अर्थात् मतिज्ञानावरणका विशिष्ट क्षयोपशम आत्माकी शुद्धोपलब्धिमें अवश्य है, किन्तु ऐसे अतिशय वाली लब्धि विशिष्ट ज्ञानावरणका क्षयोपशम अथवा स्वानुभूत्यावरणका क्षयोपशम सम्यग्दर्शन

के होनेपर ही होता है। आत्मा जैसा सहज ज्ञानस्वभावरूप है उसरूप परिचय हो जाना, यह स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमके प्रसादसे होता है। तो ऐसे स्वपरिचयकी लब्धि सम्यग्दर्शन के होनेपर ही हुआ करती है। इससे सम्यग्दर्शनकी महिमा विदित होती है। साथ ही यह भी सुविदित हो जाता है कि सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। इस तरह जहाँ सम्यग्ज्ञान कहा जाय वहां सम्यग्दर्शनका तो समावेश हो ही जाता है। और जहाँ सम्यक्-चारित्र कहा जाय वहाँ भी सम्यग्दर्शनका समावेश हो जाया करता है। इस तरह केवल चारित्रका निरूपण भी किया जाय तो उस निरूपणसे भी सम्यग्दर्शनकी प्रसिद्धि हो ही जाती है।

यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतं ज्ञानं विनापि दृक्।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ।।७७१।।

सम्यक्त्वरहित चारित्र व ज्ञानमें कर्मबन्धकृत्त्वके अभावका अभाव—अब और भी कह रहे हैं कि जो द्रव्य चारित्र और श्रुतज्ञान है वह सम्यग्दर्शन रहित है तो उसे नहीं कहा जा सकता और न चारित्र ही कहा जा सकता। ऐसा वह द्रव्य चारित्र याने मन, वचन, काय की क्रियायें वे केवल कर्मबन्धके कारणभूत ही होती हैं। सम्यग्दर्शनकी कैसी महिमा है कि सम्यक्त्वके होते ही मतिज्ञानावरणका विशिष्ट क्षयोपशम हो जाता है अथवा ये साथ ही सब होते हैं जिस क्षयोपशमके कारण स्वानुभूति प्रकट होती है, और सम्यग्दर्शनके होते सनते जो ज्ञान और चारित्र हैं वह वास्तविक ज्ञान और चारित्र होता है। सम्यक्त्वके अभावमें जो भी ज्ञान और चारित्र है वह वास्तविक ज्ञान और चारित्र नहीं है। इस तरह ज्ञान और चारित्र के सम्यक् होनेमें सम्यग्दर्शन प्रधान है, कारणभूत है, ऐसा सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्रके अन्तर्गत ही है, इस कारण केवल चारित्रका निरूपण करनेसे तीनोंका ही निरूपण हो जाता है। जहाँ चारित्रको सम्वर निर्जराका कारण कहा गया है वहाँ तीनों ही सम्वरनिर्जराके कारण हैं यह सिद्ध हो जाता है। यदि सम्यक्त्व नहीं है तो ऐसे लौकिक ज्ञानके होनेपर या आत्माके सम्बंध में भी कुछ ज्ञान बनाया जानेपर भी कर्मबंध रुकता नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके न होने पर अनशन ऊनोदर आदिक बड़े-बड़े कायक्लेश भी किए जायें तो ऐसी ऊँची तपस्या भी केवल कर्मबन्धके लिए ही सम्भव है। उनसे कर्मोंका सम्वर और निर्जरा नहीं होता है। इस तरह चारित्रके कहनेसे तीनोंका ग्रहण होता है। और चारित्र ही वास्तविक धर्म है। चारित्र में ही स्वरूपका आचरण है। जहाँ ब्रह्ममें उपयोग निस्तरंग रूपसे रम जाय उसे ही चारित्र कहते हैं। इस तरह चारित्र ही धर्म है, शुद्धोपयोग है और सम्वर निर्जराका कारण है, और उस चारित्रमें रत्नत्रय निहित हैं, इस कारणसे इस प्रकरणमें चारित्रको सम्वर और निर्जराका हेतु कहा गया है, वह भली-भाँति संगत है, उसमें सन्देह न करना चाहिए।

तेषामन्यतमोद्देश्यो नास्ति दोषाय कुत्रचित् ।
मोक्षमार्गैकमाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥७७२॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमें से किसी भी एकके कथनसे मोक्षमार्गैक-साध्यताकी स्मृति—उक्त विवेचनका सारांश यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनोंमें से किसी एकका भी कथन किया जाय तो वह दोप उत्पन्न करने वाला नही है, क्योंकि ये तीनों परस्पर अविनाभावी हैं। इन तीनोंका कथन मोक्षमार्गकी सिद्धिके लिए है। सो तीनोंमें से कुछ भी एक कहा जाय वह तो साधन वचन है और मोक्षमार्ग साध्य है, अर्थात् मोक्षमार्गके साधक ये तीनों कहे जाते हैं। मुक्त कहते हैं केवल आत्माके अतिरिक्त जो कुछ भी अन्य विभाव या कर्म देह आदिक हैं उन सबसे छुटकारा होना। तो इन सबसे छुटकारा तब ही सम्भव है जब पहिले यह दृष्टिमें आ जाय कि यह मैं आत्मा केवल हूं, इन समस्त बाह्य पदार्थोंसे छूटा हुआ ही हूं। तो जो यहाँ अभीसे स्वतः मुक्त मानेगा वही वास्तवमें मोक्ष-मार्गपर चल सकेगा। सो इस तरहके कैवल्यकी श्रद्धा करना, परिचय करना और कैवल्यमें ही उपयोग रमाकर तृप्त रहना, यही रत्नत्रय है और इसीसे मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है।

बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः ।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नोऽरागांशैः कदाचन ॥७७३॥

रागांशसे बन्ध व अरागांशसे अबन्ध—इस प्रकरणमें यह भी ज्ञातव्य है कि प्रश्न-कर्ताओंको यह संक्षेपतः दृष्टान्त लेना कि बंध क्या है और मोक्ष क्या है? बन्ध और मोक्षका मूल स्वरूप समझ लेनेपर मोक्षमार्ग और रत्नत्रय इन सबका सही परिचय हो जायगा। बंध होता है रागांश परिणामोंसे, अथवा यों कहो कि जो रागांश है वह बंधन है और जहाँ रागांश नहीं है वहाँ बन्धन नही है। बन्धन न होनेका नाम मोक्ष है और बन्धन होनेका ही नाम बंध है, संसार है, और रागादिक विकाररहित आत्माकी शुद्ध ज्ञानमात्र अवस्थाका नाम मुक्ति है। ऐसे मोक्षके कारण यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहा गया है जो कि पर-स्पर अविनाभावी है। सारांश यह है कि रागादिक परिणामोंके बिना बन्ध नहीं हो सकता और रागद्वेषके परिणाम न हो तो अबंधदशा रहती है। तो जीवकी रागसहित अवस्थाका नाम बन्धन है और विभाव विकाररहित केवलज्ञानमात्र अवस्थाका नाम मोक्ष है।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥७७४॥

सम्यक्त्वांशसे अबन्ध व रागांशसे बन्ध—सिद्धान्तशास्त्रोंमें कहा गया है कि जिस अंशसे सम्यग्दर्शन है उस अंशसे कर्मबन्ध नहीं होता और जिस अंशसे उसके राग लगा हुआ है उस अंशमें उसके कर्मबन्ध होता है। उसका अर्थ यह है कि बन्धका कारण केवल रागांश है,

ज्ञान बंधका कारण नही है, या अनंत गुण हैं. जिनमें श्रद्धा और चारित्र गुण इनके विकारसे बंध होता है, बाकी अन्य गुणोंका विकार न हो और साहचर्यसे विकार हो तो उस गुणके कारण बन्ध नहीं होता, किन्तु इस विकारके कारण बंध होता है। श्रद्धा गुणका विकार सम्यक्मिथ्यात्व और सासादन परिणामरूप होता है और चारित्रगुणका विकार क्रोध, मान, माया, लोभ होता है। इस विकारको बंध कहते हैं और विकारसे रहित निर्बन्ध अवस्थाका नाम मोक्ष है। और जितने अंशमें सम्यक्त्व है अथवा सम्यक्त्वकी ओरसे देखा जाय तो बंध नहीं है, किन्तु विकारकी ओरसे ही बंध हुआ करता है।

उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंशतः।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥७७५॥

प्रसङ्गवश धर्मस्वरूपके संक्षिप्त कथनका उपसंहार—अमूढ़दृष्टिके वर्णनके प्रसङ्गमें धर्मका स्वरूप कहा गया है। सो यहाँ ग्रंथकार कहते हैं कि प्रसङ्गके कारण कुछ अंशरूपसे यहाँ धर्मका स्वरूप बताया गया है। धर्मका विस्तृत स्वरूप तो आगे कहा जायगा जब कि इस धर्मस्वरूपके वर्णनके लिए अवकाश मिलेगा। इस श्लोकमें यह संकेत मिलता है कि ग्रंथकार ग्रंथमें धर्मादिकके सम्बंधमें बहुत विस्तारसे वर्णन करना चाह रहे थे, किन्तु केवल २ ही अध्याय बनाये जा सके और जिन बातोंका संकलन किया था कि विस्तारसे कहेंगे, वह सब कथन न हो सका, फिर भी संक्षेप रूपसे जो धर्मका स्वरूप कहा गया है वह स्वरूप बहुत मार्मिक है। जैसे एक शब्दमें कहा जाय तो कहो कि अहिंसा धर्म है और हिंसा अधर्म है। रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं व तो भावप्राणकी हिंसा है और उस भावहिंसाके कारण जो विकल्प मचते हैं और उनके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे दूसरे जीवोंके प्राणोंको दुःख होता है वह है द्रव्यहिंसा। हिंसा अधर्म है और हिंसाका अभाव धर्म है। इस प्रकार धर्मका संक्षेपमें स्वरूप कहा गया है।

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्वार्थदर्शिनी।
ख्याताप्यमूढ़दृष्टिः स्यादन्यथा मूढ़दृष्टिता ॥७७६॥

अमूढ़दृष्टि अङ्गके संक्षिप्त स्वरूपकी प्रतिष्ठा—अमूढ़दृष्टिका संक्षेपमें स्वरूप यह हुआ कि देव, गुरु और धर्ममें यथार्थ दर्शन कराने वाली दृष्टि न होनेका नाम अमूढ़दृष्टि है। अमूढ़दृष्टिमें ३ शब्द हैं—अ, मूढ़ और दृष्टि। नहीं है मोहभरी दृष्टि जिसमें, ऐसे दर्शनको अमूढ़दृष्टि कहते हैं। मोहभरी दृष्टिका अर्थ है अदेवमें देवबुद्धि करना, अगुरुमें गुरुबुद्धि करना, अधर्ममें धर्मबुद्धि करना, ऐसी मूढ़तासे रहित जो यथार्थ सत्य है, वस्तुस्वरूपका परिचय है, ऐसे दर्शनको अमूढ़-दृष्टि कहते है। इससे विपरीत जो भी दृष्टियाँ है उनमें मूढ़दृष्टिका दोष उत्पन्न होता है।

सम्यक्त्वस्य गुणोप्येष नालं दोषाय लक्षितः ।
सम्यग्दृष्टिर्यतोवश्यं तथा स्यान्न तथेतरः ।।७७७।।

सम्यक्त्वमें अमूढ़दृष्टि अङ्गकी अवश्यंभाविता—अमूढ़दृष्टि अङ्गके वर्णनमें यह उपसंहारात्मक श्लोक है, इसमें कहा जा रहा है कि यह अमूढ़दृष्टि सम्यक्त्वका गुण है, सो यह गुण सम्यक्त्वकी महिमाके लिए है, दोषके लिए जरा भी लक्षित नहीं है । अमूढ़दृष्टि भावसे दोष नहीं, किन्तु गुण उत्पन्न होते हैं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवके नियमसे यह अमूढ़दृष्टि गुण हुआ करता है । सम्यग्दृष्टि जीवको यह अवश्य पालन करना योग्य है अथवा अमूढ़दृष्टिपना हुये बिना भी सम्यग्दृष्टि ही नहीं कहलाता । अमूढ़दृष्टि न हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि देव, गुरु धर्मके सिवाय कुगुरु, कुदेव, कुधर्ममें उसकी मान्यता हो गयी । जहाँ कुदेव, कुगुरु, कुधर्ममें हितबुद्धिकी रंच भी मान्यता हुई तो उसे विपरीत दृष्टि समझना चाहिए, अथवा जिसे देव, गुरु, धर्मके सम्बन्धमें पूर्ण श्रद्धा नहीं है उसकी दृष्टि अभी सम्यक् नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है । तो अमूढ़दृष्टि अङ्ग तो सम्यग्दर्शनका प्रधान अङ्ग है । सम्यग्दृष्टि पुरुष नियमतः अमूढ़दृष्टि होता है । मोहभरी दृष्टि होनेपर, देव, गुरु, धर्मके विपरीत श्रद्धा होनेपर वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है । सम्यग्दर्शन यद्यपि अति सूक्ष्म गुण हैं, इसका यथार्थस्वरूप वचनों द्वारा नहीं कहा जा सकता । हाँ जिस पुरुषके सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह अपने आपमें शुद्ध तत्त्वका अनुभव किया करता है । जो आत्मीय शुद्ध आनन्द है वह सम्यग्दृष्टिको उपलब्ध है । तो सम्यक्त्वमें क्या होता है, ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका यथार्थ स्पष्ट विवेचन करा देने वाला शब्द नही है । हाँ यह कहा जा सकता है कि सम्यक्त्वमें अपूर्व आत्मीय स्वाद आता है, पर उसका विवेचन क्या किया जा सकता है ? जैसे कोई पुरुष ताजा घृत खा रहा हो तो उस घृतका स्वाद तो अनुभवमें आ रहा है, पर कहा जाय कि घी का स्वाद किस तरहका होता है तो वह बताया नहीं जा सकता । मीठा आदिकका स्वरूप तो कुछ-कुछ वचनों द्वारा कहा जा सकता है, पर विशुद्ध ताजे घृतके स्वादको बताने वाला वचन तक भी नहीं है, पर जो खुदमें है उसे अनुभव बराबर आ रहा है । इसी प्रकार जिस जीवके सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है उसको सम्यक्त्वका अपूर्व आनन्द आ ही रहा है । तो भले ही वह वचनों द्वारा कह नहीं सकता है । तो ऐसे विशुद्ध आत्मतत्त्वके अनुभव करने वाले सम्यग्दृष्टि पुरुषको न तो किसी वस्तुस्वरूपमें शंका होती है, न वह बाह्य पदार्थोंकी परिणति भक्तिमें आकांक्षा रखता है, न उसकी कोई प्रकारकी विचिकित्सा होती है । धर्मात्माओंकी सेवामें सम्यग्दृष्टिको ग्लानि नहीं होती है और अमूढ़दृष्टि तो इसका प्रधान ही अंग है, ऐसी मोहभरी दृष्टि हो तो वहाँ मिथ्यात्व ही कहा जायगा, सम्यक्त्व वहाँ नहीं होता । कल्याणार्थी पुरुषका कर्तव्य है कि सत्यस्वरूपका श्रद्धान करे, ज्ञान करे और सत्यस्वरूपमें ही रमे । इस परिणामसे ही सकल संकट सदाके लिये

निवृत्त हो जावेंगे ।

उपवृंहणनामास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं वृंहणादिह ॥७७८॥

आत्मशक्तियोंके वृंहण लक्षणसे लक्षित उपवृंहण गुणका निर्देश—सम्यग्दृष्टि जीवके उपवृंहण नामका गुण होता है । उपवृंहणका अर्थ है अपनी शक्तियोंको बढ़ाना । जैसे आत्मा में ज्ञानशक्ति है तो ज्ञानशक्तिको बढाना, श्रद्धाशक्तिको बढ़ाना, चारित्रशक्तिको बढ़ाना अर्थात् गुणविकास करना सो उपवृंहण गुण है । उपका अर्थ है अत्यंत निकट अर्थात् आत्मामें, वृंहण का अर्थ है वृद्धि करना, यों उपवृंहण शब्दका शब्दार्थसे भी यही अर्थ होता है । उपवृंहण गुण का धारी है सम्यग्दृष्टि जीव । उपवृंहणमें सहायक उपगूहन नामक कर्तव्यका पालन है अर्थात् दूसरोंमें कोई दोष देखे तो उस दोपको प्रकट न करना, धर्मकी प्रभावनाकी दृष्टिसे भी नहीं कहना और अपने आपका उपयोग बिगाड़नेके लिए न कहना । हाँ यदि कोई दोष ऐसा है कि जिससे उसका अनर्थ है और धर्मकी अप्रभावना भी हो सकेगी तो उस ही से स्वयं एकान्तमें कहना और यदि नहीं मानता है और अप्रभावनाकी सम्भावना है तो उसे फिर प्रकट बता देना कि यह धर्मके पृथक् है । उपवृंहणका मूलभाव यह है कि अपनी आत्मशक्तियोंका बढ़ाना । जगतमें जीव अपनी शक्तियोंकी दुर्बलतासे अपने ज्ञानस्वरूपको मलिन करता हुआ भटक रहा है । इस जीवका आनन्द तो ज्ञानमें ही मिलेगा । जब ज्ञानोपयोगमें यह ज्ञानस्वरूप समा जाता है तब उसका कल्याण होता है । सम्यग्दृष्टि जीवके यह गुण अविनाभावी गुण है ।

आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकारणं चोपब्रंहणम् ।
अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावात् संवलितं हि तत् ॥७७९॥

उपवृंहण गुणमें आत्मदर्शनज्ञानचारित्रबल वृद्धिकारणता—उपवृंहण गुणके प्रभाव से आत्माकी शुद्धिमें मंदता नही आती, प्रत्युत आत्मशुद्धि बढ़ती ही है । दर्शन, ज्ञान, चारित्र भावरूपसे वह शुद्धि मिली हुई है । शुद्धिका अर्थ क्या है ? आत्मामें जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण है, वे विकसित हो जायें, यही आत्माकी शुद्धि कहलाती है । अशुद्धि क्या है ? रागद्वेष मोहका विकार आना सो आत्माकी अशुद्धि है । उस अशुद्धिका परिहार दर्शन, ज्ञान, चारित्रके बलसे होता है । तो इन भावोंसे युक्त आतमाकी शक्तियोंको बढ़ाते रहना और इन गुणोंमें किसी प्रकारकी शिथिलता न आने देना सो सम्यग्दृष्टिका उपवृंहण गुण है । ऐसे उपवृंहण गुणका धारी ज्ञानी पुरुष किस प्रकारके व्यवहारसे अपने जीवनमें रहते हैं उसकी संक्षिप्त रूप-रेखा बतायी जा रही है ।

जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं प्रेरयन्निव ।
तथापि यत्नवान्नात्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥७८०॥

उपवृंहक ज्ञानी पुरुषकी लौकिक वृत्तियोंमें अयत्नवत्ता—उपवृंहण गुणधारी सम्यग्दृष्टि जीव लोकव्यवहारमें सब कुछ जानता है, पर वह सब बिना विकल्प किए उसमें परिश्रम उठाये बिना यों ही जान लेता है। उन लौकिक बातोंसे आत्मामें कोई प्रेरणा नहीं करना है। अर्थात् लौकिक वृत्तियोंसे उसकी आत्मा प्रेरित नहीं है, किन्तु परिस्थितिवश व्यवहार हो जाता है। इस संसार सम्बन्धी बातोंको प्राप्त करनेके लिए यह ज्ञानी पुरुष पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न नही करता है, क्योंकि इस ज्ञानीकी दृष्टि आत्माकी शक्तियोंके बढ़ानेमें ही लग गई है। यह निर्णय किए हुए है ज्ञानी पुरुष को भी आत्माका उद्धार, अतुल आनन्द प्राप्त हो सकेगा तो अपने आपकी शक्तियोंकी वृद्धिसे प्राप्त हो सकेगा। आत्मशक्तिमें बाधा देने वाला है रागद्वेष मोह-भाव। जहाँ आत्मामें किसी इष्ट-विषयमें राग हुआ अथवा द्वेष हुआ वहाँ ही आत्मामें दुर्बलता आ जाती है और उस दुर्बलतामें दर्शन, ज्ञान, चारित्र हीन हो जाते हैं। बस यही इसपर आपत्ति है और इसी आपत्तिके मारे यह संसारमें अब तक रुला चला आया है।

नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोपि प्रमादवान्।
निष्प्रमादतयाऽऽत्मानमाददानः समादरात् ॥७८१॥

उपवृंहक ज्ञानी पुरुषकी शुद्धोपलब्धिमें निष्प्रमादता—उपवृंहण गुणका धारी ज्ञानी पुरुष आत्माकी शुद्धोपलब्धिमें रंचमात्र प्रमादी नहीं होता है। जिसने निर्विकल्प समाधि द्वारा अपने आपमें किसी क्षण सहज ज्ञानमात्र सहज आनन्दस्वरूप निज तत्त्वका दर्शन किया है उसे अब संसारके कोई भी विषय बहका नहीं सकते। जैसे कि मोही जन पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें बहके रहते हैं, विषयसाधन पाकर अन्तः ही अन्तः वे संतृप्त रहा करते हैं—रागसे अथवा द्वेष से। ऐसी वृत्ति ज्ञानी पुरुषमें नहीं होती, क्योंकि उसका लक्ष्य बदल गया है। अब इस ज्ञानी के लक्ष्यमें यह समाया है कि मेरा कल्याण, मेरा सर्वस्व, मेरा आनंद तो निर्विकल्प रहनेमें है। ज्ञानमात्र यह आत्मतत्त्व इस ज्ञानमें बना रहे, इसमें ही निर्विकल्पताकी सिद्धि है। इस कारण यह इस ज्ञानभावकी आराधनामें, उपासनामें रंचमात्र प्रमादी नहीं होता, किन्तु प्रमादरहित होकर बड़े आदरसे, उत्सुकतासे इस आत्माको ही ग्रहण करता है। आत्मतत्त्वका ग्रहण होता है ज्ञानमात्र रूपसे अपने आपको जाननेमें। सो यह ज्ञानी पुरुष अपने आपको ज्ञानमूर्ति निर-खता है और निरखते हुए इस ही में आदरभाव करके इस ओर ही सम्मुख रहता है। इस ज्ञानमूर्तिका नमस्कार हो, इस ज्ञानमूर्तिको धन्य हो, यह ज्ञानमूर्ति ही सर्वस्व सार है, आदिक रूपसे इस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वके प्रति इस ज्ञानी पुरुषका आदरभाव बना रहता है। ऐसा इस ज्ञानी पुरुषके उपवृंहण नामका गुण होता है।

यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्बहिः।
सत्क्रियां काञ्चिदप्यर्थात्तत्तत्साध्योपयोगिनीम् ॥७८२॥

गाथा ७८३

ज्ञानी पुरुषके शुद्धोपलब्धिसाध्योपयोगिनी सत्क्रियाका अभ्यास—यह ज्ञानी पुरुष जब निर्विकल्प समाधिमें नहीं ठहरा है तो ऐसी स्थितिमें इस शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिए किसी बाह्य क्रियाका भी अभ्यास करता है, सो वह ऐसी बाह्य समीचीन क्रिया प्रवृत्ति का अभ्यास करता है कि जो बाह्य क्रिया इसके इस ज्ञानरूप, लक्ष्यरूप साध्यमें उपयोगी हो, ऐसी क्रिया ही मुनिधर्ममें मूर्ति-वन्दना, स्वाध्याय, स्तुति, कायोत्सर्ग आदिक रूपसे बताया गया है। और गृहस्थ धर्ममें देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय तप, संयम और दान—इस प्रकारकी क्रियावोंके रूपमें कहा गया है। तो ये सब क्रियायें इस जीवके रत्नत्रयलाभमें उपयोगी पड़ती हैं। इन क्रियावोंको करते हुए इस श्रावकका लक्ष्य रहता है इस रत्नत्रयकी सिद्धि करना। जैसे देवपूजा और दान, इन दो क्रियावोंसे सम्यग्दर्शनको सहयोग मिलता है, श्रद्धा पुष्ट होती है और गुरुपूजा संयम तपकी क्रियावोंसे चारित्रमें सहयोग मिलता है और स्वाध्यायसे ज्ञानमें सहयोग मिलता है। तो जो भी सत् क्रियायें करता है यह ज्ञानी पुरुष उन क्रियावोंका लक्ष्य बनाता है ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वकी अनुभूति करना। तो उपबृंहण गुणका धारी सम्यग्दृष्टि पुरुष आत्मगुणोंकी वृद्धिके लिए जो उपयोगी पड़ती हों, ऐसी सत्क्रियावोंको भी करता है।

रसेन्द्रं सेवमानोपि कोपि पथ्यं न वाऽऽचरेत्।
आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नुज्झन्नुलघतामपि ॥७८३॥

निरोगताके लिये रसायनसेवन व पथ्याचरणके औचित्यकी तरह आत्महितके लिये अन्तस्तत्त्वोपासना व सत्क्रियाचरणका औचित्य—कोई पुरुष जैसे रसायनका सेवन करे, परंतु पथ्य न करे तो रसायन सेवन करके भी पथ्य न करनेके कारण निरोगताका लाभ नहीं ले पाता। जैसे कोई पुरुष रसायनका सेवन करे और पथ्य भी रखे तो वह पुरुष निरोगताको प्राप्त कर लेता है। रोगको दूर करनेके लिए दोनों ही बातें आवश्यक हैं कि औषधिका भी सेवन करे और पथ्य आहार-विहार करे। यदि पथ्यका आचरण नहीं है तो रसायनका सेवन करके भी रोग दूर नहीं किया जा सकता। इसी तरह सम्यग्दृष्टि जीवको अपने साध्यमें जो उपयोगी पड़ती हैं, ऐसी सत् क्रियायें करनेकी भी आवश्यकता है। आवश्यकता यह समझनी चाहिए कि रसायन सेवनकी तरह तो है ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी उपासना, पर कोई ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी उपासना करनेके लिए उद्यत तो हुआ है, पर क्रियायें करता हो विपरीत, तो विपरीत क्रियावोंको करने वाले पुरुषको इस लक्ष्यकी सिद्धि नहीं हो पाती। जो पुरुष पथ्यकी तरह सत् क्रियावोंका आचरण करते हों, ऐसे पुरुषोंके अनेक अवसर आते हैं कि वे ज्ञानमात्र आनन्दधाम अंतस्तत्त्वका अनुभव कर सकें। तो यों ज्ञानमात्र स्वरूपका अनुभव करना तो परमआवश्यक है ही, पर इसकी सिद्धिके लिए असत् क्रियावोंसे दूर होकर सत्क्रियावोंका आचरण करना भी सहयोगी बनता है।

यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपवृंहणम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात् ॥७८४॥

सम्यग्दृष्टि जीवके अनायास उपवृंहणकी सिद्धि—अथवा सम्यग्दृष्टि जीवके बिना ही किसी खास प्रयत्नके स्वतः ही उपवृंहण गुणकी सिद्धि होती है । जो साधु अप्रमत्त है, श्रेणी का आरोहण कर रहा है तो ऊपर-ऊपरके गुण श्रेणी रूपसे उसके कर्मोंकी निर्जरा उत्तरोत्तर विशेष होती रहती है । वैसे सम्यक्त्वमें असंख्यातगुणी श्रेणी निर्जरा कही है और जब यह पुरुष सकल चारित्र धारण करता है तब और विशेष असंख्यातगुणी निर्जरा होती है और यह जब चारित्रमोहके क्षयके लिए विशिष्ट परिणामोंमें गुजरता है तो उन श्रेणियोंमें इसके असंख्यातगुणी निर्जरा होती है । तो उस महात्माके जो कर्मनिर्जरा हो रही है, आत्मशक्तियोंकी वृद्धि हो रही है सो यह उपवृंहण गुण बिना परिश्रमके स्वतः ही करणबलसे बन रही है । तो यों सम्यग्दृष्टि जीवके अनायास ही उपवृंहण नामका गुण होता है । जब इस ज्ञानी पुरुषने आत्माके सहजस्वरूपका अनुभव कर लिया है तो उस ही उपायसे इसके गुण स्वतः बढ़ते ही जायेंगे, यह स्वाभाविक बात है ।

अवश्यंभाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥७८५॥

उपवृंहक ज्ञानी संतके असंख्येगुणक्रमसे कृत्स्नकर्मक्षयकी अवश्यंभाविता—उपवृंहण गुणके धारी सम्यग्दृष्टि जीवके समस्त कर्मोंकी निर्जरा होना अवश्यंभावी है । जिसके सम्यक्त्व प्रकट हुआ है और यह सम्यक्त्व बना रहता है तो उसका यह फल अवश्यंभावी है कि वह सम्पूर्ण कर्मोंको निर्जरा करके मोक्षपदको प्राप्त करेगा । इसका कारण यह है कि जब कर्मोंके चिपकनेका कारणभूत रागद्वेप भाव ढीला हो जाता है, उस रागद्वेष भावसे इसका उपयोग फिर जाता है और अविकार ज्ञानस्वभावकी ओर इसका उपयोग लगा रहता है तो ऐसी स्थितिमें इस जीवके प्रतिक्षण असंख्यातगुणी निर्जरा होती ही रहती है । और ऐसी असंख्यातगुणी निर्जरा होती रहे, सम्वर भी रहा करे तो ये कर्म कब तक इस आत्मामें टिक सकेंगे ? एक क्षण ऐसा आयगा कि नये कर्म तो आते नही और पूर्व कर्म निर्जराको प्राप्त हो रहे तो एक भी कर्म निषेक इस आत्मामें न रहेंगे, यह सब उपवृंहण नामक गुणका माहात्म्य है ।

न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षतिः ।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥७८६॥

कर्मक्षयवृद्धिके अनुसार शुद्धिवृद्धि—अब इस श्लोकमें यह बतला रहे हैं कि जैसे-जैसे कर्मका क्षय होता जाता है वैसे ही वैसे शुद्धोपयोगके अंश बढ़ते रहते हैं । कर्मोंका उदय सत्त्व बन्ध ये सब आत्माको मलिन बनानेमें कारण हो रहे थे, इनमें भी उदयरहित बनानेमें खास

कारण है। सत्त्व रहते हुए यह आत्मा अन्य द्रव्योंसे बद्ध है। ऐसे ही मलिनता है, पर विपाक कालमें इस जीवके रागद्वेष आदिक भाव जगते हैं उससे यह अपने अन्दर भी विकृत हो जाता है। तो जब कर्मोंका उदय हटता है, कर्मोंका क्षय होता है तो उस समय जैसे-जैसे कर्मोंका क्षय होता है वैसे ही वैसे उपयोगकी वृद्धि होती जाती है। तो जिस-जिस प्रकार कर्मोंमें वृद्धि होती है उस-उस प्रकार शुद्धोपयोगकी भी वृद्धि होती चली जाती है और इस तरह कर्मक्षयकी वृद्धि से शुद्धोपयोगकी वृद्धि, शुद्धोपयोगकी वृद्धिसे कर्मक्षयकी वृद्धि, इस तरह वृद्धिसे वृद्धि होती चली जाती है।

यथा यथा विशुद्धेः स्याद् वृद्धिरन्तःप्रकाशिनी।
तथा तथा हृषीकाणामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥७८७॥

शुद्धिवृद्धिके अनुसार विषयोपेक्षावृद्धि—उक्त श्लोकमें यह बताया गया है कि कर्मक्षयकी वृद्धिसे आत्मस्वरूपकी वृद्धि होती जाती है। तो जैसे-जैसे विशुद्धिकी वृद्धि अन्तरङ्गमें प्रकाशित होती जाती है उसी-उसी प्रकार आत्माके इन्द्रियविषयोंसे उपेक्षा होती जाती है। इस जीवको बरबाद करने वाली वृत्ति है विषयोंमें प्रवृत्ति होना। तो पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें प्रवृत्ति न रहे. इसका मूल उपाय आत्माके रत्नत्रयकी सिद्धिका लाभ है। कोई पुरुष हैरान होकर इन विषयोंके कारण मेरी बरबादी है, यों विषयोंको त्याग दे अर्थात् उन साधनोंके स्थानोंको छोड़कर अन्य स्थानपर पहुंच जाय, सो यदि वहाँ शुद्धोपयोगका अंश प्रकट नहीं है, आत्मस्वरूपकी दृष्टि नहीं जगी है तो ऐसे बाह्य विषयोंको छोड़नेपर भी वहाँ उपेक्षा नहीं जगती है। अभी विषयोंकी ओर लगाव शेष रह जायगा। तो विषयोंसे मूलतः उपेक्षा हो जाय, इसका उपाय है आत्मस्वभावकी दृष्टि अनुभूति, प्रतीति और रति होना। इन उपायोंसे जैसे-जैसे विशुद्धिकी वृद्धि अन्तरङ्गमें बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे इन्द्रियविषयोंमें इस आत्माको उपेक्षा होती जाती है।

ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत्।
किन्तु संवर्धयेन्नूनं प्रयत्नादपि दृष्टिमान् ॥७८८॥

शुद्धिलाभके लिये क्रियाकाण्डमें आत्मशक्तिके लोप न करनेका अनुरोध—उक्त विवेचनका निष्कर्ष यह है कि जब यह बात पायी जा रही है कि कर्मक्षयकी वृद्धिमें आत्मविशुद्धि की वृद्धि होती है, आत्मशुद्धिकी वृद्धिमें इन्द्रियसे उपेक्षा होती है और इन्द्रियविषयोंसे उपेक्षा हो जाय तो यह ज्ञानमग्न होनेका अमोघ उपाय है तो इस लक्ष्यकी सिद्धिके लिए ज्ञानी पुरुष को उचित है कि वह नाना क्रियाकाण्डोंमें आत्मशक्तियोंका लोप न करे। इस शिक्षाके दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो यह कि विषयउपेक्षा विशुद्धिलाभके लक्ष्य वाले पुरुषको यथोचित क्रियाकाण्ड भी करना चाहिए। वहाँ अपनी शक्तिको न छुपाये। दूसरा अर्थ यह है कि नाना

क्रियाकाण्डोंको करना भी पड़े तो उन क्रियाकाण्डोंके करनेके समय आत्मशक्तिका लोप न कर दें। अपनी शक्तिका, अपने गुणोंका ध्यान रखें और उन गुणोंके विकासका यत्न करें। तब दृष्टिमान पुरुषको बड़े प्रयत्नपूर्वक आत्मशक्तिको बढ़ाना चाहिए और बड़े ही प्रयत्नपूर्वक लक्ष्य को न बिगाड़ते हुए उन क्रियाकाण्डोंको भी करना चाहिए। यदि कोई पुरुष केवल क्रियाकाण्डोंमें ही रहता है, आत्मशक्तिका कोई लक्ष्य नहीं है तो उससे भी उसे लाभ न होगा, और कोई पुरुष जान गया कि आत्मशक्तिका विकास करना ही धर्म है और ऐसा जानकर इस व्यवहार परिस्थितिमें ऐसा प्रमाद रखता है कि वह क्रिया-कलापोंसे दूर रहता है जो आवश्यक क्रियायें हैं उनको नहीं करता है, केवल एक ज्ञानतत्त्वपर ही भरोसा रखे रहता है अथवा परिचय करता रहता है तो उससे भी उसकी वृद्धि न होगी। तो उपवृंहण गुणके धारी पुरुषको यथोचित सत्क्रियायें करनी चाहिएँ और उस दिव्य आत्माके दर्शन, ज्ञान, चारित्रके गुणोंकी वृद्धिका अपना लक्ष्य सही बनाये रहना चाहिए।

उपवृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः।
गणितो गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥७८९॥

सम्यग्दृष्टिके उपवृंहण गुणकी महिमाका कथन—उपवृंहण नामक अंगके वर्णनके उपसंहारमें कह रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि जीवका उपवृंहण नामका भी जो गुण है वह भी एक गुणमें गिना गया है अर्थात् एक यह गुण भी अविनाभावी है कि वह गुणके लिए ही है और अवश्यंभावी है। उपवृंहण नामक गुण दोषवर्द्धक नहीं है, किन्तु वह गुणपूरक ही है। उपवृंहणका अर्थ है आत्मशक्तिका बढ़ाना। आत्माकी भलाई सम्पूर्ण विकासमें है। जहाँ अज्ञान और क्लेशका लेश नहीं है, परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द जहाँ प्रकट हुआ है, प्रभुमें यदि कोई महिमा के लिए शब्द कहा जा सकता है तो यह ही कहा जा सकता है कि प्रभु ज्ञान और आनन्दकी पराकाष्ठा है अर्थात् कहाँ अनन्तज्ञान और अनन्तआनन्द प्रकट हुआ है, ऐसी परिपूर्ण स्थिति पानेसे पहिले गुणवृद्धि होना आवश्यक ही है। उसीके लिए गुणी विवेकी पुरुषका प्रयत्न हो रहा है। यह प्रयत्न कोई बाहरी रूपमें नहीं होता, किन्तु अपने अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावकी उपासनासे प्रकट होता है।

सुस्थितीकरणं नाम गुणः सम्यग्दृगात्मनः।
धर्माच्च्युतस्य धर्मे तत् नाऽधर्मेऽधर्मणः क्षतेः ॥७९०॥

धर्मसे च्युत हुए जीवको धर्ममें स्थित करने वाले स्थितिकरण अङ्गका निर्देश—सम्यग्दृष्टि जीवका स्थितिकरण नामका भी गुण है। अब तक निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सक, अमूढ़दृष्टि और उपवृंहण—इन ५ अङ्गोंका वर्णन किया गया है। उसके पश्चात् यहाँ स्थितिकरणका वर्णन किया जा रहा है। स्थितिकरणका अर्थ यह है कि जो पुरुष धर्मसे

पतित हो गये हैं अथवा पतित होनेके सम्मुख हैं उनको धर्ममें स्थिर कर देना इसका नाम स्थितिकरण है। स्वयं भी धर्मसे च्युत हो गया हो तो फिरसे धर्ममें स्थिर करनेका नाम स्थितिकरण है। धर्मसे हट रहा हो कोई उसे अधर्ममें लगाये इसका नाम स्थितिकरण नहीं, यह तो दोष है, मोहकी विडम्बना है, किन्तु जो पुरुष शान्ति और मोक्ष देने वाली सम्यक् भावनासे च्युत हो गया हो, आत्मदृष्टिसे पतित हो गया हो उसे फिर धर्ममें स्थिर कर देना, इसका नाम स्थितिकरण है। ऐसा स्थितिकरण गुण सम्यग्दृष्टि जीवके स्वाभाविक होता है।

न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम्।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥७९१॥

धर्मके लिये अधर्मसेवनके उपदेशका अनौचित्य—ज्ञानी पुरुषोंने धर्मके लिए भी अधर्म का सेवन नहीं बताया है। जैसे रूढ़िमें लोग धर्मसेवाके लिए अधर्मप्रवृत्ति करते हैं, यह ज्ञानी पुरुषोंने स्वीकार नहीं किया है। भावी कालमें धर्म मिले, ऐसी आशासे कोई मंद पुरुष अधर्म के सेवनका उपदेश देते हैं, पर उनका यह उपदेश बिल्कुल असंगत है। किसी भी आशासे कोई भी अधर्मका सेवन करे तो उसे धर्ममें शुमार नहीं किया गया है। रूढ़िमें जैसे कि अमूढ़-दृष्टि अङ्गके प्रकरणमें बताया था वह तो मिथ्यात्व स्पष्ट ही है, पर कभी कोई ऐसी आशासे कि आगामी कालमें हम धर्मका सेवन करेंगे और दृढ़तासे धर्ममें स्थिर रहेंगे उसके लिए ही यह प्रोग्राम बना रहे हैं कि पहिले धन कमावें, धन संचय करें, ऐसी स्थिति बनायें, फिर धर्मपालन भली-भाँति करेंगे, इससे धर्मप्राप्तिके लिए अधर्मका सेवन किसी भी परिस्थितिमें संगत नहीं बताया गया है।

परम्परेति पक्षस्य नावकाशोत्र लेशतः।
मूर्खादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं वन्हिमाविशेत ॥७९२॥

अधर्मसेवनसे परम्परया भी धर्मका अनवकाश—कोई ऐसा सोचे कि अधर्म सेवनसे परम्परा धर्म होगा, इस तरह परम्परा पक्षका भी यहाँ रंचमात्र अवकाश नहीं है। भला लोगोंमें भी देखिये कि क्या कोई पुरुष ऐसा होगा जो ठंडी पानेके लिए अग्निमें प्रवेश करेगा। अग्नि तो संतापका ही कारण है। उसमें प्रवेश करने वाला तो संतप्त होगा, जलेगा, मरेगा। उससे शीतनिवारणकी आशा करना व्यर्थ है। यद्यपि तत्काल भी ऐसा मालूम होता है कि अग्निके सम्बन्धसे शीत दूर होती है, मगर इससे तो उसका विनाश ही हो जाता है। तो कोई पुरुष मोहवश शीतके लिए बह्निमें प्रवेश करे तो उसे मूर्ख ही कहा जा सकेगा। इसी तरह कोई पुरुषधर्म होगा परम्परासे आगे, इस हेतुसे अधर्मसेवन करे तो यह भी उसके लिए एक दोषकी बात है। जैसा कारण होता है उसी प्रकारका कार्य होता है। कोई पुरुष ठंडको चाहता हो तो उन ही पदार्थोंका सेवन करे जो ठंडको पैदा करने वाले हों। अब ठंडकी तो

चाह है और गर्मीमें प्रवेश कर रहा, मानो ग्रीष्म ऋतुकी गर्मीसे वह संतप्त हुआ है और उस गर्मीको शान्त करनेके लिए अर्थात् ठंड चाहनेके लिए अग्निमें प्रवेश करे तो यह उसकी अति मूर्खता है। इसी तरह कोई पुरुष धर्मको चाहे और अधर्मका सेवन करे तो उससे धर्मकी सिद्धि कभी नहीं हो सकती है। धर्मके सेवनसे ही धर्मकी प्राप्ति होगी, अधर्मरूप प्रवृत्ति करनेसे अधर्म ही मिलेगा। तो जो लोग अधर्मसेवनको धर्म बतलाया करते है या धर्मविरुद्ध प्रवृत्तिको करके धर्म बताया करते हैं वे पुरुष विवेकशून्य हैं, उनका स्थितिकरण इस प्रकार न होगा, किन्तु धर्मसे च्युत हुए पुरुषोंको धर्ममें ही स्थिर करनेसे स्थितिकरण होगा।

नैतद्धर्मस्य प्राग्रूपं प्रागधर्मस्य सेवनम्।
व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥७६३॥

अधर्मसेवनमें धर्मप्राग्रूपताका भी अभाव—अधर्मका सेवन करना, यह कोई धर्मका पहिला रूप भी नही है। कोई यह सोचे कि धर्ममार्गमे लगनेका प्रारम्भिक रूप तो अधर्मसेवन है। सो यह बात नही है, क्योंकि अधर्मसेवन कभी भी अधर्म-प्राप्तिसे हटा नहीं सकता। अधर्मसेवन धर्मप्राप्तिकी व्याप्तिसे रहित है। अनेक दार्शनिक लोग हैं, ऐसे जो हिंसारूप प्रवृत्ति को धर्म बताते हैं और कहते है कि इस यज्ञसे, हिंसासे आगामी कालमें धर्म मिलेगा और वह धर्ममें लगनेका प्रारम्भिक रूप है। वास्तवमें धर्म होता है ज्ञायकस्वभाव आत्मतत्त्वको उपयोग में लेनेसे। ज्ञानमें ज्ञानमय निजस्वरूप रहे, यही धर्मकी सृष्टि है। इस लाभके लिए कोई भी अधर्म प्रवृत्ति समर्थ नहीं हो सकती है। हाँ, कदाचित् धर्ममें कोई बाहरी क्रियाकाण्ड किए जाते हैं तो वे क्रियाकाण्ड भी सावधानीसे विवेकपूर्वक किए जाते हैं। जहाँ समता न हो, साक्षात् जहाँ अधर्म होता हो, हिंसा होती हो और ऐसे हिंसाजन्य कर्मसे धर्मप्राप्तिकी आशा की जाय तो यह सम्भव नहीं है। हिंसारूप धर्मके सेवनसे धर्मकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। पापका फल तो उच्च नहीं हो सकता है, उससे तो दुर्गति ही प्राप्त होगी। हिंसा परिणाम करनेसे संक्लेश बढ़ता है और उससे पापबन्ध होता है। तो अधर्मसेवनका फल अधर्ममें प्रवृत्ति ही है। धर्मका हेतु अधर्म कभी नहीं हो सकता, इस कारण जिन्हें धर्ममार्गमें चलना हो उनको अहिंसारूप प्रवृत्ति और आत्मज्ञानरूप प्रकाशके साथ चलना चाहिए।

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥७६४॥

कर्मविपाकमें अधर्मका बन्ध—प्रत्येक क्षण जब तक कि कर्मका उदय चल रहा है तब तक समझना चाहिए कि अधर्म प्रायः करके ही सम्भव है। और कदाचित् किसी अंशमें धर्म भी चल रहा है तो उस धर्मका कारण किन्हीं अंशोंमें जो कर्मोंका क्षय उपशम अथवा अनुदय है उसका फल है। कर्मोदयसे अधर्म है अर्थात् पापका बन्ध होता है। कोई अधर्मरूप

प्रवृत्ति करे तो उसको अधर्म ही होगा। यज्ञादिक अधर्मसेवनासे धर्मकी कामना करना यह सर्वथा भूलकी बात है। धर्ममें ही अनाकुलता है और वह धर्म है आत्माका स्वभाव। वह स्वभाव है केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना, सो ऐसे ज्ञाताद्रष्टा स्वभावमें उपयोग लगाना है। धर्मसेवन वस्तुतः वह ही पुरुष करता है और इस तरह वह हिंसा आदिक पापोंसे हटकर धर्ममें स्थिर रहा करता है।

तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात्स्वपरभेदतः ।
स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात्परत्वे तु परस्य तत् ॥७९५॥

स्थितिकरणके स्वस्थितिकरण व परस्थितिकरण रूप दो प्रकार—यह स्थितिकरण दो प्रकारका होता है—(१) स्वस्थितिकरण और (२) परस्थितिकरण। अपने आपका आत्मा पतित हो जाय अथवा अधर्मसे पतित होनेके सम्मुख हो तो अपने आपके आत्माको ज्ञान विवेक द्वारा अपने धर्ममें लगा लेना, इसका नाम है स्वस्थितिकरण। अपने आपको धर्ममें स्थित कर देना और जो कोई दूसरे आत्मा धर्मसे च्युत हो रहे हों तो उन्हें धर्ममें स्थिर करने योग्य उपदेश देकर अथवा सेवा साधन बनाकर धर्ममें पूर्ववत् स्थित कर देना, इसे परस्थितिकरण कहते हैं। स्व जब धर्मसे च्युत होता है तो विषयकषाय मात्रमें लगा हुआ है, इसीके मायने हैं अधर्ममें आ जाना। तो जिस प्रकारके भेदविज्ञानके प्रकाश द्वारा और अभेद अपेक्षा ज्ञायकस्वरूपके दर्शनके प्रयास द्वारा यह आत्मा अपने आपमें स्थित हो सके, ऐसा पौरुष करनेका नाम है स्वस्थितिकरण और मन, वचन, काय आदिकके सहयोगसे भेदविज्ञानके उपदेशसे आत्मतत्त्वके स्मरण करानेसे परपुरुषको धर्ममें स्थिर कर देना, इसे परस्थितिकरण कहते हैं।

तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः ।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥७९६॥

आत्मस्थितिसे च्युत स्वको आत्मामें स्थिति करने रूप स्वस्थितिकरणका निर्देश—कर्मके विपाक विचित्र और दुर्निवार भी होते है। जब कभी मोहके उदयका उद्वेग हो तो यह जीव अपनी आत्मस्थितिसे च्युत हो जाता है तो ज्ञानस्वभाव आत्मतत्त्वके उपयोगसे गिर जाता है। तो ऐसा धर्मस्थितिसे च्युत होना, अपने आत्माको आत्मस्थितिमें लगा देना, इसका नाम स्वस्थितिकरण है। कर्मोंके भी विपाक आते रहते हैं। कोई पूर्वकालमें विशिष्ट निद्यत्ति आदिक जिस प्रकारका कर्म बन्ध गया हो तो उसके उदयमें यह आत्मा धर्मसे पतित हो जाता है। तो ऐसे पतित हो रहे अथवा पतनके सम्मुख निज आत्माको आत्मतत्त्वका प्रकाश देकर ज्ञान विवेक द्वारा पुनः धर्ममें स्थिर कर देना, इसका नाम है स्वस्थितिकरण।

अयं भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः ।
व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥७९७॥

स्वस्थितिकरणमें दर्शनस्थिति व चारित्रस्थितिकी विशेषता—ऊपर कहे गए कथनका यह भावार्थ है कि कभी कर्मोदयकी तीव्रतासे सम्यग्दृष्टि भी दर्शनसे गिर जाता है, चारित्रसे गिरे उसे भी धर्मसे पतित होना कहा गया है। ऐसे निज आत्माको चारित्रमें फिरसे सावधान कर देना, इसका नाम है स्वस्थितिकरण और कभी अधिक गिर जाय तो वह सम्यग्दर्शनसे भी गिर जाता है। तो सम्यग्दर्शनसे गिर जानेपर भी अथवा सम्यग्दर्शनसे गिरनेके सम्मुख हो रहा हो तब पूर्वपरिचित भेदविज्ञानका आलम्बन लेकर पुनः अपने पौरुषको सम्हालकर सम्यक्त्व प्राप्त करना और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर आगे अपनेको चारित्रमें पुन: स्थित करना, इसका नाम स्वस्थितिकरण है, स्वज्ञानमात्र है। ज्ञानमात्र यह आत्मा जब प्रवृत्तिमें ज्ञानमात्र रहता है अर्थात् रागद्वेषसे रहित होकर केवल ज्ञातादृष्टा रहता है तो इस स्थितिमें आत्माकी आकुलता नहीं रहती है। और ऐसे अनुकूल निज पदमें रमनेका नाम स्वस्थितिकरण है।

अथ क्वचिद्यथाहेतुदर्शनादपतन्नपि।
भावशुद्धिमधोधोंशैरूर्ध्वमूर्ध्वं प्ररोहति ॥७६८॥

दर्शनारूढ़ व चारित्रारूढ़ निजकी भावशुद्धिवृद्धिका स्वस्थितिकरणमें कर्तव्य—कभी ऐसी भी स्थिति रहती है कि अपना साधन सामग्री विवेक अभ्यास विशिष्ट बना रहता है तो वह दर्शनसे अथवा चारित्रसे गिरता नहीं है। इस स्थितिमें भी कर्तव्य यह है कि उन भावों की शुद्धिसे, बढ़ावमें शुद्धिमें कमी न आने दें। एक दिन कमी आनेपर फिर उस कमीको दूर करना और पूर्ववत् भली स्थितिमें अपनेको लगाना, यह स्थितिकरण है और यह भी स्थितिकरणका ही विशुद्ध रूप है कि जिन विशुद्धियोंमें हम कुछ चल रहे हैं उनसे हम गिर न सकें, उनमें हम ऊपर-ऊपर ही बढ़ते चले जायें, यह है स्थितिकरणका विशुद्ध उत्कृष्टरूप। तो हमारा कर्तव्य है कि हम जिस विशुद्धिको प्राप्त हुए हैं—सम्यक्त्व और चारित्रगुण जो भलीभाँति चल रहा हो उससे हम गिरें नहीं, किन्तु उस विशुद्ध अंशको हम बढ़ाते चले जायें तो ऐसी विशुद्धिकी वृद्धि करते रहनेको भी स्थितिकरण कहते हैं।

क्वचिद्बहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुञ्चति।
न मुञ्चति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत् ॥७६६॥
यद्वा वहिः क्रियाचारे यथावस्थं स्थितेपि च।
कदाचिद्दीप्यमानोन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते ॥८००॥
नासंभवामिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः।
अस्ति तरतमस्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥८०१॥

कर्मके तीव्र मन्द विपाकमें व अनुदयमें संभावित स्थितियोंका कथन—कभी यह आत्मा स्वीकृत किए हुए बाह्य शुभाचारको छोड़ देता है, कभी नहीं छोड़ता है और कभी

छोड़कर फिर ग्रहण कर लेता है अथवा कभी बाह्य क्रियाचारनें ठीक ठीक सावधान भी रहता है और अन्तरङ्ग भावोंसे वह बढ़ने लगता है और कभी अन्तरङ्ग भाव बढ़ने लगते हैं, कभी घटने भी लगते हैं। ये सब बातें होना असम्भव नही हैं, चारित्र मोहकर्मके उदयसे ऐसे ही विचित्र घटती-बढ़ती रहती हैं कि जिससे आत्माके चारित्रकी ऐसी विचित्र स्थितियाँ होने लगती हैं। चारित्रमोहनीयकर्म जिस ढंगसे कम होता है वहाँ विशुद्धि सहज है, और चारित्रमोहनीयका विपाक जैसे वृद्धिको प्राप्त होता है वैसे चारित्रमें हीनता होती है। तो हमें सर्वस्थितियोंमें निष्प्रमाद रहना चाहिए, चारित्र हमारा सही चलता रहता है तो उस चारित्र की वृद्धिमें हम अपनी प्रगति करें और कभी चारित्रसे हम हटने लग रहे हों तो पौरुष सम्हाल करके इस अविकार ज्ञानस्वभावका उपयोग करके फिर अपनेको चारित्रमें स्थिर कर दें।

अत्राभिप्रेतमेवैतत्स्वस्थितीकरणं स्वतः।
न्यायात्कुतश्चिदत्रास्ति हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥८०२॥

सम्यग्दर्शनमें स्वस्थितिकरणकी अनायासताका कथन करते हुए स्वस्थितिकरणका उपसंहार—स्थितिकरणके स्वरूपके प्रसंगमें यहाँ उपसंहार रूपमें कहते हैं कि स्वस्थितिकरण का अभिप्राय यह है कि स्वस्थितिकरण होता है स्वयं निजमें और उस स्वयंमें आत्माकी स्थिरता न हो तो इसमें स्वस्थितिकरण भङ्ग होता है। अपने आपमें स्थिरता करनेका पौरुष यही है कि अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवके लिए उपयोग बनायें। मैं ज्ञानमात्र हूं। जहाँ रूप, रस, गंध, स्पर्श नही है, केवल एक अंतः ज्ञानप्रकाश है, ऐसा प्रतिभासस्वरूप यह मैं केवल प्रतिभासका ही काम करता हूं, किसी भी अन्य पदार्थकी परिणति नहीं कर सकता और न किसी अन्य पदार्थकी परिणतिसे मेरेमें कोई परिणति बनती है। सर्व पदार्थ स्वतंत्र-स्वतंत्र अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए अपने-अपने उत्पादव्ययध्रौव्य रूपमें रहा करते हैं। तब मुझसे किसी दूसरेका सुधार नहीं है, दूसरेसे कोई मेरा सुधार-बिगाड़ नहीं है, ऐसा जब अपने आपमें परखता है यह ज्ञानी तो यह भ्रष्ट उपयोगको पुनः अपने आपमें स्थिर कर लेता है। तो यह स्थितिकरण अपने आपकी स्वयंकी स्थिरतासे हुआ करता है।

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात्।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥८०३॥

स्वपदसे भ्रष्ट जीवोंको उस पदमें स्थित करनेरूप सदनुग्रह द्वारा परस्थितिकरणका लाभ—स्वस्थितिकरणका वर्णन करके इस श्लोकमें परस्थितिकरणका लक्षण बताया गया है। दूसरे जीवोंपर सत् अनुग्रह करके उनको धर्ममें स्थित कर देना सो परस्थितिकरण है। सत् अनुग्रहमें विशुद्धता है, किसी प्रकारको इच्छा न रखकर अर्थात् जिसको धर्ममें स्थिर किया जा रहा है उससे अपने लिए कोई वाञ्छा न करके धार्मिक बुद्धिसे परोपकार करनेका भाव रहता

है। तो ऐसे प्रतिष्ठालाभ आदि स्वार्थोसे रहित होकर जो परपुरुषको धर्ममें स्थित किया जाता है उसको परस्थितिकरण कहते हैं। तो परजीवोंका अनुग्रह यह है कि जो अपने पदसे भ्रष्ट हो चुके हैं उन्हें फिर सदुपदेश करके, उनको स्थितिके अनुकूल सहयोग देकर फिरसे आत्मामें स्थिर कर देना इसको परस्थितिकरण कहते हैं।

धर्मादिशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहःपरे ।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥८०४॥

आत्मव्रत न छोड़कर धर्मादिशोपदेशोंसे परानुग्रह करनेका कर्तव्य—स्थितिकरण अङ्ग में दो प्रकारका स्थितिकरण बताया है—(१) स्वस्थितिकरण और (२) परस्थितिकरण। तो परजीवोंमें अनुग्रह करना यह परिस्थितिकरण है। उसके सम्बन्धमें बताया जा रहा है कि दूसरे पुरुषोंपर अनुग्रह किस प्रकारसे करना चाहिए ? धर्मका आदेश देकर और धर्मका उपदेश देकर परजीवोंपर अनुग्रह करना चाहिए। यहाँ यह सावधानी रखना आवश्यक है कि अपने व्रतको छोड़कर दूसरेके रक्षण और स्थितिकरणमें तत्पर रहना उचित नहीं है अर्थात् आत्म-व्रतको न छोड़कर ही दूसरेकी रक्षा करनेमें तत्पर रहना चाहिए। जगतमें जीवका साथी स्वयं ही आप हुआ करता है। ऐसी सभी प्राणियोंकी स्थिति है। तब कर्तव्य यह है कि जब कोई किसी दूसरेका कुछ कर ही नहीं पा रहा तो सबको अपना मंगल कार्य कर लेना चाहिए और इस मंगल कार्य करनेके प्रसङ्गमें जो कुछ दूसरेकी मंगलतामें सहयोग हो सकता है उसे करना चाहिए। यही कहलाता है परस्थितिकरण। तो दूसरोंकी रक्षा और अनुग्रहमें तत्पर होना तो चाहिये, पर अपने व्रतको न छोड़कर ही परस्थितिकरण करना चाहिये।

आदहितं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिदंपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥८०५॥

आत्महितकी प्रधान कर्तव्यताका स्मरण—सभी आचार्योंने अपनी यह सम्मति जाहिर की है कि आत्महित अवश्य कर लेना चाहिए। इस जगतमें अनादिकालसे अज्ञानवश भटकते हुए प्राणी जन्म-मरण करते चले आ रहे हैं और प्रतिक्षण उनके वेदना आकुलता रहा करती है। ऐसी स्थितिमें शान्ति कैसे प्राप्त हो ? शान्तिका मार्ग तो ज्ञानमार्ग है। और जिसमें शान्ति मिले वही आत्महित है। तो ऐसा आत्महित सभीको कर ही लेना चाहिये। हाँ यदि शक्ति है तो परहित भी करना चाहिए, पर आत्महितकी बात छोड़कर केवल परहितमें जो प्रयत्नशील रहे तो वास्तवमें वे परहित भी करनेमें असमर्थ रहेंगे और स्वयंका हित तो कर ही न सके। जैसे एक कल्पना करो कि किसी समाजके १०० भाई हैं, जो कि धर्मकी प्रभावना करना चाहते हैं, और उन सभीकी भावना यह हुई है कि व्याख्यान देकर या जलूस निकालकर या वैभवका प्रदर्शन करके दूसरोंको उपदेश दे देकर धर्मकी प्रभावना करें, ऐसा ही मान लो वे

सभी करने लगें और अपने आपके विषय कषाय मंद हों, इस ओर कोई प्रयत्न न करे तो बताओ उनमें से किसीका भी हित हो सकेगा क्या ? तो आत्महितकी बात यदि किसीके चित्त में रहे तो उसकी मुद्रा, उसके वचनका ही ऐसा प्रभाव होगा कि लोग स्वयं ही उस उपदेशको ग्रहण कर सकेंगे, अपना उत्थान कर सकेंगे । सो आत्महित करना प्रथम कर्तव्य है । यदि शक्ति हो तो परहित भी करना चाहिए । आत्महित और परहित इन दोनोंमें श्रेष्ठता आत्महित करनेकी कही गई है ।

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः ।
निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः युगमात्मनः ॥८०६॥

स्थितिकरण अङ्गकी गुणश्रेणिमें उत्कर्षताका प्रसाधक दिग्दर्शनका उपसंहार—स्थितिकरण अङ्गके प्रकरणमें इस अंतिम श्लोक द्वारा स्थितिकरणके वर्णनका उपसंहार किया जा रहा है । यहाँ जो कुछ भी दिग्दर्शन मात्र स्थितिकरण गुणका स्वरूप कहा गया है यह स्थितिकरण गुण सम्यग्दृष्टिके होता ही है । ज्ञानी पुरुष अपने आपको अपने स्वरूपमें उत्तरोत्तर विशेष स्थिर करता हुआ ही रहता है और इसी कारण करणानुयोग ग्रंथोंमें भी बताया गया है कि इस स्थितिकरणके प्रभावसे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती चली जाती है, क्योंकि इसने अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें स्थिरता की । वहाँ कषायोंका अभाव हुआ तो आस्रवद्वार न रहनेके कारण कर्मका सम्वर भी हुआ और पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा हुई । तो स्थितिकरण गुण तो सम्यग्दृष्टि जीवके असंख्यातगुणी निर्जराके लिए प्रसिद्ध ही है ।

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु ।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥८०७॥

परमेष्ठी व चतुर्विध संघमें निष्कपट दासत्व रूप वात्सल्य अङ्गका निर्देश—स्थितिकरण अङ्गका वर्णन करके अब संक्षेपतः वात्सल्य अङ्गका वर्णन किया जा रहा है । वात्सल्य का अर्थ है जिसमें वात्सल्य किया जा रहा हो, धर्म और धर्मके साधन सिद्ध अरहद्बिम्ब, जिनमन्दिर, चतुर्विशसंघ—इनमें दासता आ जाना अर्थात् इनकी सेवा इस रूप करना, जैसे स्वामीके कार्यमें सेवक प्रतिक्षण जागरूक रहता है, इस तरह इन पूज्य साधनोंके प्रति सेवक की तरह दासता धारण कर लेना, इसका नाम है वात्सल्य । वात्सल्य अङ्गका पालन करने वाले ज्ञानी पुरुष मानो अपना सर्वस्व समर्पण किए हुए रहते हैं और जिस तरह उनके गुण का प्रसार हो, उनका प्रसाद मिले उस तरह सर्वप्रकारसे मन, वचन, कायसे सेवामें तत्पर रहा करते हैं । तो स्वामीकार्यमें सेवककी तरह जो नवदेवताओंके प्रति दासपना अंगीकार करता है उसका वात्सल्य अङ्ग कहलाता है ।

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान् ।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ।।८०८।।

धर्मवत्सल पुरुषकी चतुर्विधसंघपर आने वाले उपसर्गोंके दूर करनेमें तत्परता—उक्त श्लोकमें वात्सल्यके स्वरूपमें कहा गया है कि इन सभी पूज्य पुरुप और साधनोंके प्रति दासत्व होना वात्सल्य है । अब इस श्लोकमें कह रहे हैं कि उन पूज्य पुरुपोंमें किसी भी पुरुपपर यदि घोर उपसर्ग आये तो उसको दूर करनेके लिए सम्यग्दृष्टि पुरुप सदा तत्पर रहता है । दासता अथवा वात्सल्य निश्छल प्रीतिका प्रभाव ही यह है कि उन पूज्य पुरुषोंपर कोई उपसर्ग आये तो उसका निवारण करनेके लिए तन, धन, वचन आदि सर्वस्व न्यौछावर करनेके लिए हाजिर रहते हैं । तो जैसे कोई पुरुप चतुर्विशति तीर्थङ्करकी पूजा करे अरहंत सिद्ध परमेष्ठीकी पूजा करे अथवा कोई किसी एककी भी पूजा करे तो वह एक समान भक्ति कहलाती है, क्योंकि वह जिसकी पूजा कर रहा है उस पूजाको करते हुएमें सबमें उन गुणोंको निरख रहा है, अथवा उसके संस्कारमें सभी पूज्य हैं, अन्य सब पूजने योग्य नहीं हैं, केवल यह ही पूज्य है जिसकी पूजा की जा रही है, ऐसा भाव हुआ तब तो वह विषमता आयी, किन्तु सबके प्रति जिसका पूज्य भाव है वह पुरुप किसी एककी भी पूजा कर ले तो वह सबकी पूजा कहलाती है । इसी प्रकार···और पूज्य पुरुषोंपर जिसका वात्सल्य है, ऐसा पुरुप किसी एकपर कोई उपसर्ग आये या उसका कोई प्रकरण हो सो वहाँ उसके समस्त संकट टालना, विपत्ति दूर करना सो भी वात्सल्य है ।

यद्वा नह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम् ।
तावद्द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ।।८०९।।

धर्मात्मा पुरुषोंपर आई हुई बाधाके दर्शन व श्रवणकी असहनता—जैसे किसी पुरुषके मन्त्र शस्त्र आदिक किसी भी प्रकारका बल हो तो उस समस्त बलके द्वारा पूज्य जनोंके उपसर्गको दूर करनेमें समर्थ रहता है, लेकिन जिसके पास यन्त्र आदिकका सामर्थ्य भी न हो तो वह उन आदरणीय पुरुषों और साधनोंके प्रति बाधाको सहनेमें समर्थ नहीं होता । यहाँ वात्सल्यकी बात कही जा रही है । वात्सल्यका सम्बन्ध अन्तरङ्गभावनासे है । जिसके हृदयमें वात्सल्य भरा हुआ है वह पुरुष अपनी सामर्थ्यभर पूज्य पुरुषोंकी आपदाओंका निवारण करता है और बाह्यसामर्थ्य न रही हो तो भी वह बाधाको सहन नहीं कर सकता है । ऐसा वात्सल्य भावका उन ज्ञानी विवेकी पुरुषोंपर प्रभाव रहता है ।

यद्द्विधाऽथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात् ।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि ।।८१०।।

स्ववात्सल्य, परवात्सल्य इन दो प्रकारोंके वात्सल्योंमें आत्मवात्सल्यकी प्रधानता—

वात्सल्य अङ्गका स्वरूप कहा गया है कि पूज्य संत महंतोंके प्रति और जैनमन्दिर आदिक धर्मस्थानोंके प्रति सेवकपनेका भाव रहना सो वात्सल्य है। सो यह वात्सल्य दो प्रकारसे होता है—(१) स्ववात्सल्य और (२) परवात्सल्य। इन दोनों प्रकारके वात्सल्योंमें स्ववात्सल्य प्रधान है और परवात्सल्य गौण है। वस्तुस्वरूप वस्तुमें ही प्रतिबद्ध रहता है। प्रत्येक जीवका परिणमन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सर्वस्व स्वमें स्वयंके आत्मामें रहा करता है। इस कारण वस्तुतः कोई किसीसे न प्रेम करता, न द्वेष करता, न कोई किसी दूसरेका सुधार-बिगाड़ करता। फिर भी व्यावहारिकताके नाते उनके किसी भी कार्यमें सहयोगी होना, निमित्त होना, यह भी देखा जाता है। तो वत्सल पुरुष धर्मी जनोंमें, धर्मसाधनोंमें वात्सल्य रखता है, पर वस्तुतः वहाँ भी स्वका ही वात्सल्य कहा गया है, यह समझना चाहिए। जिसको अपने गुणों के प्रति आदर है वही पुरुष दूसरे गुणवान पुरुषको देखकर भक्ति और प्रेमसे उमड़ सकता है। तो जहाँ दूसरेके प्रति निश्छल प्रीति की गई है वहाँ समझना चाहिए कि अपने गुणोंमें ही उसने प्रीति दृढ़ की है। यों सर्वत्र स्ववात्सल्य प्रधान है और परवात्सल्य गौण है।

परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कुत्रचित्।
न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिदम् ॥८११॥

स्वात्मवात्सल्यमें परीषहोपसर्गादिसे पीड़ित हुए भी आत्माको शुभाचार, ज्ञान व ध्यानमें शिथिलता न होनेकी विधि—इस श्लोकमें आत्मवात्सल्यका वर्णन किया गया है। परीषह और उपसर्ग आदिकसे कदाचित् पीड़ित हो जाय कोई ज्ञानी पुरुष तो वह अपने सभी आचरणोंमें ज्ञान और ध्यानमें शिथिलता न आने दे, इसका नाम है आत्मवात्सल्य। अपने आत्मासे प्रेम है, इसका अर्थ यह है कि आत्माके गुणविकासमें इसका आदर है और आत्म-गुणविकासके लिए उसे सर्वस्व समर्पण करना पड़े, विषयकषायोंका पूर्णतया परिहार करना पड़े, जो कुछ भी करना हो वह सब कुछ करना भी चाहता है। इसका कारण यह है कि उसे आत्मगुणोंमें सही विकास हुआ है, तब कोई परिग्रह उपसर्ग आदिक कदाचित् आ जायें इस सम्यग्दृष्टिपर तो वहाँ यह यत्न करता है कि मेरा ज्ञाननिधान न जल पाये। कहीं संक्लेश परिणामकी अग्निमें हमारा ज्ञान, ध्यान, संयम दग्ध न हो जाय, ऐसी वह अन्तःसावधानी रखता है और भेदविज्ञान और स्वात्मस्वरूपकी दृष्टि रूप शीतल जलसे सिंचन करता रहता है ताकि ज्ञान ध्यान संयममें शिथिलता भी न आ सके। तो परीषह और उपसर्ग आदिकसे पीड़ित होनेपर अपने श्रेष्ठ आचरणमें शिथिलता न आने दें, उस अन्तरङ्ग आचरणको प्रबल बनायें, ज्ञानमें भी शिथिलता न आने दें, ज्ञानज्योतिकी दृष्टि रखनेका पौरुष बनाये रहें और ध्यानमें कुछ शिथिलता न आने दें, इस ज्ञायकस्वरूप परमात्मतत्त्वका चिन्तन बनाये रहें, सो यह स्वात्मवात्सल्य कहलाता है।

इतरत्प्रागिह ख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम् ।
शुद्धज्ञानबलादेव यतो बाधापकर्षणम् ।।८१२।।

परवात्सल्यमें शुद्ध ज्ञानबलसे बाधापकर्षणकी विधि—दूसरे वात्सल्यका नाम है परवात्सल्य । दूसरे आत्माके सम्बंधमें वात्सल्य करना, यह गौणरूपसे कहा गया है । और वस्तुतः जो अपने आत्मापर वात्सल्यभाव नहीं रखता वह सही मायनेमें दूसरे धर्मात्मा पुरुषोंके प्रति भी वात्सल्य नहीं कर सकता । तो सम्यग्दृष्टि पुरुषका परवात्सल्य गौण गुण है और इस तरहका निर्णय किसी पुरुषपर कोई बाधा आये तो बाधा क्या आयी कि ज्ञानगुण शुद्ध रूपमें न रह सका और वह बिगड़ गया । जिससे संक्लेश हुआ, यही तो बाधा है । इस बाधाको निश्चयतः दूर करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? भले ही अन्य धर्मात्मा जन कुछ उपदेश दें तिसपर भी करना तो इसको स्वयं ही होगा । तो शुद्ध ज्ञानके बलसे अपनी बाधा दूर की जा सकती है, इस कारणसे स्ववात्सल्य ही प्रधान है । यों आत्मीय शुद्धिका परिणाम करना, आत्मशुद्धिको बढ़ाना, उसमें आदर रखना, यह सब स्ववात्सल्य कहलाता है ।

प्रभावनाङ्गसंज्ञोऽस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै ।
उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ।।८१३।।

उत्कर्षकरणरूप प्रभावनाङ्ग नामक सुदृष्टि गुणका निर्देश—वात्सल्य अङ्गका वर्णन करनेके पश्चात् प्रभावना अङ्गका स्वरूप कहा जा रहा है । सम्यग्दृष्टि जीवका प्रभावना अङ्ग भी प्रसिद्ध गुण है । प्रभावना शब्दका अर्थ क्या है ? भवन मायने होना, हुआना, प्र मायने प्रकृष्ट रूपसे अर्थात् उत्तम कामके होनेको प्रकृष्ट रूपसे हुआना, इस प्रकारका जिसमें भाव बना हुआ है उसको प्रभावना अङ्ग कहते हैं । प्रभावना अङ्गमें उत्कर्षकी प्रधानता है । धार्मिक क्रियावोंमें उन्नति करना जिससे कि स्वयंपर भी प्रभाव हो और दूसरे लोगोंपर भी प्रभाव हो उसे कहते हैं प्रभावना अङ्ग । जैसे बाह्य प्रभावनामें यही तो बात बनती है कि अन्य लोग निरख करके यह शिक्षा ग्रहण करें कि आत्माका उद्धार कर सकने वाला यह जैनशासन है, स्याद्वाद नीति है और ऐसा जानकर वह स्वयं अपने आपकी प्रभावना कर सके । बाह्य प्रभावनाका भी अर्थ यही है कि लोग अपनी प्रभावना बना सकें । तो प्रभावनामें आत्मकार्यके उत्कर्षकी प्रधानता है । सो यह प्रभावना अङ्ग भी सम्यग्दृष्टिका प्रसिद्ध गुण है ।

अथातद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्य मनागपि ।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोषणात् ।।८१४।।

प्रभावनाङ्गमें अधर्मोत्कर्षका प्रतिषेध व धर्मोत्कर्षका विधान—धर्मकार्यका उत्कर्ष करना ही प्रभावना है । पापरूप अधर्ममें किञ्चित मात्र भी उत्साह और चिन्तन न रखना चाहिए, क्योंकि अधर्मका उत्कर्ष बढ़ानेसे धर्मके पक्षकी हानि होती है, और हिंसारूप अधर्मका

उत्कर्ष होगा, वहाँ धर्म नहीं ठहर सकता। धर्म नाम है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रका। जिस प्रकार सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्रका उत्कर्ष हो और दूसरे लोग भी अपने सम्यक्त्व गुण, चारित्रके उत्कर्षके लिए यत्न कर सकें उसको प्रभावना अङ्ग कहते हैं। सो प्रभावनामें रत्नत्रयरूप धर्मकी उन्नति ही अभीष्ट है। अधर्मकार्यमें उत्कर्ष तो क्या, चित्तमें विचार भी न लाना चाहिए, ऐसे विशुद्ध अभिप्राय वाले सम्यग्दृष्टि जीवके प्रभावना अङ्ग होता है।

पूर्ववत्सोपि द्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः।
तत्राद्यो वरमादेयः स्यादादेयः परोप्यतः ॥८१५॥

स्वात्मप्रभावना व परात्मप्रभावना इन दो प्रकारके प्रभावनाङ्गोंमें स्वात्मप्रभावनाकी मूल आदेयता—जैसे वात्सल्यके दो भेद किए गए हैं—(१) स्ववात्सल्य और (२) पर-वात्सल्य। स्थितिकरणके भी दो प्रकार बताये गए है—(१) स्वस्थितिकरण और (२) पर-स्थितिकरण, इसी प्रकार प्रभावना अङ्गके भी दो प्रकार होते हैं—(१) स्वात्मप्रभावना, (२) परात्मप्रभावना। अपने आत्माके गुणोंका उत्कृष्ट रूपसे हुआना और अपने आपमें आत्मगुणके विकासका प्रभाव प्राप्त करना सो तो स्वात्मप्रभावना है और निर्मल दर्शन, ज्ञान चारित्र निर-खकर दूसरे जीवका दर्शन, ज्ञान, चारित्रके प्रति प्रीति उत्पन्न करे और इस रत्नत्रयरूप धर्ममें आदरबुद्धि बनाये सो यह कहलाता है परप्रभावना। प्रभावना अङ्ग ज्ञानोत्कर्षसे सम्बंध रखता है। जिस किसी भी प्रकार अज्ञानरूप अंधकारको दूर करके यथायोग्य जैनशासनके माहात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना अङ्ग कहलाता है। प्रभावनामें मूल कार्य अज्ञानविनाश है। खुदके भी अज्ञान मोह रागद्वेपका विनाश हो जिसके प्रतापसे आत्मगुण स्वयंमें प्रकृष्टरूपसे बढ़ते चलें, और दूसरे पुरुष भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके लाभके लिए अपना उत्साह बनायें और यह समझ सकें कि वास्तवमें आत्माके विशुद्ध स्वरूपका श्रद्धान होना और ज्ञान होना और उस ही विशुद्ध आत्मस्वरूपमें रमण बने तो इससे ही धर्म और दृष्टि प्रकट होती है, इसके विप-रीत कोई धर्मका स्वरूप नही है। तो अपने आपके स्वात्मामें रत्नत्रय गुणका उत्कर्ष होने देना सो स्वात्मप्रभावना है और स्वात्मप्रभावनाके बलसे जो अन्य जीवोंके हृदयमें भी दर्शन, ज्ञान, चारित्रके प्रति आदरभाव जगता है और उनको भी दर्शन, ज्ञान, चारित्रका लाभ होता है सो यह कहलाता है परप्रभावना, अर्थात् आत्महितकारक जैनशासनके उपदेशका, वस्तुके सही स्व-रूपका सर्वजीवोंको बोध हो, जिससे वे अपने अज्ञान, भूलसे पाने वाले कष्टोंको समाप्त कर सकें और ज्ञानप्रकाशमें रहकर शुद्ध तृप्त विशुद्ध आनन्दमय हो सकें, ऐसी स्थिति बनानेका नाम प्रभावना है। यदि यह स्थिति अपने आपमें बनती है तो इसका नाम है स्वात्मप्रभावना और स्वात्मप्रभावनाके निमित्तसे यदि परजीवोंमें यह स्थिति बनती है, उनके गुणोंमें उत्कर्षका यत्न

होता है तो यह कहलाता है परप्रभावना।

उत्कर्षो यद्बलाद्विक्यादधिकीकरण वृषे।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोपाय तत्क्वचित् ॥८१६॥

आत्मगुणोत्कर्षक प्रभावनाङ्गकी गुणोत्पादकता—प्रभावना अङ्गमें बताया गया है कि आत्मगुणोंका उत्कर्ष करना सो आत्मप्रभावना है। ऐसे उत्कर्षका अर्थ इस श्लोकमें किया गया है। विपक्षके न रहते सनते जो बलपूर्वक, वेगपूर्वक अपने धर्मकी वृद्धि करना, इसका नाम उत्कर्ष है। विपक्ष है मिथ्यात्व, रागादिक भाव। वह रहे नहीं और आत्माका धर्म है ज्ञानस्वभावकी प्रतीति लेना, ज्ञाता मात्र स्थितिमें रहना। तो इस प्रकारके धर्ममें जो वेगपूर्वक आगे बढ़ना है अर्थात् रागद्वेपरहित होकर केवल ज्ञाताद्रष्टा मात्र रहना है वही आत्माका उत्कर्प है। लौकिक जन वैभव संचयमें, परिजन, मित्रजनके उत्कर्पमें अपना उत्कर्प समझते हैं। यह मूढ़ताभरा उनका ध्यान है। किसी भी बाह्यपदार्थमें कुछ परिणति हो जानेसे आत्माका कोई उत्कर्ष नहीं कहलाता है। आत्मोत्कर्ष तो आत्मगुणोंके विकासमें ही है। शान्तिका मार्ग भी आत्मगुणोत्कर्पसे है। कहीं लाखों करोड़ोंका वैभव इकट्ठा हो जाय इससे आत्मशान्ति प्रकट नहीं होती। वह तो पौद्गलिक चीज है। उसका परिणमन उसमें है। यहाँ शान्ति कैसे प्रकट होगी? और यदि कुछ निमित्त है वह अर्थात् आश्रयभूत बनता है वैभव तो वह अशान्तिका ही आश्रय बनता है, क्योंकि वैभवकी ओर दृष्टि रहनेमें राग होगा अथवा कदाचित् किसी अन्य वैभवको देखकर द्वेष होगा तो उसमें आत्माको क्लेश संक्लेश ही होता है। तो बाहरी पदार्थके किसी भी प्रकारकी परिस्थितिसे आत्माको शान्तिलाभ नहीं है, किन्तु अपने आपमें मलिनता न रहे और गुणोंका विकास बने, यही शान्तिका उपाय है। इस कारण इस शान्तिके उपायभूत धर्ममें उत्कर्ष होना सो वास्तविक उत्कर्प कहलाता है। प्रभावना अङ्गमें आत्मगुणोंके प्रकृष्टरूपसे हुआनेकी बात कही जा रही है। ऐसा यह प्रभावना अङ्ग कहीं भी दोषके लिए नहीं है, किन्तु गुणोंके उत्कर्षके लिए ही है। अर्थात् प्रभावना अंग होनेसे सम्यग्दृष्टि जीवका कल्याण ही है। अकल्याण रंच भी नहीं है।

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः।
जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥८१७॥

आत्मप्रभावनाके उत्तरोत्तर उत्कर्षका निर्देश—इस श्लोकमें आत्मप्रभावनाका स्पष्ट निरूपण किया गया है। मोहरूपी शत्रुका नाश हो जानेसे जो आत्मशुद्धि होती है वह आत्माकी प्रभावना है, और इस प्रभावनामें वह सम्यग्दृष्टि बढ़ता है तो वह और अधिक शुद्ध होता है, और यहाँ भी बढ़ता है तो उससे भी अधिक शुद्ध होता है। इस तरह कोई जीव शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम हो जाता है तो यही उसकी प्रभावना कहलाती है। मोहके दो भेद हैं—

(१) दर्शनमोह, (२) चारित्रमोह । सर्वप्रथम दर्शनमोहकी क्षति होती है, पहिले उपशम रूपसे क्षति होती है, पश्चात् क्षयोपशम रूपसे मोहकी क्षति होती है । इसके पश्चात् दर्शनमोहका सर्वथा क्षय हो जाता है और इस स्थितिमें यह जीव शुद्ध ज्ञानदृष्टि वाला हो जाता है, उसे कहते हैं जीवका शुद्ध हो जाना । जहाँ विपरीत अभिप्राय नष्ट हो जाता है वहाँ जीवकी शुद्धि का प्रारंभ होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन होनेपर यह जीव शुद्ध हुआ कहलाता है । इसके पश्चात् जब चारित्रमोहनीय कर्मका क्षयोपशम बढ़ता है तो चारित्रमोहके अनुदयमें यह जीव विशिष्ट शुद्ध होता है । शुद्धतर उसे कहते हैं जहाँ अन्यकी अपेक्षासे अधिक शुद्धता प्रकट होती है । तो शुद्धतरके अनेक भेद होते हैं । जीव शुद्ध हुआ, इसका अर्थ है कि सम्यग्दृष्टि हुआ । वह भी अनेक प्रकार हुआ, पर वह सम्यक्त्वकी दृष्टिसे एक ही प्रकार है । वहाँ उपशम और क्षयसे होने वाला सम्यक्त्व तो एक ही प्रकारका है, पर क्षयोपशम सम्यक्त्वमें कुछ मलिनताकी विविधता होनेसे अनेक प्रकारता आती है, फिर भी विपरीत अभिप्राय रहितपनेकी दृष्टिसे वह एक ही प्रकारका है, पर शुद्धिसे आगे जब शुद्धतर होनेमें बढ़ता है तो वहाँ चारित्रमोहनीयके नाना क्षयोपशम होनेके कारण विविध शुद्धतायें होती हैं । जैसे ११ प्रतिमारूपसे परिणामोंकी शुद्धि होना, उससे आगे बढ़कर शुद्धिधर्मके रूपसे नाना शुद्धियाँ होतीं । वहाँ भी संज्वलन कषायके नाना विपाक होनेसे नाना तरहकी आत्मशुद्धियाँ होती हैं, किन्तु जहाँ संज्वलनकषाय का भी क्षय हो जाता है अर्थात् दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय आदिक सभी मोहनीयका पूर्ण विनाश हो जाता है, उस समय जीवकी शुद्धतम अवस्था कहलाती है । तो आत्मा शुद्ध, शुद्धतर शुद्धतम बन जाय, इसीको आत्मप्रभावना कहते हैं ।

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किन्तु नूनं स्वभावतः ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥८१८॥

गुणश्रेणीमें आत्मगुणोंके अधिकाधिक उत्कर्षकी स्वाभाविकता— उक्त श्लोकमें बताया गया है कि जीव शुद्ध शुद्धतर और शुद्धतम होता है । तो शुद्धतरकी अवस्थायें श्रेणीकी होती हैं और शुद्धतमकी अवस्था श्रेणीके अन्तमें होती है । तो इस प्रकारकी आत्मशुद्धिमें उत्कर्ष होना, यह पौरुषके आधीन नहीं है, अथवा पौरुष भी कहो तो आत्मामें जो शुद्धि बढ़ रही है वही पौरुष है । बुद्धिपूर्वक स्वाध्याय आदिककी प्रवृत्तियाँ करके वह पौरुष नहीं बनता है जिसके द्वारा इतना महान उत्कर्ष हुआ करता है । तो शुद्धतर और शुद्धतम वाला उत्कर्ष आत्माके पौरुषके आधीन नहीं, किन्तु स्वभावसे ही होता है । जिन संतोंकी दृष्टिमें यह सहज ज्ञायकस्वरूप आत्मा समाया हुआ है तो इस सहज ज्ञायकस्वरूप आत्माकी अनुभूतिरूपी सुधा के पानसे स्वभावतः ऐसी शुद्धि और उत्कर्ष बढ़ता रहता है तो उत्तरोत्तर यह जो शुद्धि बढ़ती है वह श्रेणीके क्रमसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती रहनेसे यह शुद्धि सिद्ध होती है । असंख्यात

गुणी निर्जरा पहिले तो शुद्ध होते समय हुई थी, सम्यक्त्व होनेके समय जीवके असंख्यातगुणी श्रेणी कर्मनिर्जरा होती है, अर्थात् जितने कर्म पहिले समयमें खिर रहे हैं उससे असंख्यातगुने दूसरे समयमें खिरते हैं। इस प्रकार अंतर्मुहूर्त तक गुण श्रेणी निर्जरा होती है। इसके पश्चात् जब-जब विशिष्ट उत्कर्ष होता है तब तब यह असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। ऐसे मौके अनेक बार होते हैं, जैसे क्षायक सम्यक्त्व होते समय अनन्तानुवंधीके विसंयोजनके समयमें असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा चलती है। पश्चात् दर्शनमोहनीयके क्षयके लिए असंख्यातगुणी निर्जरा चलती है। इसके पश्चात् महाव्रत धारण करते समय और इसके बाद चारित्रके उत्कर्ष होते समय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। इस तरह इन अनेकों प्रसंगोंमें गुण श्रेणी निर्जरा होनेसे यह आत्माका उत्कर्ष स्वभावत: सिद्ध हो जाता है।

बाह्यः प्रभावनाङ्गोस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥८१६॥

विद्या, मन्त्र, तप, दान आदि द्वारा बाह्य प्रभावनाकी विधेयताका कथन—स्वात्मप्रभावनाका वर्णन करके अब परप्रभावनाके प्रसंगमें बाह्य प्रभावनाकी बात कही जा रही है। विद्या मंत्र आदिक बलोंके द्वारा बाह्य प्रभावना अङ्ग हुआ करते हैं। अन्य साधारण जन समूह भी कुछ चमत्कारोंको निरखकर यह श्रद्धान करने लगेंगे कि जैनशासनमें अद्भुत सामर्थ्य है। तो इतना ही समझकर साधारण जनसमूह इस पवित्र जैनशासनकी ओर अपनी बुद्धिके अनुसार आकर्षित होगा और इस तरह थोड़ा बहुत जैनधर्मकी ओर आकर्षण होनेपर जब जैन-धर्म सम्बन्धी तपश्चरण आदिक क्रियावोंको समझेंगे तो उनका अधिक आकर्षण होगा, और इस तरह होते-होते जब वास्तविक तत्त्वज्ञानकी बात समझने लगेंगे तो उनका वास्तवमें उद्धार हो जायगा। तो आत्मोद्धारके लिए ही बाह्य प्रभावना कही गई है। दूसरा जीव जिस किसी प्रकार अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी ओर बढ़े इस लक्ष्यसे ही बाह्यप्रभावना होती है। तो विद्याके बलसे, मंत्र आदिकके बलसे, तपश्चरणसे दान आदिक उत्तम कार्योंसे जैनशासनका उत्कर्ष बढ़ाना चाहिए। जैनशासनके द्वारा जीवका कितना अलौकिक उपकार होता है? इसका वर्णन करनेके लिए कोई शब्द नहीं है कि जो यथार्थ महिमा बतायी जा सके। भला अनादि-कालसे रुलते हुए इस जीवको कोई ऐसा प्रकाश मिले जिस प्रकाशमें आकर यह सदाके लिए इस संसार-विडम्बनाको छोड़ दे। इस संसारविडम्बनासे मुक्ति पा ले, ऐसा उपाय मिले उससे बढ़कर उपकार क्या कहा जा सकता हैं। ऐसा महान उपकार जैनशासनके द्वारा सम्भव है। तब ऐसे उपकारी जैनशासनकी जिस किसी भी प्रकार हो प्रभावना करना, यह महापुरुषोंका कर्तव्य है। तो आत्मोत्कर्षमें बताया गया था कि अपने आपमें अपने गुणोंका उत्कर्ष करना आत्मप्रभावना है। तो जिस आत्मप्रभावनासे स्वयंके आत्माका कल्याण होता है, इस प्रकार

का कल्याण अन्य जीव भी प्राप्त कर लें, एतदर्थ जो कुछ बाह्य प्रभावना होती है वह भी प्रभावना अंग कहलाता है। तो वह प्रभावना होती है विद्याके बलसे। लौकिक जन अंगोके ऐसे-ऐसे विद्यावान जैनशासनके अनुयायी होते हैं। मंत्र आदिकके बलसे लोग समझेंगे कि जैनशासनके अनुयायी ऐसे मांत्रिक होते हैं कि जिनका अद्‌भुत चमत्कार है अथवा जैनशासनके अनुयायियोंके तपश्चरण निरखकर अन्य लोग यह समझें कि धन्य है इनका अलौकिक आचरण जो कि अज्ञानी जनोंसे न किया जा सके, कैसा विशिष्ट तपश्चरण है ? तपश्चरणको देखकर भी जनसमूह प्रभावित हो जाय और आहारदान, औषधिदान, अभयदान और ज्ञानदानके उत्कर्षको देखकर भी लौकिक जन जैनशासनके अनुयायी, निर्मोह और परोपकारी हुआ करते हैं। तो इन विधियोंसे जैनशासनकी प्रभावना करना चाहिये।

परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम् ।
चमत्कारकरं किञ्चित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥८२०॥

मिथ्यात्वोत्कर्षशालीपर मान्त्रिकादिकोंके अपकर्षके लिये चमत्कारोंकी विधेयता—महान आत्माओंका प्रधान कर्तव्य क्या है ? इसका वर्णन आत्मप्रभावनाके प्रसङ्गमें किया गया था। अब यहाँ यह बता रहे हैं कि महान पुरुष जब निर्विकल्पसमाधिमें नहीं होते, आत्माकी उत्कृष्ट उत्कर्षकी गतिविधिमें नहीं होते उस समय उनका यह भी कर्तव्य है कि ऐसा चमत्कार करने वाले प्रयोग करें, जिससे मिथ्यात्वक्रियाके बढ़ानेमें जो लोग लगे हुए हैं उन पुरुषोंका अपकर्ष हो अर्थात् जनसमूह यह जान जाय कि इस मिथ्यात्वभावमें लगे हुए पुरुषोंमें कोई बल नहीं है, इनकी हीनता समझमें आ जाय, यह भी बाह्यप्रभावनाका एक अङ्ग है। इससे लाभ यह होगा कि जनसमूहमें मिथ्या विडम्बनाके प्रति आकर्षण न होगा। जब ज्ञानी पुरुषोंकी ओर जनसमूहका चित्त आकर्षित होगा, ये चमत्कारवान हैं, ऋद्धि सिद्धि सम्पन्न हैं, इनमें सर्व सामर्थ्य पाया जा रहा है, ऐसा परिचय करके जब ज्ञानी पुरुषोंकी ओर उनका आना होगा तो वे आत्मोत्कर्षके साधनभूत रत्नत्रयका लाभ भी आसानीसे प्राप्त कर लेंगे। इस कारण महान आत्माओंको ऐसे चमत्कार भी कुछ करना चाहिए, जिन चमत्कारोंको मिथ्या क्रियावोंमें बढ़ते हुए पुरुषोंका अपकर्ष सिद्ध हो। यह भी बाह्यप्रभावना अङ्गका एक रूप है जिससे जैनशासनकी महत्ता बढ़े और मिथ्या शासनकी हीनता सिद्ध हो, ऐसा चमत्कार करना भी बाह्यप्रभावना अङ्गमें कर्तव्य बताया गया है।

उक्तः प्रभावनाङ्गोपि गुणः सद्दर्शनान्वितः ।
येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥८२१॥

प्रभावनाङ्गसे सम्यग्दर्शनके गुणाष्टककी सम्पूर्णता—यहाँ अन्तिम अष्टम प्रभावना अङ्गका वर्णन किया गया है, सो यह प्रभावना अङ्ग नामक कोई सम्यग्दर्शनसे सहित है। इस

प्रभावनामें सम्यग्दर्शन अवश्यंभावी है, अथवा जो सम्यग्दृष्टि पुरुष है उसके द्वारा ही ऐसी उत्तम प्रभावना बन सकती है। सो इस प्रभावना अङ्गके कारण सम्यग्दर्शनके ८ गुण संपूर्णताको प्राप्त होते हैं। प्रकरण अनुसार इसका भाव यह है कि प्रभावना अंगका वर्णन जहाँ संपूर्ण होता है वहाँ सम्यग्दर्शनके ८ गुणोंका वर्णन सम्पूर्ण हो सकता है। यह तो एक क्रमको सिद्ध करने वाला भावार्थ है। साथ ही यहाँ आध्यात्मिक अर्थ भी देखिये कि जहाँ प्रभावना अङ्ग सम्पूर्णताको प्राप्त होता है वहाँ सभी गुण सम्पूर्णताको प्राप्त हो जाते हैं। प्रभावना अंगमें आत्मप्रभावनाका प्रधानतया कथन किया गया है और कर्तव्य भी आत्मप्रभावनाका प्रधानतया बताया गया है। तो जहाँ आत्माकी शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम अवस्था प्रकट हो जाती है वहाँ समझिये कि सम्यग्दर्शन पानेका जो उत्कृष्ट फल है वह फल प्राप्त हो गया। तब ऐसी स्थितिमें सम्यग्दर्शनके वास्तविक आठों ही गुण पूर्णताको प्राप्त हो जाते हैं। सम्पूर्णताको प्राप्त हुए कहो या समाप्त कहो, वास्तवमें दोनोंका अर्थ एक ही है। सम्पूर्णका अर्थ है भली प्रकार पूरा हो चुके और समाप्तका अर्थ है भलो प्रकार, आप्त, प्राप्ति अर्थात् लाभ हो चुका है, पर लोकरूढ़िमें समाप्तका अर्थ अभाव करने लगे है। सो उसका कारण यह हुआ कि जब पाने योग्य चीजकी प्राप्ति हो जाती है तो उस लाभके आगे अब कुछ करनेको शेष नहीं रहता, पानेको शेष नहीं रहता, तो पूर्ण प्राप्तिके मायने ही यह हैं कि आगे अब कुछ अलाभ न रहा, अभाव न रहा अर्थात् करने योग्य अब नहीं रहा। उस स्थितिको निरखकर पहिले तो कुछ समय तक यही दृष्टि रही, बादमें लोग भूल गए कि समाप्ति कहते हैं पूर्ण प्राप्तिको। तो पूर्ण प्राप्तिका भाव तो हट गया और आगेका जो भाव है सो अभाव अभाव ही भावमें रह गया, तब लोग अर्थ करने लगे समाप्तिका विनाश, लेकिन समाप्ति, सम्पूर्णता, ये भरे-पूरे लाभको कहते हैं। तो प्रभावना अङ्गका वर्णन सम्पूर्ण होनेके साथ ही ८ अङ्गोंका वर्णन यहाँ सम्पूर्ण हो रहा है।

इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सद्दृगात्मनः।
अलं चिन्तनया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम् ॥८२२॥

सम्यग्दृष्टिके अनेक गुणोंके निर्देशका उपसंहार तथा मौलिक विशिष्ट गुणके वर्णनका संकल्प—इस प्रकरणमें सम्यग्दृष्टिके ८ अङ्गोंका वर्णन किया गया है। सो यह संक्षेपमें प्रधान गुणोंका वर्णन है, पर ऐसे-ऐसे अनेक गुण सम्यग्दृष्टिमें पाये जाते है। उनका पृथक्-पृथक् विचार करनेपर तो बहुत ग्रंथ विस्तृत हो जायगा, फिर भी जो कुछ इस प्रसङ्गमें और विवक्षित है उस विवक्षित विषयका वर्णन किया जायगा। सम्यक्त्वमें क्या-क्या गुण प्रकट होते हैं? सो प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, निन्दन, गर्हन आदिक अनेक गुण बताये गए थे। उन गुणोंमें यह बात प्रसिद्ध हो गयी थी कि ये गुण तो सम्यक्त्वके साथ भी सम्भव हैं,

और कदाचित् विशुद्धिवान मिथ्यादृष्टिके साथ भी सम्भव हैं, पर स्वानुभूति नामक एक गुण ऐसा है कि जो सम्यग्दर्शनके साथ ही प्रकट हो सकता है। उस स्वानुभूतिसे सहित प्रशम आदिक गुण हों तो ये गुण कहलाते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शनके कुछ गुणोंका वर्णन करनेके बाद अब सम्यग्दर्शनके अंगभूत गुणोंका वर्णन किया गया। जैसे शरीरके अङ्ग न हों तो शरीर क्या ? इसी प्रकार ये निश्चय ८ अङ्ग न हों तो सम्यग्दर्शन क्या ? ऐसे सम्यग्दर्शनके अङ्गभूत ८ गुणोंका वर्णन किया गया। अब इस वर्णनके साथ ही सम्यग्दर्शनके सभी गुणोंका वर्णन हुआ समझना चाहिए। अब जो कामका कर्तव्य है उसको दिखानेके लिए एक चेतना गुणका सही स्वरूप कहा जायगा। जिस परिचयके बाद ऐसा ज्ञानप्रकाश प्रकट होगा कि जिसका आश्रय करनेसे आत्माका उद्धार होता है।

॥ पञ्चाध्यायी प्रवचन द्वादश भाग समाप्त ॥

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित
"पञ्चाध्यायी प्रवचन" का यह द्वादश भाग सम्पन्न हुआ।

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

॥ शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावाः, प्रापुर्लभन्त अचलं सहजं सुशर्म ।
एकस्वरूपममलं परिणाममूलं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमंत्रं, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूरं, शुद्धं चिदस्मि परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योतिः परं स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्तं, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियतं सततप्रकाशं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्यं, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमंशं, भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्टचाम् ।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्डं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमि, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदितः समाधिः ।
यद्दर्शनात्प्रवहति प्रभुमोक्षमार्गः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्वं स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्पं यः ।
सहजानन्दसुवन्द्यं स्वभवावमनुपर्ययं याति ॥